!! श्री कृष्णाय नमः !!

परम कृपालवे श्री सद्गुरु भगवते नमो नमः

साधक प्राण संजीवनी

(पंचम पुष्प)

(खड़ी बोली हिन्दी में)

सन्त प्रवर पूज्य चरण श्री गयाप्रसादजी महाराज के
साधनानुभूत महा वाक्यों का अलौकिक संग्रह

चलो रे मन ! श्री सद्गुरु के धाम

संकलन एवं लेखन - श्रीकृष्णदास

!! श्री कृष्णाय नमः !!

श्री कृष्णाय नमः

(खड़ी बोली हिन्दी में)

साधक प्राण संजीवनी प्रथम पुष्प

पूज्य श्री के साधनानुभूत महा महावाक्यों का संग्रह

संकलन,लेखन एवं प्रकाशनः— श्रीकृष्णदास (श्रीकिशन बाबा)

प्रथम संस्करण ब्रजभाषा :— सन् 1996

द्वितीय संस्करण ब्रजभाषाः— सन् 1998

तृतीय संस्करण ब्रजभाषाः— सन् 2001

चतुर्थ संस्करण खड़ी बोलीः— सन् 2003

न्यौछावरः— पूर्ण निर्विकार चित्त से अपने प्रियतम के श्रीचरणों पर निरन्तर विरह के आँसुओं की वर्षात्।

प्राप्ति स्थान

साधक प्राण संचार स्थली,
परम पूज्य सन्त श्रीगयाप्रसाद जी महाराज का समाधि स्थल,
आन्यौर परिक्रमा मार्ग श्रीधाम गोवर्द्धन, (मथुरा) उ0 प्र0।

!! श्री कृष्णाय नमः !!

श्रीकृष्णाय नमः

परम श्रद्धेय, पूज्यपाद, श्रीपण्डितजी महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

आविर्भावः— सम्बत् 1950, कार्तिक शुक्ला छट, तारीख 15/11/1893, दिन बुधवार का अन्तिम चरण, श्रीगुरुवार की प्रभात वेला समय 5 बजे, उषा काल, श्रवण नक्षत्र का प्रथम चरण,ग्राम कल्याणीपुर, तहसील एवं जिला फतेहपुर, उत्तर प्रदेश।

तिरोभावः— सम्वत् 2051, भाद्र कृष्णा चतुर्थी, 25 अगस्त सन् 1994, दिन श्रीगुरुवार, समय प्रातः (7 बजकर 40 मिनट पर)।

श्रीसद्गुरुदेवः— परम श्रद्धेय पूज्यपाद श्रीउडियाबाबाजी महाराज।

आविर्भावः— सं0 1932 भाद्र कृष्णा सप्तमी ठीक मध्यान्ह काल सन् 1875।
तिरोभावः— सम्वत् 2005 चैत्र कृष्णा चतुर्दशी मंगलवार सन् 1948।

पितामहः— पं0 श्रीशिवलोचन प्रसादजी मिश्र।

पिताः— पं0 श्रीरामाधीनजी मिश्र।

माताः— श्रीमती कौशल्या देवी।

ग्रहस्थ जीवनः— 46 वर्ष लगभग।

गृह त्याग दिवसः—सन् 1939 (अधिक मास श्रावण शुक्ला एकादशी)

विरक्त जीवनः— 55 वर्ष 9 दिन।

कुल आयुः— 100वर्ष 9 माह 13 दिन अर्थात् (लगभग 101 वर्ष)।

!! श्री कृष्णाय नमः !!

चेतावनी!

मेरा कोई भी भाई इस ग्रन्थ को अपने मनमाने ढंग से प्रकाशित कराके अपने व्यवसाय का केन्द्र बिन्दु बनाने की कुचेष्टा न करे। कारण कि, हमारे महापुरुषों की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सदैव से सृष्टि के प्राणी मात्र को निःशुल्क ही प्राप्त होती आई हैं। इसीलिए कोई भी भाई अपने परम श्रद्धेय श्री की इस दुर्लभतम आध्यात्मिक सम्पत्ति को अपने व्यवसाय का लक्ष्य बिन्दु न बनावे। हाँ, इतना अधिकार तो सबको है कि, यदि आपको प्रभु कृपा से पर्याप्त धन प्राप्त हुआ हो और साथ ही सेवा भाव एवं श्रद्धा और प्राप्त हुये हों तो अपनी ओर से यथा सामर्थ्य ग्रन्थ प्रकाशित कराके साधक भक्त समाज में प्रसाद स्वरूप निःशुल्क वितरण अवश्य ही करा सकते हैं, वह भी प्रथम लेखक की परामर्श लेकर ही,, स्वतंत्र रूप से नहीं। क्योंकि मेरे जीवनसर्वस्व की यह अमूल्य सम्पदा प्राणी मात्र के हृदय को मात्र स्पर्श ही करने वाली नहीं है, अपितु जन जन के मानस में अपना घर बनाकर बैठने वाली है। इसी कारण इसको "केवल और केवल" भगवत्प्राप्ति का आधार बऩाकर अपने आत्म कल्याण के काम में ही लेंगें, संसार बढ़ाने में नहीं,ऐसी मेरी पूरी आशा है, साथ ही सभी के श्री चरणों में प्रार्थना भी। इसके बावजूद भी यदि कोई भाई मेरी प्रार्थना की उपेक्षा करके इसका दुर्पयोग करता है, तो मेरी समझ में उसके द्वारा अपने परम सन्त पूज्य श्री बाबा महाराज का इससे बड़ा और कोई अपमान नहीं हो सकता। कारण कि, उनके जीवन में कहीं होकर भी अनर्थकारी अर्थ का प्रवेश ही नहीं था। इस साहित्य में जो अच्छाई हैं वे सभी आपके पूज्य श्री बाबा महाराज की ही हैं और जो भी त्रुटियाँ रह गई हैं वे सभी मुझ अज्ञानी की ही समझते हुए उनकी ओर ध्यान न देकर भीतर से ध्वनित होने वाले भावों का ही रस लेलें।

समर्पण

मेरे जीवन प्राणधन के परम लाढ़िले साधक भाईओ! आप सभी के श्रीचरण कमलों में नित्य के कोटिशः प्रणाम करते हुए अपने प्राणाधार, परम श्रद्धेय श्री के वाङ्गमय स्वरूप को उन्हीं की कृपापूर्ण प्रेरणा से आपके सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ। उनके हृदयोद्गार जब–जब अपने निकटस्थ जनों के ऊपर प्राण संजीवनी के रूप में बरषते रहे, तब तब ही उनको अपने–अपने ढंग से सभी संकलित करने का प्रयास करते रहे। जो जितनी बार पढ़े और सुने जाते हैं, उतनी बार ही नित्य नवीन से प्रतीत होते हैं। साथ ही हम सभी साधकों में आध्यात्मिक प्राण चेतना का संचार करने के लिए प्राण संजीवनी जैसे सिद्ध हो रहे हैं। इसी कारण इस संकलित सामिग्री को "साधक प्राण संजीवनी"नाम प्रदान किया गया है। इसमें 95 प्रतिशत वाक्य अपने परम श्रद्धेय श्री के हस्तलिखित और 5 प्रतिशत उनके द्वारा उच्चारण किये हुए ही संकलित किये गये हैं। यदि कोई वाक्य आपको ऐसा लगता हो कि, यह अपने हृदयधन का नहीं हैं,किसी अन्य महापुरुष का है, तो उसको इनका संस्तुत्य मानकर ही स्वीकार करलें। क्यौंकि इनके स्वर्णिम हस्ताक्षरों में ऐसे कुछ महावाक्य लिखे पाये गये हैं, जो साधक के बड़े ही काम के हैं तथा जो हैं अन्य सन्तों के ही। नीचे उक्त पूज्य श्रीमहापुरुष का नाम भी लिखा पाया गया है। हमें तो इनके हस्ताक्षरों में लिखे मिले हैं इस

कारण इनके ही मानकर संकलित कर लिये हैं, क्योंकि साधक के बहुत ही काम के हैं।

इनके ये संकलित हृदयोद्गार अधिकतर श्रद्धा, सदाचार, साधन, निष्कामता, आत्मीयता, संयम, निष्प्रापंचिकता, पवित्रतम्–जीवन, स्वभाव, वृत्ति, आचरण, आहार, व्यवहार और रहनी परक हैं। अर्थात् साधक का कैसा स्वरूप होना चाहिए ? इस ग्रन्थ में पूर्णरूप से निर्दिष्ट है। अब इन संकलित हृदयोद्गारों को उपर्युक्त शीर्षकों के आधर पर विभाजित करके लिखने में इनकी सूत्रात्मक माला के मोती बिखरने का पूरा–पूरा भय था, इसी कारण जैसे–जैसे जिस–जिस क्रम से इन्होंने लिखे अथवा बोले थे, यथावत ही संकलित कर लिये गये हैं, जो आपके सम्मुख उपस्थित हैं। अब यदि मेरे संकलन करने में कोई वाक्य अथवा शब्द अपभ्रंश हो गया हो, जो आपके प्राणप्यारे श्रीबाबा महाराज के स्वरूप के अनुरूप नहीं लग रहा हो, तो उसको सुधार करने का आप सभी को पूरा–पूरा अधिकार है। यदि उस भूल को मुझे भी अवगत कराने की कृपा करेंगे, तो मुझे बहुत ही सुख मिलेगा, और मैं अबोध बालक आप सबका विशेष विशेष आभारी रहुँगा जी। इनके पठन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से साधक जगत को पूर्णरूप से अपने श्रीजीवनधन प्रभु से मिलने में पूरी सहायता मिलेगी और उनकी आध्यात्मिक मंजिल निर्विघ्न तय होगी, ऐसी मुझे पूरी आशा है। इसके पढ़ने, सुनने और आचरण करने से

आपको जो सुख मिले उसके फलस्वरूप आप सभी साधक, सन्त महापुरुष मुझे भी यह आशीर्वाद प्रदान करेंगे कि, मैं भी अपने प्राणाधार परम श्रद्धेय श्री के इन उद्गारों के अनुरूप अपना जीवन जीने में पूर्ण सफल हो जाऊँ। मेरे विषय में मेरे परम श्रद्धेय श्री ने अपने हृदय में जो–जो स्वप्न सजाये थे, वे सब मेरे जीवन में साकार हो जायँ। इस ग्रन्थ में यदि कोई वाक्य बार–बार प्रयोग हो गया हो, तो उसको पुनरावृत्ति दोष से न देखकर, ठीक वैसे ही देखें, जैसे किसी आरोग्य प्रकाश ग्रन्थ में एक ही जड़ी बूटी अनेकों नुस्खों में बार–बार प्रयोग करने के लिए लिखी मिलती है। दूसरी बात गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज के कथनानुसार–

जदपि कही गुरु बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा ।।
भाषा बद्ध करवि मैं सोई।
मोरे मन प्रबोध जेहिं होई ।।

सो तुम सुनव कहव सुखु मानी। की भाँति मानकर प्रेम से स्वीकार करलें। क्यौंकि अब तक यह मन बार बार जन्म–जन्म से वासना ही वासना की उपासना करता आया है। इसी कारण चिन्तन के द्वारा विकारों का आहार करना तथा विकारों की ही शिकार होना, इसका सहज स्वभाव बन गया है। अब यदि हम इसको सन्त महापुरुषों के चरित्र और अमृत बचन बार–बार पढ़ाते,

सुनाते रहेंगे तो, यही जन्म–जन्म का बिगड़ा हुआ मन, सहज ही में सत्य की उपासना करने में जुट पड़ेगा। यह सिद्धान्त है कि, जो बात बार–बार पढ़ी, सुनी, कही, देखी और बिचारी जाती है, वह मन में घर करके बैठ जाती है और हमारा मन उसी के अनुसार क्रिया करने में लग जाता है अर्थात् मन वैसा ही बन जाता है। जैसा हमारा मन होगा, वैसा ही हमारा जीवन भी हो जायेगा। क्यौंकि, मन ही हमारा संचालक है। इसी सिद्धान्त के आधार पर यदि कोंई वाक्य बार–बार लिख गया हो, तो वह इस बिगड़े हुए मन को सुधारने में बड़ा ही हितकर एवं सहायक सिद्ध होगा। आप सब भाई उसको परम हितकर मानकर ही स्वीकार करलें, दोष दृष्टि से नहीं। इस ग्रन्थ में जो कुछ अच्छाई हैं, वे सब आपके प्राणप्यारे श्रीबाबा महाराज की ही हैं और जो त्रुटि रह गई हैं, वे मुझ अबोध, मतिमन्द बालक की ही मानें। इस अमूल्य साधना सामिग्री का लेखन अपने परम पूज्य श्री के ही श्री कर कमलों द्वारा सम्वत् 2011, कार्त्तिक कृष्णा10 वीं0, श्रीगुरुवार, ता0 21 / 10 / 1954, समय प्रातःकाल 6बजे, स्थान शुभ श्रीगिरिराज भगवान् की तरहटी में, भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणजी के मन्दिर में ही प्रारम्भ हुआ था ।

प्रार्थी–

आपके अपने ही प्राण प्यारे बाबा महाराज
का ही अपना एक गोद खिलाड़ी बालक
श्रीकृष्ण दास (किशन बाबा)

साधुता

(1) श्रीसद्गुरुदेव की शरणागति प्राप्त करना साधु का सर्व प्रथम कर्त्तव्य है।

(2) श्रीसद्गुरुदेव में अधिक से अधिक श्रद्धा भाव रखना।

(3) दिन व दिन श्रद्धा को बढ़ाते रहना।

(4) यह देखते रहना कि, श्रद्धा में कमी तो नहीं आ रही है।

(5) अपनी बुद्धिमत्ता का त्याग करके इनकी आज्ञा के अनुसार ही अपनी धारणा बनानीं।

(6) इनकी आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं करना।

(7) समस्त साधन तथा साध्य–प्राप्ति का मूल श्रीगुरुभक्ति ही है।

(8) ऐसे उपाय करते रहना जिससे श्रीगुरुभक्ति बढ़ती ही रहे।

(9) साधन के विषय में जो कुछ समझना हो, यहीं से समझ लेना चाहिये, फिर कुछ जानने की इच्छा ही न रह जाय, जो फिर कहीं अन्यत्र जाकर जिज्ञासा करनी पड़े।

(10) जब तक पूर्णबोध न हो जाय, पूछने में संकोच न करें।

(11) श्रीगुरु में मनुष्य भाव रखना महापाप है।

(12) बिना बिचारे, बिना तर्क किये इनकी सद् आज्ञाओं का पालन करना ही साधु का परम कर्त्तव्य है।

(13) शीघ्राति–शीघ्र साधन सम्बन्धी समस्त बिषयों को समझ लेना उचित है।

(14) पवित्र कार्य, सदाचार–पालन तथा आज्ञा पालन से

परम पूज्य पंडित जी महाराज के प्राण-आधार
श्री और श्री जी

श्रद्धा की पुष्टि होती है।

(15) श्रद्धा सम्पन्न साधक के लिए लोक तथा परलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं।

(16) अपने श्रीसद्गुरु भगवान् में अधिक से अधिक श्रद्धा होना ही उचित है, किन्तु साथ ही यह भी विचार रहे कि, अन्य सन्तों में अवज्ञा बुद्धि न होने पाये।

(17) सभी सन्त महापुरुष श्री भगवत् तुल्य माननीय तथा आदरणीय ही हैं।

(18) जानेहु सन्त अनन्त समाना।

(19) चाहे जिस देश के हों, चाहे जिस जाति के हों, सन्त सभी परम वन्दनीय एवं माननीय हैं।

(20) सभी में उच्च भाव रखे। सभी का सम्मान करे। सभी की सेवा करे। सभी की वाणीयों का अध्ययन करे। सभी के उपदेश सुने। सभी के महाप्रसाद भी ले सकता है (जहाँ इच्छा हो), किन्तु साधन अपने श्रीसद्गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार ही करे। सुने सबकी परन्तु करे वही जो अपने सद्गुरुदेव की आज्ञा हो।

(21) किसी के भी धर्म में तर्क न करे।

(22) सभी मत समस्त बिधि–विधान ठीक हैं, इनमें शंका न उपस्थित करे।

(23) साधु के लिए यही उचित है कि, वह प्राणपण से अपनी बिधि का पालन करे, किन्तु किसी की बिधि की आलोचना न करे।

(24) अपनी बिधि को बड़ा मानकर दूसरों का खण्डन करना महापराध है। साधु इससे बहुत ही बचता रहे।

(25) वाद–विवाद खण्डन–मण्डन के चक्र से बचकर निरन्तर अपने साधन में ही लगा रहे, इसी में परम कल्याण है।

(26) गृह त्यागकर जब साधु बने हो तो सब प्रपंचों से बचकर निरन्तर भजन में ही लगना चाहिए।

(27) भजन ही करें, भजन ही बिचारें, भजन की ही अनेकों युक्तियाँ सोचें, भजन से अतृप्त ही रहें, जीवन का एक–एक क्षण भजन में ही व्यतीत करें।

(28) जो–जो बात, वस्तु, व्यक्ति, स्थान भजन में बाधक हों उनसे सदैव ही बचते रहें।

(29) अधिक बोलना, अधिक निद्रा, अधिक आहार, नशीली वस्तुओं का सेवन,जन–समाज में बैठना, ब्रह्मचर्य का अभाव, क्रोध आदिक दोषों का आवेश, रजोगुण की बृद्धि, महत्–अवज्ञा, सदाचार–पालन में कमी, दम्भ, भोगासक्ति, कार्य–बाहुल्य, शरीर की अस्वस्थता, चिन्ता, मन की अशान्ति, सद्गुरु भक्ति में कमी, विरक्त साधक के लिए स्त्री–जाति मात्र एवं गृहस्थ साधक के लिए परस्त्री मात्र से सम्पर्क तथा श्रीप्राणवल्लभ में प्रेम की कमी आदिक भजन में बाधक हैं।

(30) श्रीसद्गुरु–भक्ति, त्यागमय जीवन, नियम–पालन में दृढ़ता, संयम, सदाचार–पालन, गुरुजन सेवा, अखण्ड–ब्रह्मचर्य एकान्तवास समस्त भजन में सहायक हैं। साधु इनको बढ़ाता ही रहे।

(31) भजन करने का बिचार ही भजन को बढ़ाता रहता है।
(32) भजन करने में रुचि बढ़े, इस बात की इच्छा हो, तो अन्य समस्त कार्य शिथिल करता चला जाय, चाहे वे कार्य कितने भी शुभ क्यौं न प्रतीत होते हों।
(33) यदि निष्ठा के साथ भजन होने लगे, तो भजन में रुचि स्वतः ही उत्पन्न होने लगती है।
(34) भजन करके केवल भजन ही माँगें।
(35) पूर्ण–प्रतिज्ञा करले किः–अब सब प्रपंचों से बचकर अपना अवशिष्ट जीवन केवल भजन में ही व्यतीत करूँगा।
(36) नियमित भजन होने से चित्तमें अत्यन्त प्रसन्न्ता होतीहै
(37) चाहे कुछ हो जाय, किन्तु नित्य का नियमित भजन तो नित्य ही पूरा कर लेना चाहिए।
(38) नियम के बिना जो भजन किया जाता है, उसका अधिक महत्व नहीं, क्यौंकि उसमें एकरसता नहीं आ पाती।
(39) यदि रुचि पूर्वक नियम से, दीर्घकाल–पर्यन्त, भजन किया जाय, तो भजन भगवान् साधक को पकड़ लेते हैं।
(40) वही परम सौभाग्यशाली दिवस है, जिस दिन नियमित भजन आनन्द पूर्वक पूर्ण हो जाय।
(41) सभी कामनाओं को त्यागकर एक ही कामना बनाये कि, मैं अधिक से अधिक भजन ही करूँ।
(42) यदि कृपा करके स्वयं श्रीभगवान् भी प्रगट होकर वरदान माँगने के लिए आज्ञा करें, तो इनसे भी केवल यही याचना करे कि, मैं निरन्तर आपका भजन–स्मरण ही करता

रहूँ, यही वरदान दे जाओ।

(43) नित्य सायंकाल में शयन से पूर्व यह विचार ले कि, आज भजन में कैसी रुचि रही ? साथ ही यह प्रतिज्ञा भी करले कि, अगले दिन आज से भी अधिक भजन में उत्साह रखूँगा और सुन्दर बिधि से करूँगा।

(44) प्रातःकाल जगते ही श्रीसद्गुरु भगवान् से प्रार्थना करे कि, आज भजन करने में मेरे मन में अत्यधिक उत्साह रहे।

(45) अपनी रहनी ऐसी बना ले कि, जिससे भजन करने में किसी भी प्रकार की असुविधा न रहे।

(46) भजन में शिथिलता होना, पाप का परिणाम है।

(47) भजन का बन्द हो जाना, अपराध का परिणाम है।

(48) पुण्य के फल स्वरूप भजन में रुचि बढ़ती है, एवं रस की उत्पत्ति होने लगती है। इसमें सबसे उत्तम पुण्य है, सबके सुख पहुँचाने का बिचार तथा भजन करने वाले की सब प्रकार से सहायता करना।

(49) जब तक भजन में आनन्द नहीं आयेगा, तब तक इसमें रुचि होने की कमी रहेगी। भजन में आनन्द मिले, इसके लिए उपाय है, अधिक से अधिक एकान्त में बैठकर सब प्रपंचों से बचकर, नियम से भजन करना।

(50) भजन बनने लगे, यही श्रीभगवत्–कृपा है।

(51) भजन करने के समय आलस्य का आक्रमण न होने पाये, इसके लिए चाहे जो युक्ति अपनानी पड़े तो अपनाले। टहलने लगे, जल से मुख धोले, जल पीले, स्वच्छ वायु

सेवन करे, किसी काम में हाथ बटा दे। श्रीभगवत्–कृपा का स्मरण करने लगे। आदि आदि।

(52) अधिक जँभाई लेने से बचे।

(53) जिह्वा की सफलता श्रीनामोच्चारण में, श्रवणों की सफलता श्रीनाम–श्रवण में तथा मन के लिए परमानन्द केवल श्रीनामरसामृत पीने में ही है।

(54) संख्या 53 के बढ़ाने का पूर्ण–प्रयत्न करते रहना।

(55) दीर्घकाल पर्यन्त भजन करने पर भी यदि भजन में प्रगाढ़ रुचि न हुई, तो समझ लेना चाहिए कि, हमारे अन्तः करण में कोई अन्य अभिलाषा आसन जमाये हुए बैठी है। उसको पूर्ण खोज करके शीघ्राति–शीघ्र निकालकर बाहर फैंक देना चाहिए।

(56) भजंन करने में यदि कभी दुर्भाग्य से प्रमाद बन जाय, तो अन्तःकरण में अत्यन्त खिन्नता होनी चाहिए।

(57) यदि प्रमाद को सहन कर बैठे, तो इसका दुष्परिणाम किसी भी समय भजन से विमुख करा बैठेगा।

(58) श्रद्धावान् से प्रमाद बनता ही नहीं है।

(59) तप, त्याग, संयम, नियम पालन, श्रद्धा, सदाचार तथा निष्कामता के साथ साथ जो भजन किया जाता है, वह भजन विषयों से घृणा, संसार से उपरति तथा श्रीप्राणप्यारे दुलारे जीवनाधार भगवान में स्नेह लता का अंकुर उत्पन्न करने लगता है।

(60) बड़ी गहराई से यह देखता रहे कि, मैं भजन उचित

रूप से कर रहा हूँ या नहीं ?

(61) अपने समस्त उत्साह को, अपनी समस्त रुचि को तथा अपनी समस्त तत्परता को, शीघ्राति–शीघ्र लगा दे केवल भजन करने में ही।

(62) एकान्त में बैठकर, घुटने टेककर, हा–हा खाकर, दाँत निकालकर, मुख में तिनका दबाकर, अन्तःकरण की सम्पूर्ण शक्ति को बहाकर, भजन से केवल यही माँगे कि, भर पेट भजन ही कर लूँ।

(63) तबही मान्यो जायगो, भजन भयो चितलाय।
जब शुभ से शुभ काम को, नेंक न मन ललचाय।।

यह बात उस विरक्त साधक पर लागू होती है जो "केवल और केवल" श्रीभगवान से मिलने की ही इच्छा से रात दिन भजन करने में ही लगा रहता है। उपर्युक्त दोहे में शुभ से शुभ कर्म को भी उस साधक के भजन में बाधक माना है। क्योंकि भजन के अतिरिक्त कोई भी शुभ से शुभ कर्म करने में जब साधक लगेगा तो भजन तो छूटेगा ही। जो साधक की साधना के लिए एक सात्विक विघ्न ही सिद्ध होगा। इसीलिए शुभ से शुभ कर्म करना तो दूर, मन से विचार करना भी अपराध ही माना गया है। इसीलिए पूज्य श्री ने कहा है कि, हमारा भजन ठीक ठीक हो रहा है, यह तभी माना जायेगा, जब भजन के अतिरिक्त शुभ से शुभ कर्म के लिए भी मन तनिक भी लालायित न हो।

(64) इतना अभ्यास बढ़ादे कि, निद्राऽवस्था में भी भजन

होता रहे। पूर्ण–उत्साह, पूर्ण–लगन, पूर्ण–रुचि के साथ अधिक भजन करने पर ऐसा होना संभव हो जाता है कि, निद्रावस्था में भी भजन होता ही रहता है। भजन करना ही सबसे बड़ा कार्य है। जिस काम के लिए आये हो, वह पहले पूरा कर लो।

(65) सौभाग्य एक यह कि–केवल भजन ही सुहाय। दुर्भाग्य यह कि–भजन छोड़कर अन्य कामों में लगना। भजन करते–करते जियें, भजन करते–करते ही मरें। अगले जन्म में क्या करेंगे ? भजन।

(66) सम्प्रति साधक के दो ही कर्त्तव्य हैं, एक तो अधिक से अधिक भजन करना, दूसरा भजन में सहायक नियमों का दृढ़ता से पालन करना।

(67) जब स्वतः ही उत्कट उत्साह उपजेगा, ठीक–ठीक भजन तो तभी हो पायेगा।

(68) कोटिन जन्मों के सुकृतों का फल जब उदय होता है, तभी भजन करने में पूर्ण–उत्साह हो पाता है।

(69) प्राणी को सब कुछ मिल सकता है, किन्तु दुर्लभ एवं अलभ्य है, भजन करने के लिए पूर्ण–अवकाश मिलना।

(70) वही यथार्थ में भाग्यशाली है, जिसको आज भजन करने के लिए पूर्ण–अवकाश प्राप्त है।

(71) उससे भी अधिक भाग्यशाली है वह, जो भजन के समय को केवल भजन में ही लगा देता है।

(72) उससे भी अधिक भाग्यशाली है वह, जो इतना करते

हुए भी अतृप्त ही रहता है।

(73) किम्बहुना सबसे अधिकाधिक भाग्यवान् वही है, हाँ केवल वही है, जिसके अन्तःकरण में भजन के अतिरिक्त अन्य किसी अभिलाषा का अंश ही न रह गया हो।

(74) यदि मेरे श्रीप्राणनाथ ने आपको भजन करने का पूर्ण अवकाश दे दिया है, तो अब इनको तंग मत करना ? और कुछ माँग मत बैठना ? इनको लज्जित होना पड़ेगा। कारण कि, इनके पास अब देने के नाम पर कुछ बचा ही नहीं है, जो आपको दे सकें।

(75) अब इस बेचारे पर (कन्हैया पर) दया ही करो, इसे आशीर्वाद ही दो, कि इसकी बुद्धि ठीक–ठिकाने पर ही बनी रहे, भजन करने वालों को संसारी कामों में न फँसाया करे।

(76) माँगना–जाँचना, कृपा–कृपा चिल्लाना छोड़कर पूर्ण उत्साह के साथ जुट जाओ भजन करने में ही।

(77) यदि भजन करने के बाद भी आपको शान्ति नहीं मिली, सुख नहीं मिला, मन की चचंलता दूर नहीं हुई, तो निश्चय ही आपने कोई महान् अपराध किया होगा, ऐसा मान लेना। इनकी प्रदत्त वस्तु की अवहेलना ? अर्थात् भगवान ने आज जो सुअवसर दिया है उसकी उपेक्षा का ही परिणाम है यह, जो आज भजन करने पर भी शान्ति नही मिल पा रही है।

(78) यदि इनकी दी हुई वस्तु का सम्मान कर रहे हो, सदुपयोग कर रहे हो, तो–मित्रवर! तैयार हो जाओ, मेरे

खिलाना (श्रीकृष्ण) के असह्य विरह तापमें तड़फने के लिए।

(79) अगम यद्वा अलभ्य मानकर निराश मत हो बैठना, श्रीसद्गुरुदेव के अनुग्रह बल पर पूर्ण विश्वास करके, पूर्ण तत्परता के साथ, साधन में लग जाओ, फल तो तुम्हारी योग्यता एवं पूर्ण लगन की वाट देख रहा है।

(80) पूर्ण विश्वास रखो कि–श्रीजीवनाधार तुम्हें बुला रहे हैं, तुम्हें इनकी नित्य सेवा में सम्मिलित होना ही पड़ेगा, हाँ, कुछ विलम्ब है, तो केवल तुम्हारे दृढ़ सकंल्प का ही।

(81) साधु के लिए यह भी परम आवश्यक है कि, वह अपने आचरण पवित्रतम बनाये।

(82) श्रद्धा तथा सदाचार, ये दोनों संपुट होने चाहिए भजन के दोनों ओर।

(83) यदि यह इच्छा हो कि, इसी जन्म में साधन का पूरा फल मिल जाय,तो इन दोनों को दृढ़ता के साथ पकड़े रहो।

(84) दीर्घकाल–पर्यन्त, पूर्ण–विश्वास के साथ यह त्रिपुटी यदि चलाते बन गयी, तो स्वल्पकाल में ही सफलता हस्तगत हो जायेगी।

(85) श्रद्धा, सदाचार, साधन तथा वैराग्य में सन्तोष न होने पाये। सदैव अभाव ही खटकता रहे कि, हाय! हाय!! मैं कुछ भी नहीं कर पा रहा हूँ। तभी इनमें बृद्धि होगी। यदि सन्तोष कर बैठे तो उत्थान रुक जायेगा।

(86) जो मृत्यु के समय करना पड़ता है, उसको इसी क्षण से ही न करते चलो। पूर्वाभ्यास ही अन्तिम समय काम

आता है। न कि तात्कालिक ही काम आता हो।

(87) संसार की ओर से आँख मूँदकर, अन्तःकरण में श्रीजीवन सर्वस्व की पूर्ण–स्मृति जगे, यही तो उत्तमोत्तम मृत्यु है।

(88) कौन कहे, यह मृत्यु है अथवा अमरत्व ?

(89) संसार में जो कुछ हो रहा है, होने दो, तुम तो अपने लक्ष्य पर ही डटे रहो।

(90) संसार के सुधार का काम उन पर ही छोड़ दो, जिन्होंने इसकी रचना की है तथा जो इसके स्वामी हैं, तुम तो अपने सुधार की धुन में ही लगो।

(91) प्रमाद रहित होकर पूर्णयोग से साधन में डटे रहो, साध्य तो साधन का फल है।

(92) साधक विषयों की ओर मुड़ पड़ता है, यह पतन तो है ही, किन्तु संसार के उद्धार करने का वीड़ा उठा लेना भी कोई कम पतन नहीं।

(93) साधु का उद्धार तो उसी क्षण से होने लग जाता है, जिस क्षण से वह पूर्ण–तत्परता के साथ भजन में जुट पड़ता है। इसलिए उद्धार की चिन्ता किये बिना ही भजन में जुटे रहना चाहिए।

(94) बहुत जानकार बनने के चक्कर में न पड़े, कर्त्तव्य–परायण ही बने। कर्त्तव्य परायणता ही सफलता की कुंजी है।

(95) कहना कम, सुनना कम, करना अधिक।

(96) इन्द्रिय तथा मन से सदा सावधान रहना, इनको जीत लिया हूँ, ऐसा मानकर मनमाना आचरण मत कर बैठना।

(97) तदेव करणीयं हि संविचार्य्य विवेकिना।
सद्भिराचरितं यत् स्यात् सर्वथा शास्त्र संमतम्।।

विवेकी पुरुषों ने भली प्रकार से विचारकर उसे ही करने योग्य माना है, जो सब प्रकार से शास्त्र सम्मत और सन्त आचरित हो। इसलिए वही करना चाहिए, जो शास्त्र सम्मत और सन्त आचरित हो। अर्थात् जिस शास्त्र सम्मत और सन्त आचरित बात को विवेकी पुरुष भली प्रकार से सोच विचारकर आचरण करते हैं, वही एकमात्र अपना करणीय है। अन्यथा सभी अकरणीय है।

(98) समस्त सुकृतों का केवल एक ही फल है, श्री सद्गुरुदेव में पूर्ण–सात्विकी श्रद्धा का दृढ़ हो जाना।

(99) लक्ष्य केवल श्रीभगवत्–प्रेम।

(100) और कोई कामना ही न उठने पाये।

(101) सारी आसक्ति केवल एक श्रीजीवनधन में ही।

(102) इनका नाम, धाम, लीला, रूप, तथा प्रेमीजन आदिक सभी श्रीभगवत् के समान ही हैं।

(103) प्रेमप्राप्ति के लिए इनका अवलम्ब परमावश्यक है।

(104) श्रद्धा दृढ़ बने।

(105) शास्त्र वाक्य अथवा सन्त वाक्य के आधार पर ही जीवन व्यतीत करे।

(106) श्री भगवन्नाम जप में पूर्ण रुचि होनीं चाहिए।

(107) श्रीनामोच्चारण शुद्ध होना चाहिए।

(108) इतना अभ्यास बढ़ावे कि, शरीर के काम काज करते

हुए भी जीभ सतत् श्रीभगवत् नाम रटती ही रहे।

(109) श्रीविनय पत्रिका का यह पद बड़े ही मर्म का है——

राम राम राम जीह जौ लौं तू न जपि है।
तौ लौं तिहुँ लोक जाय तीनौं ताप तपि है।।

अर्थात् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज अपनी जीभ से कहते हैं कि हे जीभ! सुन, जब तक तू मेरे प्रियतम श्रीरामजी का निरन्तर नाम नहीं जपेगी तब तक तू तीनों लोकों में कहीं भी चली जाना, तीनों ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) तुझे सतायेंगे ही। यदि इनसे बचना हो तो मेरे ठाकुर श्रीराघवेन्द्र प्रभु का मधुर मधुर श्रीनाम निरन्तर जप।

(110) श्रीनाम जपने बाली जीभ को संयमी बनावे।

(111) श्रीभगवान् ने जीभ कोमल बनाई है। अतएव इससे मृदुता का ही व्यवहार करे, किसी से कठोर शब्द न बोले।

(112) श्रीभगवान् के एक ही रूप को इष्ट बनावे।

(113) इनमें ही अपना एक दृढ़ भाव बनावे।

(114) समस्त जीवन इष्ट के लिए ही जियें।

(115) यही उत्कट लालसा बने कि, अपने इष्ट के प्रेम में ही डूबा रहूँ। भूलकर भी मनोवृत्ति संसार में न जाये।

(116) श्रीब्रजभूमि में ही रहना। अर्थात् सम्भव हो सके तो अपने इष्ट की लीला भूमि में रहकर ही साधना करनी चाहिए। इससे इष्ट के प्रति आत्मीयता बढ़ती है और उत्तरोत्तर निकटता का अनुभव हाता ज़ाता है।

(117) श्रीब्रज से बाहर कहीं भी नहीं जाना।

(118) उसमें भी जहाँ तक बने, श्रीगिरिराज भगवान् के सान्निध्य में ही रहना अत्यन्त शुभकारी है।

(119) शरीर में श्रीब्रजरज लगी ही रहनी चाहिए।

(120) स्वभाव अति सरल बने।

(121) रूक्षता (रूखापन) छू न जाय।

(122) कैसी भी परिस्थिति में क्रोध नहीं करना चाहिए।

(123) यदि कोई अपने पर क्रोध करे, तो शान्ति से समझा देना चाहिए। गरम लोहे को ठण्डा लोहा काट देता है।

(124) अपनी साधुता भंग न होने पावे।

(125) विरक्त के लिए शास्त्र और सन्तों का यही आदेश है कि, वह ना तो द्रव्य छूये ही और ना हीं कहीं जमा ही करे।

(126) काम तथा क्रोध के भाव से किसी को भी न देखना, न छूना, न सुनना और न चिन्तन ही करना।

(127) विकार बहुत ही प्रबल होते हैं। इनसे बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

(128) चिन्तन बने श्रीभगवत् सम्बन्ध से ही, स्वतंत्र नहीं।

(129) लक्ष्य, कर्त्तव्य, सत्संग वाक्य तथा श्रीभगवत्कृपा विशेषतया ये ही चिन्तनीय हैं।

(130) सभी साधु–सन्त आदरणीय एवं सम्माननीय ही हैं।

सम्वत् 2030 श्रीरामनवमी महापर्व

(131) साधु के तीन महा बाधक हैं, यह समस्त सन्त–समाज का कहना है। हमें इन तीनों से पूरा–पूरा बचना है। स्त्री–जाति से कैसे भी सम्पर्क न रहै। द्रव्य लेने से बचें,

जैसे बने निर्वाह करले परन्तु किसी से द्रव्य न ले। मान बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा से सर्वथा बचे।

(132) ये तीनों सरल नहीं हैं। युग के देखते हुए तीनों ही महा प्रबल हैं। उसमें भी लोकेषणा तो अत्यन्त ही प्रबल है। इसलिए कोई भी काम यह उद्देश्य लेकर न करें कि, ऐसा करेंगे, तो हमारी ख्याति होगी।

(133) श्रीभगवत्–नाम का इतना अभ्यास बढ़ादे कि, सतत् श्रीनामजप होता ही रहे।

(134) यह तो सर्वमान्य बात है ही कि, इस समय अध्यात्म में चलना अत्यन्त ही दुष्कर है। तथापि जिन्होंने कृपा करके अपनी श्री ब्रजभूमि में बसाये हैं, ये ही सब सँभालते रहेंगे। यही दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।

(135) कठिन–सरल, इन दोनों शब्दों पर बिचार करें तो, कठिन है जीव के लिए तथा सरल है सर्वसमर्थ श्रीभगवान् के लिए। जीव की अभाव वृत्ति ही कठिनाई का कारण है।

(136) श्रीभगवदाश्रित जन को सदैव अपने श्रीसद्गुरुदेव और श्रीप्राणनाथ (इष्ट) का ही दृढ़ अवलम्ब रखना चाहिए।

(137) सबहिं सुलभ जग जीव कहँ भये ईश अनुकूल।
भगवान के अनुकूल हो जाने पर जीव के लिए इस संसार में फिर सब कुछ सुलभ हो जाता है।

(सम्वंत् 2030 श्री जन्माष्टमी मंगलवार)

(138) कुटिया नहीं बनाना। (विरक्त के लिए आदेश)

(139) शिष्य नहीं बनाना।

(140) कहीं भी कोई पद नहीं लेना।

(141) अपने मन से नहीं, श्रीसद्गुरु आज्ञा से, जैसे बने केवल दुलारे कन्हैया में ही प्रेम बढ़ाना। यह मानना कि, यह काम तो हम अपने श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा से ही कर रहे हैं, अपने बल से नहीं।

(142) अपने ही इष्ट के रूप में पूरी लगन, इनमें ही प्यार, इनका ही बार–बार चिन्तन।

(143) माया के जाल से सर्वथा बचना।

(144) कन्हैया को ही सर्वस्व मान लेना तथा रात दिन इनके लिए ही जीवन जीने का प्रयास करते रहना चाहिए।

(145) जो कर्त्तव्य श्रीसद्गुरुदेव ने निर्धारित किये हों उनका पालन करना ही आराधना है।

(146) श्रीसद्गुरु भगवान् के सुझाये हुए मार्ग से ही चलते रहें तो धीरे–धीरे सब सुधरता जाता है।

(147) यह विश्वास रखे कि, इसी जन्म में श्रीजीवनधन के प्रेम में डूबना है।

(148) अपने मन बुद्धि से नहीं, चलो सद्गुरु वाक्यों के आधार पर ही।

(सम्वत् 2016 फा0 शु0, ता0 12–11–1959 श्रीगुरुवार)

(149) सात्विकी श्रद्धा ग्रहण करनी।

(150) यह देखते रहना कि, श्रद्धा में कमी तो नहीं आ रही।

(151) श्रद्धा में बाधक है, तर्क।

(152) श्रद्धा में सहायक है श्रद्धावान् में श्रद्धा करना।

(153) बिना भजन किये श्रद्धा ठहर नहीं सकती।

(154) श्रद्धा को पुष्ट करता है सदाचार।

(155) बहुत ही कम बोलना।

(156) प्रपंचों से सदा बचते रहना।

(157) परचर्चा कभी नहीं करनीं।

(158) क्रोध कभी नहीं करना।

(159) सपनेहुँ नहीं देखइ परदोषा।

(160) प्रतिक्षण सावधान रहे कि, कोई इन्द्रिय कुमार्ग में न जाने पावे।

(161) व्यर्थ चिन्तन तथा बिषय चिन्तन से मन को बचाते रहना। इसका एकमात्र उपाय है केवल अपने साधन और साध्य (इष्ट) तथा श्री सद्‌गुरुदेव का चिन्तन।

(162) सद्‌बुद्धि के द्वारा मन को समझाते रहना चाहिए।

(163) ऊँचे बिचार तथा ऊँची क्रिया।

(श्रीशिव–व्रत सम्वत् 2015)

(164) **श्रद्धाः**– जो शास्त्रों में लिखा है, तथा जो सन्त–जन कहते हैं, उसको बिना सोचे बिचारे, बिना किसी तर्क कुतर्क के ज्यौं की त्यौं मान लेना ही श्रद्धा है। सीधे शब्दों में यह समझना कि, अपने मन, बुद्धि से काम नहीं लेना।

(165) श्रद्धा ही तो अध्यात्म का मूल है।

(166) श्रद्धा में यह लोभ तो भी रहता है कि, हम यदि इनकी आज्ञा पर चलेंगे, तो हमारा परलोक सुधर जायेगा। इसमें स्वार्थ की कुछ गन्ध है, किन्तु सात्विकी श्रद्धा में तो

यह भी नहीं रहता। उसमें तो कुछ और ही गहराई है। वहाँ तो केवल इतना ही भाव रहता है कि, हमें न लोक बनने से प्रयोजन, न परलोक सुधरने की आशा। हम तो अपना परम सौभाग्य इसी में मानते हैं कि, हमारे लिए इनकी आज्ञा तो हुई। जो सन्त जन भगवान से भी कुछ नहीं चाहते,वे ही आज हमारे लिए आज्ञा कर रहे हैं कि तुम ऐसा करो। कितना सौभाग्य है आज हमारा ?

(167) कलियुग में श्रद्धा ही दुर्लभ है। उसमें भी सात्विकी श्रद्धा यदि उपज पड़े, तो श्रीभगवान् की अपार कृपा समझ लेनी चाहिए।

(168) तथापि बिना सात्विकी श्रद्धा हुए जीव का परमकल्याण सर्वथा अलभ्य ही है।

(169) एक बिचारणीय बिषय है कि, सांसारिक बुद्धि श्रद्धा के समान अति उच्च्च वस्तु को कैसे तोल सकती है ? जिस काँटे पर लकड़ी या कोयला तोले जाते हैं, उस पर चाँदी या सोना कैसे तुल सकता है। अतएव भगवती श्रीश्रद्धा महारानी को बहुत ही बचावे अपनी बुद्धि के तराजू में तोलने से।

(170) श्रद्धा यदि रखते बने, तो यह बढ़ती ही जाती है।

(171) श्रद्धा का अंतिम फल है,श्रीभगवत् प्रेम या आत्मबोध।

(172) बहुत ही सावधानी रखे, श्रद्धा ऐसे जल्दी उड़ जाती है, जैसे कपूर। इस कारण श्री श्रद्धा महारानी को बहुत ही संभालकर रखे। प्रदर्शन न कर बैठे। तभी दर्शन होगा।

(173) **श्रद्धा के रोकने की युक्तिः–** अत्यन्त आर्त होकर,

दोनों हाथ बाँधकर, श्री श्रद्धा महारानी से भीख माँगे कि, हे मेरी परम दयामयी माँ! जब आप कृपा करके इस अधम जीव के अन्तःकरण में आकर विराजी हो, तब इतनी कृपा और भी करो कि, अब इस अन्तःकरण को अपना निजी घर बनाकर इसे सुधार लो, मेरी परम दयामयी माँ!

(174) तात्पर्य इतना ही है कि, सर्वतोभावेन श्रीभगवती श्रद्धा महारानी का दृढ़ता के साथ अंचल पकड़ ले, फिर तो यह दयालु माँ अपने लाल को निरन्तर ऊपर ही उठाती रहेंगी तथा इनको चैन भी तभी मिलेगा, जब अपने लाल को अपने श्री प्रियतम की गोद में बैठा देंगी।

(175) जिसके करोड़ों जन्मों के पुण्य उदय होते हैं, उसी के अन्तःकरण में–सात्विकी श्रद्धा उपजती है, रुकती है, बढती है और बढ़ती ही जाती है तथा अतृप्ति की भावना होती है। हाँ, यदि ये सारी बातें लेना चाहे तो, एक ही बात का अभ्यास करे कि, कहाँ मैं तुच्छ और कहाँ ये जिनसे श्रद्धा प्राप्त हुई। यही युक्ति है, श्रद्धा महारानी के रोकने की।

(176) श्रद्धावान्–जितेन्द्रिय होता है, सौम्य होता है, शान्त होता है, गम्भीर होता है, नियम पालक होता है, अपने कर्त्तव्य पालन में परमदृढ़ होता है और दैन्य की मूर्ति होता है। श्रद्धावान् में समस्त सद्गुण स्वयं आकर निवास करते हैं। श्रद्धावान् का पतन नहीं होता। श्रद्धावान् को एक न एक दिन अवश्य ही प्रेमी बनना पड़ेगा। इसलिए श्रद्धावान बनना ही परम श्रेयष्कर है।

संयम

(177) **वाणी**–सँभालकर बोलना, कहीं अनुचित शब्द न निकल जाय, ऐसा ध्यान रखना, कम बोलना, सत्य, मृदु, एवं हितकर वाक्य ही मुख से उच्चारण करना, कभी भी कैसी भी परिस्थिति में किसी से भी कठोर बचन नहीं बोलना।

(178) **दृष्टि**–बहुत ही सँभालकर दृष्टि उठाना। कहीं स्त्री आदिकों पर दृष्टि न पड़ जाय, ऐसी सँभाल रखनी। बहुत ही आवश्यकता पड़ने पर देखना। शनैः शनैः आगे का मार्ग देखकर तब दृष्टि उठाना। मार्ग चलते समय इधर–उधर नहीं झाँकना।

(179) **आहार**–आहार उतना ही करना, जितने में उदर–पूर्ति हो जाय। सात्विकी, हितकर, हलका, पाचक तथा जिसमें कम व्यय पड़ता हो, ऐसा ही आहार करना। शरीर की रक्षा के लिए ही भोजन करना, जिह्वा के स्वाद के विचार से नहीं। बहुत गर्म, भारी, उत्तेजक, अभक्ष्य तथा मादक वस्तु कभी नहीं ग्रहण करनीं। भोजन करते समय विशेष सावधानी यह रखनी कि, मन में भी कोई दूषित बिचार नहीं आने पाये। सदैव पवित्र बिचारों की गंगा में डुबकी लगाते हुए ही भोजन करना। भोजन के समय कभी भी क्रोध नहीं करना, ऐसा करने से भोजन का रस बनने की अपेक्षा बिष ही बन जाता है, जो शरीर में नाना प्रकार की विकृति पैदा करता है, साथ ही इससे रक्त भी दूषित होता है। कभी भी श्रीभगवान को समर्पित किये बिना आहार ग्रहण नहीं करना।

(180) **श्रवण**– श्रीभगवत चरित्र सुनना। सन्तों के चरित्र सुनना। किसी की प्रसंसा होती हो, तो सुनना। किसी की निन्दा नहीं सुननीं। अश्लील गाने नहीं सुनने। अपनी प्रसंसा नहीं सुननीं। जो पाप लगता है, परनिन्दा करने में, वही पाप लगता है, अपनी प्रसंसा करने में तथा जो पाप लगता है, परनिन्दा सुनने में, वही पाप लगता है, अपनी प्रसंसा सुनने में। हितकर वाक्य ही सुनना। खण्डन सुनने से बचते रहना। अनावश्यक श्रुति से बचने के लिए जोर–जोर से श्रीभगवत् नामोच्चारण करना ही मंगलमय है।

(181) **नेत्र**–भक्त और भगवान के चरित्र एवं अन्य शिक्षाप्रद पुस्तकें भी अवश्य पढ़ना। श्रीरामचरितमानस नियम से पढ़ना। अश्लील पोथी नहीं पढ़नीं। जिस पोथी में परनिन्दा लिखी हो, खण्डन लिखा हो, ऐसी पोथी नहीं पढ़नीं। सन्तों के वाक्य अवश्य ही पढ़ने। सन्त, भक्त और श्रीभगवद् विग्रहों के दर्शन अवश्य करने। मन में विकार उत्पन्न करने वाले अश्लील चित्र कभी भी नहीं देखने।

(182) **मन**– मन में विषय सम्बन्धी संकल्प न उठने पायें। किसी का भी अनिष्ट चिन्तन न होने पाये। जब–जब मन में अनुचित संकल्प उठने लगें, तब–तब ही श्रीभगवत् कृपा का स्मरण करना कि–श्रीप्राणनाथ ने बड़ी कृपा की जो आज मुझे मनुष्य जन्म दिया, उस पर भी द्विजातीय बनाया, विद्याध्ययन कराया, उत्तम संग दिया, श्रीब्रजभूमि में वास दिया। अब हमें चाहिये कि, सदैव सावधान ही रहें। मन में

कोई दूषित संकल्प न उठने पाये। प्रत्युत सतत् यही प्रयत्न करते रहें कि, मन में इनकी अपार कृपा का चिन्तन ही होता रहे। अपने जीवन सुधार के उपाय ही सोचते रहें। हम से सभी का हित ही हो, ऐसा संकल्प बनाते रहें। यह बार–बार देखते रहें कि, हमारी श्रद्धा शिथिल तो नहीं होने लगी है ? हम अपने नियम ठीक–ठीक पालन कर रहे हैं या नहीं ? मन से दूषित संकल्पों को उखाड़ फैंकें। इनके स्थान में पवित्र संकल्प और मैत्री की भावना ही भरते रहें। कठोरता के स्थान में नम्रता एवं दया ही बढ़ाते रहें। किसी के दोष देखने के स्थान में गुण ही देखें। सबको सम्मान देने की भावना ही भरते रहें। ऊँचे से ऊँचे संकल्प ही बनाना तथा उनको क्रिया रूप में (व्यवहार में) लाना, यही तो करना है।

(183) प्रत्येक साधक को इनका सुधार करना परमकर्तव्य है पाँचों कर्मेन्दिय, पाँचों ज्ञानेन्द्रिय तथा चारों अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार)। **कर्मेन्द्रियः**–हाथ, पैर, वाणी, मूत्रेन्द्रिय, मल विसर्जनेन्द्रिय। ये पाँचो कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। कारण कि, ये सब केवल काम ही कर सकती हैं। इनको भले बुरे का ज्ञान नही होता है। इनसे ऊपर हैं–**ज्ञानेन्द्रियः**– आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा। ये पाँचों समझ से काम लेती हैं। इनको भले–बुरे का ज्ञान होता है, इस कारण ज्ञानेन्द्रिय कही जाती हैं।

(184) साधक का यही परम–कर्त्तव्य है कि, इन पाँचों को

सतत् शुभ कर्मों में ही लगाये रखे तथा इनकी सफलता समझे सन्त और श्रीभगवत्–सेवा में ही।

(185) हाथों को सदैव सेवा में ही लगाये रखे।

(186) कदाचित कोई गिर जाय, तो उसके उठाने में हाथों की सफलता समझे। यही तरसता रहे कि, अपने हाथों को किसी के काम में ला सकूँ।

(187) गुरुजनों की सेवा में ही हाथों की सफलता समझे।

(188) श्रीठाकुरजी के मन्दिर में हाथों से कुछ सेवा करता रहे।

(189) हाथों से दीन–हीनों की सेवा करने में भी संकोच न करे, हीनता न समझे। प्रत्युत यही भावना बनाये कि, आज ही तो हाथों की सफलता हुई है।

(190) श्रीभागवत्जी में महाभागवत श्रीअम्बरीषजी की जीवनी में लिखा है–"करौ हरेर् मंदिर मार्जनादिषु" अर्थात् अपने दोनों हाथों से श्रीभगवान् के मन्दिर को झारते–वुहारते थे।

(191) हाँ, यदि ये हाथ कहीं श्रीभगवत्सेवा का सौभाग्य पा जायँ, तो इनको बहुत सँभालकर रखे। यह भावना बनावे कि–अब ये हाथ श्रीभगवान् के हो गये, इनसे कोई भी अनुचित काम न होने पाये। अर्थात् सबकी सेवा करने से हीं हाथ पवित्र होते हैं।

(192) साधक काम की भावना से न किसी को छूये और न क्रोध की भावना से किसी को धक्का ही दे, न मारे।

(193) खोटे काम करने का अवसर आये, तब यही समझे

कि, मेरे हाथ तो टूट ही गये।

(194) हाँ, दीनों की सहायता के समय तथा श्रीभगवत्सेवा के समय अपने को सहस्रबाहु का अनुभव करे।

(195) हाथों की शोभा तथा सौभाग्य है, पुण्य–दान करने में। दीनों की सहायता करने में। गुरुजनों की तथा श्रीभगवत्सेवा करने में। इसी में श्रीप्राणनाथ की कृपा का अनुभव करे।

(196) साधुवेष धारण करके पूरी साधुता पालन करे, तभी कल्याण सम्भव है।

(197) बोलने में, समस्त क्रियाओं में तथा मन में भी पूरी साधुता ही रहनी चाहिए।

(198) किसी भी बहाने से, किसी भी प्रकार से, किसी की भी अवज्ञा न करे।

(199) श्रीभगवत्–प्रेम के लिए ही जीवन।

(200) प्रेम–प्राप्ति के लिए ही पूर्ण–प्रयत्न।

(201) यह अलभ्य बस्तु साधन साध्य नहीं हैं, अपितु कृपा साध्य है।

(202) यह त्याग कर लेंगे, वैराग कर लेंगे, तब प्रेम तो हो ही जायेगा, यह भावना उचित नहीं।

(203) अतः प्रेम–प्राप्ति के लिए तो किसी शास्त्र और सन्त में प्रगाढ़–श्रद्धा करनी ही पड़ेगी।

(204) जहाँ अपना दृढ़–विश्वास हो वहाँ किसी सन्त में शीघ्राति शीघ्र प्रगाढ़ श्रद्धा करले।

(205) श्रद्धा ही साधक को बनाती है। बनाने का क्रम है

यह– क्रमशः–साधारण साधक, प्रौढ़ साधक, आसन्न सिद्ध साधक तथा सिद्ध।

(206) श्रीसद्‌गुरु में साधारण बुद्धि नहीं करनी चाहिए।

(207) श्रीसद्‌गुरु को श्रीभगवान् ही मानना चाहिए।

(208) श्रीसद्‌गुरु तथा श्रीभगवान् में अभेद मानें।

(209) यह दृढ़ भाव बन जाय कि, मेरे कारण ही निराकार ब्रह्म साकार बने हैं।

(210) यदि विचार करके देखा जाय, तो ज्ञान–वैराग्य एंव प्रेमदेव भी श्रद्धा के ही फल हैं।

(211)श्रद्धा जितनी आवश्यक है,उतनी ही महा अलभ्य भी है

(212) यह शिथिल न बनने पाये।

(213) श्रद्धा को दिन व दिन सुदृढ़ बनाते रहना ही तो साधन है।

(214) स्वभाव में कठोरता न छू जाय।

(215) श्रीप्रेम–देव अत्यन्त ही मृदु हैं।

(216) अतएव इनके निवास स्थान ह्रदय को अत्यन्त ही कोमल बनावे। सरल बनावे। सत्यता से परिपूर्ण बनावे।

(217) कोई बिकार ह्रदय में रहने ही न पाये।

(218) यह मानते हैं कि–ये काम जीव के लिए सुगम नहीं हैं तथापि, हैं परमावश्यक ही।

(219) प्रेम प्राप्ति के इच्छुक को ह्रदय अति निर्मल एवं अति सरल बनाना ही पड़ेगा।

(220) उपाय केवल एक ही है–श्रद्धा में दृढ़ता, सत्यता तथा

पूरी तत्परता।

(221) यदि किसी साधक ने श्रद्धा दृढ़ बना ली तो, आगे की समस्त उपलब्धियाँ सरल हो जायेंगी।

(222) सच्ची श्रद्धा होने पर अपने विचार बन्द हो जाते हैं।

(223) रह जाता है, केवल सन्त आज्ञा पालन। तब पाप बन ही नहीं सकते।

(224) कारण स्पष्ट है, जो करेगा, सन्त की आज्ञा से ही करेगा। तब उत्थान ही उत्थान।

(225) कटुता का सर्वथा अभाव।

(226) इतने बड़े संसार में अपना एक भी शत्रु न बने।

(227) न कहीं आसक्ति, न किसी से बैर विरोध।

(228) एक ही ईश्वर की सन्तान होने से सभी अपने बन्धु ही हैं। यह भाव बने तो बैर विरोध नही होगा।

(229) "मित्रस्य दृष्ट्या समीक्षा महे" यह वेद भगवान् की आज्ञा है। अर्थात् सभी को मित्रता की दृष्टि से ही देखें।

(230) परिक्रमा की रज सदैव शरीर में लगी ही रहे।

(231) दूसरा तुम्हारी निन्दा भले ही करे, पर तुम किसी की निन्दा कभी मत करो।

(232) कोई तुम्हारी हानि भलेही करे, पर तुम किसी की हानि कभी मत करो।

(233) कोई तुम्हारा अपमान करे, तो तुम सहलो, पर तुम किसी का अपमान कभी मत करो।

(234) तपते यजते चैव यच्च दानं प्रयच्छति।

क्रोधस् तु सर्वं हरित तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत।।
अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए जीव तप, यज्ञ, और दानादिक जितने भी सत्कर्म करता है, क्रोध उन सभी को भस्म कर देता है। इसलिए सभी शास्त्र और सन्तों ने इसका सब प्रकार से निषेध ही किया है।

(235) सहनशीलता से तप बढ़ता है।

(236) व्यर्थ चिन्तन न होने पाये, इससे अशान्ति और बहिर्मखता बढ़ती है।

(237) श्रीभगवान के सम्बन्ध में ही बोलने, सुनने तथा चिन्तन करने से शान्ति और अन्तर्मुखता बढ़ती है।

(238) मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।12/8गीता
इस श्लोक के द्वारा भगवान कहते हैं कि, तुम अपने मन को मुझ में स्थिर करो और बुद्धि को मुझ में ही लगाओ। फिर तो तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय ही नहीं।

(239) **मय्येव मन आधत्स्व**—की व्याख्या में श्रीकृष्ण भगवान् के कहने का आशय है कि, मन का काम ही है संकल्प और विकल्प करना। अब तुम ऐसा अभ्यास बनाओ कि, जब भी मन में कोई संकल्प उठे, तब केवल मेरे लिए ही उठे। कल्पना करो कि, मुझे श्रीप्राणनाथ के दर्शन होंगे। मैं इनके श्रीचरणों में गिरि पड़ूँगा, रोऊँगा, ये मुझे उठायेंगे, पुचकारेंगे, प्यार करेंगे, अपने पीताम्बर से मेरे आँसू पौछेंगे, मैं धन्य धन्य होकर नित्य लीला में पहुँच जाऊँगा, वहाँ मुझे इनकी

सेवा प्राप्त होगी, मैं सेवा करूँगा। जहाँ ये खेलेंगे, मैं उस स्थल को स्वच्छ कर दिया करूँगा। जब ये शयन करेंगे तो, मैं पंखा किया करुँगा आदि–आदि। श्रीभगवान् के लिए की गईं कल्पना असत्य होते हुए भी परम सत्य बन जाती है। श्रीगंगाजी में कैसा भी पानी मिल जाय, सब श्रीगंगाजल ही बन जाता है। इसी प्रकार असत्य कल्पना भी भगवान में मिलकर परम सत्य ही बन जाती है।

मय्येव मन आधत्स्व–इस महावाक्य की व्याख्या में जब मन के समस्त संकल्प केवल श्रीप्रियतम के लिए ही बनने लगे, तब यह तो निश्चय हो ही गया कि, यह मन अब श्रीभगवान् की वस्तु बन गया। तब भगवद् वस्तु श्रीभगवान् के ही काम में आये, यह नियम उपासना में है ही। मन्दिर में जो धातु के पात्र श्रीठाकुरजी की सेवा में रहते हैं, उनको अपने काम में नही लेते हैं। तब–जबकि यह मन इनकी वस्तु बन गया, तब फिर अपने लिए कुछ भी संकल्प कैसे बना सकता है? अपना तो जो कुछ होगा, वह शरीर के प्रारब्ध के अनुसार होता ही रहेगा। इसकी ओर ध्यान ही नहीं देना है। निरन्तर श्रीप्राणनाथ के चिन्तन का ही अभ्यास करने में लगे रहना चाहिए। न अपने लिए संकल्प ही बनायें और न संसार की ओर ध्यान ही दें। "बिधि प्रपंच अस अचल अनादी" प्रवाही सृष्टिमें उथल–पुथल तो होती ही रहती है। हाँ, हमें तो केवल अपने श्रीजीवनधन से ही काम है। इसलिए अपने सभी संकल्प "केवल और केवल"

इनके लिए ही होने चाहिए। शरीर की सभी चेष्टायें भी इनके लिए हीं हों, खान पान, शयन, तथा समस्त व्यवहार केवल इनके लिए ही हों। जैसे पतिव्रता का जीवन केवल अपने पति के लिए ही होता है। ऐसे ही अपने समस्त क्रिया कलाप भी "केवल और केवल" अपने श्रीप्राणनाथ के लिए ही होने चाहिए। यहाँ तक कि, जीना भी इनके लिए ही तथा मरना भी इनके लिए ही। शरीर में, इन्द्रियों में, तथा मन में "केवल और केवल" "इनका ही इनका" अखण्ड साम्राज्य छाया रहे। यह हुआ "मय्येव मन आधत्स्व"। अब–**"मयि बुद्धिं निवेशय"** का अर्थ है कि, अपनी बुद्धि को मुझ में लगादे। बुद्धि का काम है निर्णय करना। यह करना आवश्यक है, यह अत्यावश्यक है और यह अनावश्यक है, बुद्धि का यही काम है ? तब बुद्धि से भी काम ले "केवल और केवल" मेरे लिए ही। बार–बार बुद्धि यही निर्णय करे कि–हमें चाहिये केवल एक श्रीभगवान। ये मेरे और मैं केवल इनका। बस बार–बार इसी पाठ को फेरता रहे और कोई लौकिक कामना न बनने पाये। जब भी कोई कामना उठे, तब केवल इनके लिए ही उठे। यह हुआ "मयि बुद्धिं निवेशय"।

(240) हम अपने मार्ग में ठीक चल रहे हैं, यह तब समझना, जब अपना स्वभाव दिन व दिन सरल और विनम्र बनता जाय, अति उत्तम बनता जाय।

(241) एक वाक्य मिला– हैं जितनी बातें दुनियाँ की, सब

भूल गये कुछ याद नहीं।

(242) अपने में दुर्गुण बढ़ाना पशुता लाना है। इसी प्रकार अपने में सद्गुण बढ़ाना दिव्यता लाना है।

(243) इस समय भलेही कोई युग वर्त रहा हो, तथापि अपने को तो सदैव सतयुग में ही रखना है। सतयुग में रखने का अर्थ है– मनुष्यास् तु तदा शान्ताः निर्वैराः सुहृदः समाः। अर्थात् सतयुग में लोग परम शान्त, निर्वैर, निस्वार्थ भाव से सबका हित चाहने वाले और प्रत्येक परिस्थिति में तथा शत्रु मित्र में समान भाव से व्यवहार करने वाले थे।

(244) परम श्रद्धेय पूज्य श्री पण्डितजी महाराज के एक निकटस्थ जन ने उनसे प्रार्थना की कि, आप हमें श्रीमद् भागवत् महापुराण के कोई से सात श्लोक जो आपको परम प्रिय हों, लिखकर देने की कृपा करें। अपने प्रियजन की प्रार्थना पर ये श्लोक पूज्यपाद श्री ने लिखकर दिये।

(1) **स्तुति**

कृष्णाय वासुदेवाय देवकी नन्दनाय च।
नन्द गोप कुमाराय गोविन्दाय नमो नमः।।

(2) **ब्राह्मण का परम कर्तव्य**

ब्राह्मणस्यहि देहोऽयं क्षुद्र कामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्त सुखाय च।।

यह ब्राह्मण का शरीर तुक्ष विषय भोगने के लिए नही हैं। इस उत्तम शरीर को पाकर संयम–पालन करते हुए तप कर लेना चाहिए। तभी तो मृत्यु के पीछे मोक्ष प्राप्त हो सकता

है। वास्तव में इस शरीर की सफलता तो तभी मानी जायगी,जब मोक्ष प्राप्त कर लेगा। ब्राह्मण मात्र का परम कर्त्तव्य है कि, इस श्लोक के अनुसार अपना जीवन बनाये।

(3) **महत्सेवा**

महत् सेवां द्वार माहुर् विमुक्तेः।
तमो द्वारं योषितां संगि संगम्।
महान्तस् ते समचित्ताः प्रशान्ता।
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।।

महत्सेवा मुक्ति का द्वार है अर्थात् मोक्ष की सड़क है और विषयी प्राणीयों का संग नरक का द्वार है। अब महत् के लक्षण वर्णन करते हैं। महत् वे हैं–जो समचित्त हैं–अर्थात् सुख–दुख, मान–अपमान, हानि–लाभ आदिक में एकरस रहते हैं, जो शत्रु–मित्र में भेद नहीं राखते हैं, जो सदा शान्त रहते हैं, जो कभी क्रोध नहीं करते हैं, जो सब में मैत्रीभाव राखते हैं तथा जो सदाचारी हैं। वे ही महत् (महात्मा) हैं।

(4) **महतों की महिमा**

रहूगणै तत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यैर्
विना महत् पाद रजोऽभिषेकम्।।

श्रीजड़भरतजी राजा रहूगण को समझा रहे हैं कि, हे रहूगण! उस परम तत्व को (जिसको ज्ञान कहते हैं, वासुदेव कहते हैं) वही पा सकता है, जो महतों की श्रीचरणरज

में अपना अभिषेक करता है। जब तक यह उपाय ग्रहण नहीं करेगा, वह परम तत्व हाथ नहीं लग सकता है। चाहें भलेही कठिन से कठिन तपस्या कर ले। चाहे बड़े से बड़े यज्ञ करले। चाहे बड़ा भारी वैरागी बन जाय। चाहे पूरा गृहस्थ बनकर देख ले। चाहे वेद पाठ करले। चाहे जल की उपासना करले। चाहे अग्नि की उपासना करले। चाहे सूर्यदेव की उपासना करले। इनमें से एक भी प्रयत्न तत्व की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता। केवल एक ही प्रयत्न है कि, महज्जनों के श्रीचरणों की रज को अपने माथे पर श्रद्धापूर्वक धारण करे, बस।

(5) परमधाम का अधिकारी वही है,जिसमें ये लक्षण हों

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरंजनाः।
यान्त्यंजसाऽच्युत पद मच्युत–प्रिय बांधवाः।।

जो शान्त हो–जिसमें चंचलता न हो। जो समदर्शी हो– सबको एक दृष्टि से देखता हो अर्थात् किसी को शत्रु मित्र न बनाता हो। जो शरीर से तथा मन से सर्वथा शुद्ध हो। जो प्राणीमात्र को प्रसन्न रखता हो अर्थात् किसी को कष्ट न पहुँचाता हो तथा श्रीभगवत् भक्तों को अपना सगा भाई मानता हो। ऐसा जो भाग्यशाली साधक हो ,वह अनायास ही परमधाम में पहुँच जाता है।

(6) तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिल जन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति।।

जिसमें दुःख, कष्ट, विपत्ति, शर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि के

सहने की शक्ति हो तथा हृदय में समस्त प्राणीयों के प्रति पूर्ण दया, मैत्री और समता भरी हो, उससे श्रीप्राणनाथ अति शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं।

(7) निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं सम दर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रि रेणुभिः।।

श्रीप्राणनाथ स्वयं अपने श्रीमुख से भक्त की प्रशंसा करते हुए अपने सखा उद्धव से कह रहे हैं कि, हे उद्धव! मैं ऐसे भक्त के तो निरन्तर पीछे–पीछे चलता रहता हूँ, जिसमें ये सद्गुण हों। जो निरपेक्ष हो = किसी से कुछ लेने की कामना ही नहीं करता हो। मुनिं= जो मननशील हो। कैसी भी परिस्थिति में जिसकी शान्ती भंग न होती हो। निर्वैरं = जो किसी से भी बैर न करता हो। समदर्शनं= जो सबको एक समान देखता हो (यह अपना है, यह पराया है, यह शत्रु है, यह मित्र है, ऐसा भेदभाव जिसके मन में न हो)। ऐसे लक्षणों वाले भक्त के पीछे–पीछे मैं इस लोभ से डोलता रहता हूँ कि, इसके श्रीचरणों की रज उड़कर मेरे ऊपर पड़ जायेगी, तो मैं पवित्र हो जाऊँगा।

(245) विरक्त साधक के लिए– बचना हो तो बचे स्त्री सें
और
भिड़ना हो तो भिड़े सन्त से।

(246) प्रतिक्षण सावधानता ही सर्वोत्तम साधन है।

(247) साधक को सदैव विधर्म से बचते रहना चाहिए।

(248) साधक की प्रत्येक चेष्टा श्रीभगवत् प्रीत्यर्थ ही हो।

(249) साधक तर्क कुतर्क वितर्क न करे।

(250) साधक जो कुछ करे,सब कुछ साधन के लिए ही करे

(251) दृढ़ श्रद्धा, दैन्य, निष्कामता, आत्मीयता, अपना अस्तित्व मिटाना ये पाँच उत्थान के सूत्र हैं।

(252) अपनी प्रतिज्ञा का पालन, नियमों में दृढ़ता, और श्रीभगवान् का भरोसा, मनुष्य को सब प्रकार की आपत्तियों से बचा लेता है। नियमों में बँध जाना, यही साधक का परम कर्त्तव्य है।

(253) श्रीभगवत्–कृपाराज्य में कुछ भी असम्भव नहीं, जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।

(254) इतनीं भारी कृपा की सार्थकता तब, जब लक्ष्य केवल श्रीभगवत्–प्रेम बने।

(255) यह अलभ्य प्रेम मिले कैसें ? इसके लिए जीवनभर पूरी तत्परता से प्रयत्न करते रहना। अन्य कामना या वासना न बनने पाये।

(256) यह ध्यान रखना कि, प्रेमदेव अति ही कोमल वस्तु हैं, अतएव इनके विराजने के लिए हृदय को अति ही मृदु बनाना पड़ेगा।

(257) स्वभाव अति ही सरल बने, वाणी में कटुता छू न जाय, दृष्टि में अति सरसता रहे।

(258) पवित्रतम् वस्तु के लिए पवित्रतम् बनने का पूरा प्रयास करते रहना चाहिए।

(259) तपोमय जीवन–भूलि न देंहि कुमारग पाऊ।

सहने की शक्ति हो तथा हृदय में समस्त प्राणीयों के प्रति पूर्ण दया, मैत्री और समता भरी हो, उससे श्रीप्राणनाथ अति शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं।

(7) निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं सम दर्शनम्।

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रि रेणुभिः।।

श्रीप्राणनाथ स्वयं अपने श्रीमुख से भक्त की प्रशंसा करते हुए अपने सखा उद्धव से कह रहे हैं कि, हे उद्धव! मैं ऐसे भक्त के तो निरन्तर पीछे–पीछे चलता रहता हूँ, जिसमें ये सद्गुण हों। जो निरपेक्ष हो = किसी से कुछ लेने की कामना ही नहीं करता हो। मुनिं= जो मननशील हो। कैसी भी परिस्थिति में जिसकी शान्ती भंग न होती हो। निर्वैरं = जो किसी से भी बैर न करता हो। समदर्शनं= जो सबको एक समान देखता हो (यह अपना है, यह पराया है, यह शत्रु है, यह मित्र है, ऐसा भेदभाव जिसके मन में न हो)। ऐसे लक्षणों वाले भक्त के पीछे–पीछे मैं इस लोभ से डोलता रहता हूँ कि, इसके श्रीचरणों की रज उड़कर मेरे ऊपर पड़ जायेगी, तो मैं पवित्र हो जाऊँगा।

(245) विरक्त साधक के लिए– बचना हो तो बचे स्त्री सें

और

भिड़ना हो तो भिड़े सन्त से।

(246) प्रतिक्षण सावधानता ही सर्वोत्तम साधन है।

(247) साधक को सदैव विधर्म से बचते रहना चाहिए।

(248) साधक की प्रत्येक चेष्टा श्रीभगवत् प्रीत्यर्थ ही हो।

(249) साधक तर्क कुतर्क वितर्क न करे।

(250) साधक जो कुछ करे,सब कुछ साधन के लिए ही करे

(251) दृढ़ श्रद्धा, दैन्य, निष्कामता, आत्मीयता, अपना अस्तित्व मिटाना ये पाँच उत्थान के सूत्र हैं।

(252) अपनी प्रतिज्ञा का पालन, नियमों में दृढ़ता, और श्रीभगवान् का भरोसा, मनुष्य को सब प्रकार की आपत्तियों से बचा लेता है। नियमों में बँध जाना, यही साधक का परम कर्त्तव्य है।

(253) श्रीभगवत्–कृपाराज्य में कुछ भी असम्भव नहीं, जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।

(254) इतनीं भारी कृपा की सार्थकता तब, जब लक्ष्य केवल श्रीभगवत्–प्रेम बने।

(255) यह अलभ्य प्रेम मिले कैसें ? इसके लिए जीवनभर पूरी तत्परता से प्रयत्न करते रहना। अन्य कामना या वासना न बनने पाये।

(256) यह ध्यान रखना कि, प्रेमदेव अति ही कोमल वस्तु हैं, अतएव इनके विराजने के लिए हृदय को अति ही मृदु बनाना पड़ेगा।

(257) स्वभाव अति ही सरल बने, वाणी में कटुता छू न जाय, दृष्टि में अति सरसता रहे।

(258) पवित्रतम् वस्तु के लिए पवित्रतम् बनने का पूरा प्रयास करते रहना चाहिए।

(259) तपोमय जीवन–भूलि न देंहि कुमारग पाऊ।

(260) केवल प्रेम की ही कामना, लालसा, एवं वासना बने।

(261) रहनी अति ही उत्तम बने।

(262) एक ही दोहा में श्रीतुलसीदासजी ने सारी रहनी भर दी है। बड़े ही काम का है यह दोहाः——

तुलसी ममता राम सौं, समता सब संसार।
राग, न रोष, न दोष, दुख, दास भये भव पार।।

(263) श्री ब्रजभूमि प्रेममयी है। श्री ब्रजरज महारानी प्रेम प्रदाता हैं। शरीर में श्री ब्रजरज लगी ही रहनी चाहिए।

(264) यह निश्चय करले कि, मेरा प्रेमपथ में अब नया जन्म हुआ है।

(265) अपना शरीर तथा संसार भी प्रेम के लिए ही बने।

(266) श्रीजीवनधन के प्रसन्न करने के लिए, इनको सुख पहुँचाने के लिए प्रयत्न करना प्रेम ही है।

(267) इसके लिए श्रीमद्भागवत् जी ने उपाय सुझाया है,

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरि रन्यद् बिडम्बनम्।

अर्थात् श्रीभगवान् निष्काम भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं और तो सब व्यर्थ ही है।

(268) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी इसी का अनुवाद किया है–"रीझत राम सनेह निसोते"। अर्थात् निसोत प्रेम से (निर्मल प्रेम से) ही प्रभु रीझते हैं। अतएव लक्ष्य बने केवल श्रीभगवत्–प्रेम ही।

(269) है तो अति दुर्लभ वस्तु, तथापि श्रीजीवनधन के अनुग्रह से यदि कोई सच्चे प्रेमी सन्त मिल जायँ, तो उनमें

पूरी श्रद्धा करे। उनका ध्यान करे।

(270) जगते रहु छत्तीस ह्वै, राम चरण छः तीन।

आर्थात् जैसे हिन्दी की संख्या छत्तीस के दोनों अंकों का मुख एक दूसरे से विपरीत दिशा में होता है वैसे ही साधक का मुख भी संसार से विपरीत दिशा (भगवान) की ओर ही होना चाहिए और त्रेसठ के अंकों की भाँति अपने प्रभु के सम्मुख ही रहना चाहिए।

(271) जो उत्साह, जो ललसा, आज है, यह शिथिल न पडे, अपितु आयु के साथ साथ यह भी बढ़ते ही जायँ।

(272) इस पथ में अति आवश्यक हैं ये (11) बातें–

श्रद्धा, निरभिमानता, नम्रता, उदारता, क्षमा, प्रपंचराहित्य, सरलता विकारों का अभाव, स्वभाव संसोधन, सतत् सावधानता तथा महदनुग्रह की आकांक्षा।

(273) और बाधक हैं ये11 बातें—

तर्क, रूक्षता, प्रपंच, स्त्री, बालक, द्रव्य एवं वैभव, भोग्य कायरता, उत्साहहीनता, अकर्मण्यता, स्वभाव में चंचलता।

(274) चिन्तन में–इनकी कृपा का चिन्तन। अपने साधन का चिन्तन, अपनी रहनी का चिन्तन, अपने स्वभाव का चिन्तन तथा सतत् चिन्तन अपने लक्ष्य का।

(275) जीवन में सादगी रहे।

(276) समस्त साधु–समाज को सम्मान ही दे।

(277) व्यर्थ बात, परचर्चा, परनिन्दा, तथा विवाद न करे, कम बोले, भगवच्चर्चा ही करे।

(278) अध्यात्म पथ में परम–कर्त्तव्य है, श्रद्धावान् बनना।

(279) कोटिन जन्मों के सुकृतों का फल है, सात्विकी श्रद्धा की उपज।

(280) यदि उत्थान चाहे, तो पूर्ण–प्रण से श्रद्धा को अपनाये।

(281) सात्विकी श्रद्धा ही साधन तथा साध्य का मूल है।

(282) श्रीप्राणनाथ की अपार देन है, सात्विकी श्रद्धा।

(283) श्रद्धालु का पतन नहीं होता है।

(284) श्रद्धालु का जीवन एक आदर्श जीवन होता है।

(285) सात्विकी श्रद्धा में स्वार्थ की गन्ध भी नहीं होती है।

(286) पूरी तत्परता से, पूरी लगन और निष्ठा से श्रीसद्गुरु आज्ञापालन करना ही श्रद्धा है।

(287) श्रीसद्गुरु आज्ञा में ही अपना परम सौभाग्य और अपने जीवन की सफलता मानना ही सात्विकी श्रद्धा है।

(288) **श्रद्धा में सहायक हैः**–श्रद्धालु जनों का सम्पर्क, श्रद्धालु जनों में श्रद्धा करना, श्रद्धालु जनों को अपने से बहुत अधिक मानना, इनमें भाव रखना, इनका अनुयायी बनना, इनको अपना पथ प्रदर्शक मानना आदि–आदि।

(289) **श्रद्धा में भयंकर विघ्न हैः**– अपनी बुद्धि से काम लेना।

(290) हमारी श्रद्धा ठीक–ठीक चल रही है, इसकी पहचान है कि, उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती ही जाय।

(291) हम अध्यात्म में प्रवेश कर रहे हैं यह तब समझो, जब सात्विक श्रद्धा बढ़ती ही जाय, अतृप्ति होय, दैन्य उपजे।

(292) सात्विकी श्रद्धा जिस अन्तःकरण में रुक जाती है, वहाँ समस्त सद्गुण स्वयं ही आकर निवास करते हैं।

(293) श्रद्धा करे, श्रद्धा ही विचारे, श्रद्धा को सँभालता ही रहे, श्रद्धा के रुकने की तथा बढ़ने की युक्ति ही सोचता रहे। अबोध शिशु की भाँति निरन्तर अपनी श्रद्धा माँ की गोद में ही निश्चिन्त होकर खेलता किलकता रहे। फिर तो यह दयालु माँ अपने लाड़िले की ऐसे सँभाल करती हैं जैसे "जिमि बालकहिं राख महतारी"।

(294) श्री श्रद्धा महारानी के रोकने के लिए सहज युक्ति है–साधन में निष्ठा।

(295) श्रद्धा–साधन में लगाती है और साधन–श्रद्धा रोकने की पात्रता प्रदान करता है।

(296) यदि साधक साधन में प्रमाद करने लगे, तो श्रद्धा महारानी भाग जाती हैं।

(297) सात्विकी श्रद्धा जिसके अन्तःकरण में रुक जाती है, वह साधन में पूर्ण तत्पर हो जाता है तथा पूर्ण सदाचारी बन जाता है।

(298) श्रद्धा, साधन तथा सदाचार–यह त्रिपुटी कही जाती है, ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं।

(299) यथा ओराग्य प्राप्ति के लिए–अनूपान, औषधि तथा पथ्य–ये तीनों एक साथ काम में आते हैं। इनमें एक की कमी होते ही अन्य दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं। ठीक ऐसे ही अध्यात्म पथ में त्रिपुटी एक साथ रहनी चाहिए, तभी पूर्ण

लाभ होता है। अन्यथातो नहीं।

(300) एक ही वाक्य में यह समझ लेना चाहिए कि, जो तीनों एक साथ लेकर चलता है, वास्तव में वही साधक कहा जा सकता है।

(301) **साधन में सहायक हैं**–सात्विकी–श्रद्धा, पूर्णसदाचार, निरभिमानता, दीनता, निष्कामता–(भजन करके भजन ही माँगना, कोई संसारी पदार्थ नहीं माँगना), श्रीगुरुजनों की सेवा, दीनों की सहायता, महत्कृपा, समय का सदुपयोग, सद्ग्रंथ, सत्संग आदिक।

(302) **साधक के लिए परमावश्यक हैं**–दृष्टि संयम कम बोलना, आवश्यक ही सुनना, सात्विक मिताहार, विचार संयम, समय का सदुपयोग, स्वभाव में गम्भीरता, क्षमा, सरलता, उदारता, सहिष्णुता आदि आदि।

(303) विरक्त हो, तो स्त्री जाति मात्र से और गृहस्थ हो तो परस्त्री मात्र से कैसे भी सम्पर्क न रखे।

(304) बार–बार स्मरण करे–श्रीचैतन्य भगवान् की शिक्षा, श्रीहरिदासजी के प्रति। श्रीसमर्थजी की शिक्षा, अपने एक सेवक के प्रति। श्रीरामचरितमानस में–श्रीरघुनाथजी की शिक्षा श्रीनारदजी के प्रति। श्रीभागवत्जी की आज्ञा है कि, परस्त्री को अपनी मृत्यु ही समझे। रावण, कीचक की घटनायें आदि–आदि।

(305) अपनी साधना का अभिमान न कर बैठे।

(306) सन्तों की जीवनी अवश्य ही पढ़े।

(307) अपने स्वभाव को सुधारता ही रहे।

(308) अपने दुर्गुणों के हटाने में विलम्ब न करे।

(309) दो बातों का अभ्यास बढ़ावे– (1) श्रीनामजप निरन्तर होता रहे। (2) निरन्तर अपने आचरण का सुधार। इन दोनों बातों में प्रमाद न होने पाये।

(310) सर्वथा परस्त्री, परद्रव्य का परित्याग।

(311) इस बात का बहुत ही ध्यान रहे कि, हमसे किसी का अनिष्ट न होने पावे।

(312) जब तुम गृहस्थ हो, तो गृह के समस्त प्राणियों का पालन पोषण, सन्मार्ग में लगाना तथा श्रीभगवत् भक्त बनाना यह कर्त्तव्य है।

(313) सत् प्रयत्न द्वारा द्रव्य संचय करना गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है।

(314) हाँ, यह सब करते हुए भी इनमें ही आसक्त न हो जाय।

(315) सन्त श्रीकबीरदासजी का यह पद सदैव ध्यान रखना कि– रहना नहीं देश विराना है।

(316) जैसे योग्य डाक्टर अपने अस्पताल में आये हुए रोगीयों की आरोग्यता का पूरा ध्यान रखता है, अपना पूर्ण कर्त्तव्य भी पालन करता है, किन्तु किसी भी रोगी में आसक्त नहीं होता है। ऐसे ही अपनी रहनी बनावे।

(317) जिसने इतना बड़ा संसार रचा है, वह इसके पालन पोषण में पूर्ण–समर्थ है। तुम तो निमित्त मात्र हो।

(318) उचित यह है कि, संसारी वस्तुओं को प्रारब्ध की देन समझकर इनके यथा लाभ में ही सन्तोष करे। हाँ, पूर्ण–प्रयत्न करे अपने सच्चे घर के लिए सामान जुटाने में। सच्चा घर तो सदैव एक ही है–परलोक।

(319) जो अपने समस्त जीवन, समय, विद्या, चातुर्य, शरीर तथा अन्तःकरण को संसारी कामों में ही जुटाकर थका डालते हैं, वे परलोक के सुधारने से वंचित ही रह जाते हैं।

(320) सबके प्यारे, सबसे न्यारे, ऐसी रहनी रहिये।

(321) परलोक के सुधार को आगे के लिए मत टालते जाना। कौंन जानें भविष्य में कैसा समय आये ?

(322)इसलिए आजसे ही पूर्णतत्परता, पूर्णलगन, पूर्ण उत्साह तथा पूर्ण उल्लास से जुट पड़ो जीवन की सफलता में।

(323) हमारे कहने का यह तात्पर्य कभी भी नहीं कि, घर के प्राणियों का पालन–पोषण न करे, अथवा घर त्यागकर दिखाऊ विरक्त बन जाय। नहीं नहीं, कदापि नहीं। जब तक भोग्य है, रहे गृहस्थ में ही, किन्तु–अपने पूर्व जन्मों की कमाई संसारी कामों में ही खर्च न कर डाले।

(324) परदोष–दर्शन परनिन्दा द्रोह कठोरता तथा हिंसा, इनका सर्वथा परित्याग कर दे।

(325) जब संसारी काम करते हैं, तो पूरी लगन से जुट पड़ते हैं, ऐसे ही जब भजन में लगें, तो पूरे उल्लास से इस में भी जुटना चाहिए। ईमानदारी तो तब है, जब भजन में 100 गुना उत्साह अधिक हो।

(326) श्रद्धावान् को गम्भीर, सरल, पूर्ण–सदाचारी, सुशील, नम्र, गुरुजन सेवी, दीन सहायक, परोपकारी, उदार, एवं, क्षमाशील, बनने का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए।

(327) श्री जीवनधन में प्रेम बढ़ाने का ही पूर्ण–प्रयत्न करता रहे, इनसे कभी भी काम न करवाये। अर्थात् अपने भजन साधन के बदले कोई संसारी वस्तु न माँग बैठे। ये तो केवल आत्मीयता तथा प्रियता के ही पात्र हैं।

(328) परम कल्याण के लिए जीवन में दो बात परम कर्त्तव्य हैं– (1) सुख–दुख, हानि–लाभ, मान–अपमान, तथा संयोग वियोग आदिक द्वन्द्व जो आ जायँ, उनको सहता जाय और दूसरी बात, आगे के लिए अपना मार्ग, परिमार्जित तथा उज्ज्वल बनाता जाय।

(329) कैसी भी परिस्थिति आ जाय, परन्तु परस्पर में वैमनष्यता न होने पाये।

(330) यदि किंचित भी अवकास मिले, तो भजन करने में न चूके। इसके लिए तो इस प्रकार पूरी ताक में ही बैठा रहे, जिस प्रकार सरोवर के किनारे बगुला जल के जीवों को पकड़ने की ताक में बैठा रहता है और बाज पक्षियों पर एकसाथ झपट्टा मारकर उन्हें पकड़ लेता है।

(331) इस जीवन को अधिक झंझटों में न फँसाये।

(332) उतना ही काम बढ़ाये जिसमें शान्ति रहे, पाप न करना पड़े, छल न करना पड़े, दूसरे की जीविका न हरनी पड़े, स्वभाव में विकार न बढ़ाने पड़ें, भजन में बाधा न पड़े,

और अधिक लाभ–हानि की सम्भावना न हो, यही विचारता रहे तथा पूर्ण–प्रयत्न भी करता रहे कि, इसी जीवन में भजन बन जाय।

(333) व्यर्थ बोलना, व्यर्थ देखना, व्यर्थ सुनना तथा व्यर्थ विचारना, इनसे साधक को सदैव बचते ही रहना चाहिए।

(334) यदि साधक इस उपदेशामृत के पालन में दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाय, तो लोक तथा परलोक दोनों सहज में ही सुधर जायेंगे।

(335) **सद्वाक्य पालन की विधिः**–प्रथम सद्वाक्य को पढ़े अथवा सुने, तत्पश्चात् बिचार करे, फिर क्रमशः शनैः शनैः धारणा में लावे। तदनु शुभ अवसर में पालन करने की प्रतिज्ञा करे, फिर प्राणप्रण से पालन करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर डाले तथा उस प्रतिज्ञा को पूर्ण–प्रयत्न से पालन करे।

(336) **शुभ अवसरः**–श्रीराम नवमी, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, श्री राधाष्टमी, मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी, माघ शुक्ला में श्रीगुरुवार तथा कार्तिक शुक्ला षष्ठी, श्री गुरुपूर्णिमा, अक्षय तृतीया, अक्षय नवमी, रवि पुष्य योग, श्रीगंगा दशहरा आदि आदि।

(337) **परम कल्याण का मार्गः**–श्रीसद्गुरु भगवान् में पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण भगवद्भाव किन्तु अन्य महात्माओं में अवज्ञा बुद्धि न हो। अपने इष्ट में पूर्णभाव हो, इष्ट का भजन, पूजन, वन्दन, प्रार्थना, ध्यान तथा सानिध्य बढ़ाता ही जाय, इनसे प्रेम करने का अभ्यास करे। आत्मीयता का अनुभव करे। उत्तम प्रकार तो यही है कि, इनके लिए अपना सर्वस्व

समर्पण करता जाय। इनसे कुछ इच्छा न करे। तथापि यदि कुछ याचना ही करनी पड़े, तो इनसे ही करे। अन्य साधकों के श्रीभगवान तथा अपने श्रीभगवान सब एक ही हैं, ऐसा भाव रखना। श्रीभगवान के किसी स्वरूप में तिरस्कार बुद्धि न होने पाये। एक ही श्रीभगवान् के ये सब स्वरुप हैं, ऐसा विचार रखे। किसी भी भावुक के भाव में भूलकर भी साधारण भाव न लावे। दूसरे के भजन में सहायता करना, सर्वोत्तम पुण्य है। किसी के भी साधन की आलोचना न करे। एक ही श्रीभगवान की प्राप्ति के लिए अनेकों मार्ग हैं। श्रीभगवत् प्राप्ति सभी को हो सकती है, यही विचार रखना। महत् अपराध से बहुत ही बचता रहे। जो भावुक श्रीभगवान के जिस रूप की भावना करता है, अवसर आने पर श्री भगवान उस भावुक को उसी रूप से दर्शन देते हैं। यह सिद्धान्त हैः—

यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति।
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।।

श्रीभगवद् के विषय में कभी भी विवाद न करे। समय, द्रव्य, शरीर, इन्द्रिय परिकर, तथा अन्तःकरण इन सभी को क्रमशः श्रीभगवत् की ओर ही झुकाता रहे, इन सभी की सार्थकता इसी में है। जहाँ—जहाँ अपना मोह हो, उन सभी को श्री भगवान में समर्पित करता जाय। इनसे (प्रभुसे) यही कहता रहे कि—"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"। यह महावाक्य साधक के बड़े ही काम का है—

"सबु करि माँगहिं एक फलु राम चरन रति होउ"।

श्रीप्राणनाथ से सम्बन्ध जोर लेना, यही बड़ी भारी बुद्धिमत्ता है। साधक का परम कर्त्तव्य यही है कि, शीघ्राति शीघ्र श्रीजीवनधन से कोई सम्बन्ध निश्चित कर डाले। माता पिता आदिक गुरुजनों में श्रद्धा रखे। इनकी आज्ञा पालन करे तथा इनकी सेवा में अपना परम सौभाग्य मानें।

"जननी सम जानहिं परनारी"

इस महावाक्य के पालन का बहुत ही ध्यान रखे। अपनी से बड़ी अवस्था वालीयों में मातृभाव, बराबर वालीयों में भगिनी भाव तथा छोटियों में पुत्रीभाव से ही सदैव बर्ताव करे। परस्त्री–स्पर्श महापाप ही समझे। **यह गृहस्थ के लिए निर्देश है**:–चालीस वर्ष की अवस्था से पीछे बह्मचर्य के पालन का अधिक विचार रखे, अत्यन्त परिश्रम से, छल–कपट रहित शुद्धता पूर्वक कमाये हुए अन्न से ही अपना तथा अपने कुटुम्ब का पालन करे। शुद्ध अन्न से शुद्ध मन बनता है। अपनी कमाई का ही भरोसा रखे। परद्रव्य से सर्वथा बचता ही रहे। अपने कुटुम्बियों से स्वधर्म–पालन कराता रहे। समझाकर, लोभ देकर, जैसे बने अपने जनों से श्रीभगवत् आराधना अवश्य ही कराता रहे। देने का विचार ही अधिक रखे, लेने का कम। सेवा करने का ही विचार अधिक रखे, लेने का कम। सम्मान देने का ही विचार अधिक रखे, सम्मान पाने का कम। सभी को सुख पहुचाने का ही विचार रखे। मित्र भलेही चाहें अनेकों हों किन्तु

श्रीभगवत् सृष्टि में अपना एक भी शत्रु न बनावे। दूसरे का अनिष्ट कभी भी न करे और नाही इसके लिए किसी को अनुमति ही दे। मन में भी कभी न सोचे। जहाँ तक हो सके, उपकार ही करे, इसी के लिए दूसरे को अनुमति दे, यही सोचे। दो बातों को सदा भुलाता रहे–एक तो अपने से यदि किसी का उपकार बन गया हो और दूसरे किसी ने अपने साथ कोई अपकार कर दिया हो। दो बातों को कभी भी न भूले–एक तो अपने साथ यदि किसी नें उपकार कर दिया हो और दूसरे दुर्भाग्य से यदि अपने से किसी का अपकार बन गया हो। जीवनभर दुःख मानता रहे अपनी भूल के लिए, पश्चाताप करे, सम्भव हो तो क्षमा याचना कर ले। त्यागने के योग्य दुर्गुण हैं और धारण करने के योग्य सद्गुण हैं। अहंकार न आने पाये। सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय अवश्य ही करे। योग्य पुरुषों की जीवनी अवश्य ही पढ़े तथा उनके सद्गुणों को अपने में धारण करने का अभ्यास करे। दीनता का भाव बढ़ाता ही रहे। एक–एक क्षण को बहुत ही सावधानी से परमावश्यक सत्कार्यों में ही व्यतीत करने का अभ्यास करे। इन्द्रियों की भोगलिप्सा कम करता जाय। साधन के लिए स्वस्थ शरीर की परमावश्यकता है। अतएव स्वास्थ्य का बहुत ही ध्यान रखे। चिन्ता, शोकादिक मन में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। अतएव साधक को इनसे बहुत ही बचना चाहिए। समस्त शुभ कर्मों का, समस्त सद् विचारों का, स्वाध्याय तथा सत्संग आदिकों का फल एक

यही है कि, भजन करने की रुचि उत्पन्न हो। चाहे माला की संख्या से हो, चाहे घण्टों के विचार से हो। भजन का नियम अवश्य रहे। जितना नियम भजन के लिए बनावे, उसको नित्य ही पूर्ण कर डाले। भजन में प्रमाद, आलस्य तथा उपेक्षा न होने पावे। भजन करके भजन ही माँगे। भजन से तृप्त न होने पावे। जितना क्षण भजन में व्यतीत हो, उसी क्षण को सार्थक समझे। भजन में रुचि बढ़ाता ही रहे। बड़े प्रेम के साथ भजन करे। श्रीभगवत् नाम के उच्चारण मे शीघ्रता न करे। भजन के समय अन्य कार्यों का विचार न उठने पाये। वास्तव में जीवन तो इसी क्षण है। ऐसा विचारकर बड़े उत्साह से भजन करे। जैसा चाहिये, वैसा भजन मैं नहीं कर पाया, यह खेद रहे, किन्तु अपनी ओर से भजन करने में कभी भी त्रुटि न होने पाये।

"पुलक गात हिय सिय रघुवीरू।
जीह नाम जप लोचन नीरू"।।

ऐसा भजन बने, तब समझे कि, भजन हुआ! सुख मिले भजन करने से और दुःख का कारण केवल एक ही हो, भजन में कमी हो जाना। ऐसा भाव बने कि, निरन्तर भजन ही करूँ और कुछ न करना–धरना पड़े। जब हठीला मन न मानें, याचना पर ही उतारू हो जाय, तब यही माँगे कि, हे मेरे जीवन–सर्वस्व! मुझ से अपना भजन करा लो। वास्तव में मुक्तिप्रद सच्ची याचना तो केवल यही है। अन्य याचनायें तो भव–बन्धन ही दृढ़ करायेंगी। सर्वोत्तम–जीवन तो यही

है कि, बना रहे संसारी, किन्तु अन्तःकरण में प्रियतम से (प्रभु से) मिलने की उत्कट उत्कण्ठा उठती ही रहे। ऐसे उच्च भावों को यथा–शक्ति प्रकट न होने दे। केवल पीकर चुपचाप ही बैठ जाय। सुअवसर को प्रमाद में कभी न आने दे। इसकी सार्थकता श्रीप्राणनाथ के रिझाने में ही है। यह स्मरण रखे कि–मैं बहुत कुछ कर सकता हूँ। यदि न करूँ, तो यह मेरी भारी भूल है। परिस्थिति बस जो कुछ सामने आ जाय, उसको श्रीभगवान की देन समझकर सहर्ष स्वीकार करते हुए, श्रीभगवत्–स्मरण को सँभालते हुए संसार की यात्रा पूर्ण करनी चाहिए। अत्यन्त विनीत भाव से श्रीप्राणनाथ की सन्निधि में केवल एक यही याचना हो–

"अब करि कृपा देहु वर एहू।
निजपद सरसिज सहज सनेहू"।।

(338) इस विश्व प्रपंच में सत् क्या है और असत् क्या है ? इसको ठीक–ठीक जान लेना ही ज्ञान है।

(339) अन्तःकरण में प्रियतम के अतिरिक्त और कोई वासना न रहे–यह है वैराग्य।

(340) अपने इष्ट को जो प्रिय हो तथा जिससे वे प्रसन्न होते हों, वही करना ही है–भक्ति।

(341) अपने और प्रियतम के मध्य जो उपस्थित हो जाय, उसका त्याग करना ही है–त्याग।

(342) जो असत् जानने में आया हो, उससे चित्त का सर्वथा हट जाना ही है–वैराग्य। और उसको तन–मन–बचन से

सर्वथा त्याग देना ही है—त्याग।

(343) अब बचा सत्। इसको पाने के लिए प्रयत्न करना ही है—भक्ति।

(344) सेवा में निष्कामता तथा भाव का होना परमावश्यक है। प्रियतम के सुखार्थ जो किया जाता है, वही है सेवा।

(345) जाग्रत की तो क्या चले, स्वप्न में भी प्रियतम के अतिरिक्त दूसरी वस्तु न आने पाये। सब स्थिति, परिस्थितियों में "केवल और केवल" प्रियतम ही नैंन, मन, प्राण, और तन में समाये रहें। यहाँ तक कि, अपने शरीर की भी सुध बुध न रहे, इसी स्थिति का नाम है सिद्धावस्था।

(346) जहाँ जाकर समस्त संकल्प और विकल्पों का उठना भी सर्वथा बन्द हो जाता हो, वही है प्रियतम का देश।

(347) भजनानन्द तो श्रीभगवत् प्राप्ति से भी बढ़कर है। इसीलिए भजन का आनन्द तो भजन करने वाले को अवश्य ही प्राप्त होता है। अब श्रीभगवत् प्राप्ति कब हो ? अनुभूति कब हो ? ये श्रीभगवत् इच्छा पर निर्भर है। जब ये (प्रभु) चाहें तब।

(348) निन्दा करने की क्या बात, सुनना भी पाप है।

(349) सभी अनर्थों का मूल है, परदोष—दर्शन। इसी से विरोध, घृणा, बैर, आदिक उत्पन्न होते हैं।

(350) बहिर्मुखता, व्यवहार में अति दक्षता, जन संसर्ग में अभिरुचि, ये सब आत्मरति नहीं होने देते हैं।

(351) अवसर पर सावधान रहना ही यथार्थ सावधानता है।

(352) प्रेम–प्राप्ति के लिए तीव्रतम वैराग्य, सतत् इष्ट चिन्तन, अभिमान और ममता का सर्वथा त्याग परमावश्यक है।

(353) स्वार्थ में विवेक और लोभ में अवधि नहीं होती है।

(354) औषधि में पथ्य, प्रेम में तथ्य और व्रत में नियम की परमावश्यकता है।

(355) वयस, वपु, विद्या और वित्त में ही वासना का वास होता है।

(356) वासना यदि सत्कर्म में लग जाय, तो सद्–वासना बन जाती है और यदि असत्–कर्म में लग जाय, तो असत् वासना बन जाती है।

(357) वासना को यदि विवेक पूर्वक व्यवहार किया जाय, तो वह उपासना बन जाती है।

(358) जिसको प्रमाद करने में विलम्ब नहीं, पाप करने में संकोच नहीं और अनादर करने में विचार नहीं, वह राजसी प्रकृति का ही माना जाता है।

(359) औषधि जैसा आहार, ऋषि जैसा आचार, वेद तथा तत्व का विचार, इस पथ में परमावश्यक है।

(360) जो सतत् श्रीभगवत्–चिन्तन करता रहता है, उसको अन्त समय में श्रीभगवत्–स्मृति बनी ही रहती है।

(361) जब तक प्रबल उत्कण्ठा न हो, तब तक ही साधन कठिन जान पड़ता है। प्रबल–उत्कण्ठा होते ही सब साधन सुलभ हो जाता है।

(362) चित्त का दुराग्रह, इन्द्रियों का अनिग्रह और वित्त का

संग्रह साधक के काल हैं।

(363) जो श्रीभगवान् से विमुख करे, वही विषय है।

(364) दूसरी किसी भी वस्तु की चाह जिसको मिटा न सके, वही है सच्ची चाह।

(365) समय, शक्ति और सम्पत्ति का उपयोग व्यर्थ, स्वार्थ या परार्थ में ही होता है। यदि व्यर्थ में होगा, तो अति शीघ्र नष्ट हो जायेगा, स्वार्थ में होगा तो भोग्य प्राप्त करा देगा और यदि परार्थ में होगा, तो अभ्युदय (कल्याणकारी) हो जायेगा।

(366) किसी से कोई विरोध और कोई सत असत वासना लेकर न मरे, मृत्यु से पूर्व ही इनको मिटा दे। दोनों प्रेम की बाधक हैं।

(367) कोई शत्रु नहीं। सहिष्णुता की पराकाष्ठा हो जाय। कोई गाली दे, निन्दा करे, मारपीट करे ,सब सहले। अजात शत्रु बने।

(368) बुद्धि जब तपोमयी और विवेकमयी बनती है, तभी श्री भगवत् रति की पात्रता आती है। तपोमयी का अर्थ है–भोग विरुद्ध और विवेकमयी का अर्थ है–परदोष दर्शन रहित। जब इन दोनों की सिद्धावस्था होती है, तीभी प्रेम राज्य में प्रवेश हो पाता है।

(369) माया से तरने के लिए दृढ़ महदाश्रय और महापुरुष की आज्ञा का प्राणपण से पालन ही, एकमात्र उपाय है। दूसरा कोई उपाय नहीं।

(370) भक्ति पथ का पथिक भूलकर भी कुमार्ग में पैर नहीं

रखता है। कारण कि उसकी दृष्टि निरन्तर अपने मन पर ही रहती है कि, वह अब क्या चाह रहा है और कहाँ विचरण कर रहा है ? विषयों की ओर पैर बढ़ाने से पहले ही वह उसे रोक लेता है या यों कहिये कि, विषयों की ओर जाने ही नहीं देता है। उसका एक मात्र विषय तो केवल और केवल श्रीभगवान ही होते हैं।

(371) जो बैर को भी प्रेम में परिवर्तित कर दे, सोई वैष्णव।

(372) श्रीभगवान् में भाव का प्रतिक्षण बढ़ते रहना ही रति है

(373) भक्ति करने वाले को एक ही अन्तराय है—महद् अपराध। इसका कोई प्रायश्चित भी नहीं हैं।

(374) जब प्रपंच बढ़ता है, तब प्रमाद बनता है। इसलिए प्रपंच ही प्रमाद का जनक है। प्रमाद ही मोह तथा मृत्यु है। प्रपंच से बचना ही मुक्ति है।

(375) एकमात्र सन्त ही शान्ति, समता, सरलता, सन्तोष और स्नेह के धाम हैं।

(376) आश्रय और आशय केवल श्रीभगवान् का ही हो, तभी साधन सफल होता है।

(377) मन पूर्ण रूप से शान्त तो तभी होता है, जब केवल अपने श्रीसद्‌गुरुदेव और इष्ट को ही अपना जीवन सर्वस्व निश्चय कर लेता है। इस निश्चय में दृढ़ता होनी चाहिए। उद्वेग तो अपने किये से ही होता है।

(378) जब सहिष्णुता, क्षमा, धृति, दीनता, निरभिमानता, आदिक हमारा स्वभाव बन जाते हैं, तभी हमारी प्रत्येक

क्रिया, चेष्टा और विचार पवित्र बन पाते हैं। और तभी स्वभाव दिन व दिन सरलाति सरल बनता जाता है। जब स्वभाव अति सरल और पवित्रतम बन जाता है, तभी जीवन पवित्रतम बन पाता है। पवित्रतम जीवन ही श्री जीवनधन से प्रेम करने का अधिकारी होता है।

(379) लक्ष्य में पूरी दृढ़ता हो तथा सांसारिक कोई चाह न हो। अपने आपको और अपने पूरे संसार को इनकी सेवा में ही अर्पण कर दे। पूरी सृष्टि में अपने लिए कोई है, तो "केवल और केवल" एक श्रीभगवान् ही हैं। तब समझे कि, अब मेरा मुख इनकी ओर (प्रभु की ओर) हुआ है। अभी इस मार्ग में प्रवेश नहीं माना जायगा। प्रवेश तो तब होगा, जब कोई महापुरुष बाँह पकड़कर ले जायेंगे। हाँ, ऐसी स्थिति जीव की जब बनती है, तब प्रभु किसी न किसी सन्त को उस जीव की बाँह पकड़ने भेज ही देते हैं। सन्त के मिलते ही जीव अपने जीवनधन प्रभु से मिलने के लिए तड़फता है, तब सन्त उसकी बाँह पकड़कर अपने प्रियतम की ओर ले भागते हैं। उस स्थिति में बड़ी द्रुत गति से जीव का मार्ग तय होता है और अपने प्राणनाथ की परम सुखद गोद में जा बैठता है। जहाँ पहुँचकर सारी उपासना और वासनाओं की इति–श्री हो जाती है। अर्थात् समाप्ति ही हो जाती है।

(380) साधन जो करे, पूर्ण–तत्परता से करे, आलस्य, उपेक्षा एवं प्रमाद छू न जाय।

(381) जो साधन करे, वह सुरक्षित रहे। कोई कामना न

बने, भोग्य न बढ़ने पाये। सादगी अपनाये। जहाँ तक बने विलासिता न बढ़ावे। सादा आहार, सादा वस्त्र, सादा स्थान, तथा अपने को साधारण ही मानना। अपने को त्यागी, वैरागी, तपसी, ज्ञानी, भजनानन्दी तथा प्रेमी न जँचावे। दिखाने के लिए कोई भी साधन न करे। संसारी प्राणीयों के साथ व्यवहार मात्र पालन करे। आसक्ति कहीं भी न होने पावे। साथ ही सब यही समझें कि, हमसे बड़ा प्रेम करते हैं।"सबके प्यारे सब से न्यारे, ऐसी रहनी रहिये" सर्वथा मिटाना है व्यर्थत्व। स्वभाव अति–उत्तम बनें। सतत् यही करना, यही कहना, यही सुनना, यही विचारना।

(382) **निम्नलिखित पाँचों को पूर्ण**–तत्परता से पालन करे। (1) विश्व में कोई भी शत्रु न रह जाय। (2) स्वभाव अति उत्तम बने। (3) कालाव्यर्थत्व (समय केवल श्रीभगवत् सम्बन्धी कार्यों मे ही व्यतीत हो) (4) निरन्तर श्रीनाम जप–(कुछ भी करते हों, जिह्वा श्रीनाम जप ही करती रहे) (5) लक्ष्य में दृढ़ता।

(383) अपने नियम का सदा स्मरण रहे कि, मुझे ये ये नियम पालन करने हैं। जब सभी नियम अपने नेत्रों के सम्मुख नाँचते रहेंगे तो नियम में त्रुटि नहीं होगी। गड़बड़ी तो तब होती है जब नियमों का विस्मरण हो जाता है। नियम–पालन से भी नियम चिन्तन का विशेष महत्व है।

(384) तीन प्रकार का चिन्तन वर्जित हैः–परदोष चिन्तन, विषय चिन्तन और व्यर्थ चिन्तन। इनमें व्यर्थ चिन्तन अत्यन्त

ही कठिन पड़ता है। इस पर विशेष ध्यान रखें। व्यर्थ चिन्तन से बचने की युक्ति निकालकर पूर्ण–तत्परता से काम में लेना है। घबराने की बात नहीं हैं। धैर्य पूर्वक काम करने से क्या नहीं हो सकता है ? लग पड़े सच्चाई से, सफलता तो मिलेगी ही।

(385) भोग, वासना और भक्ति एक साथ नहीं रह सकते हैं। जब तक किसी संसारी वस्तु में रस आता है, तब तक श्रीभगवत्–प्रेम कहाँ ?

(386) वैष्णव वही, जो कभी भी श्रीभगवान् की आशा नहीं त्यागे और कभी भी मनुष्य की आशा न रखे।

(387) आसक्ति तथा मोह का नाश करने वाला शस्त्र है विवेक। अर्थात् भगवान में मोह का हो जाना।

(388) साधु वही जो कभी भी साधन से उदासीन नहीं होता हो, कभी भी चिन्ता नहीं करता हो और सदा–सर्वदा प्रसन्न बदन, निर्भय और निश्चिन्त ही रहता हो।

(389) भक्ति ज्ञान वैराग्य

स्नेह समझ समर्पण

अर्थात् भक्ति में स्नेह, ज्ञान में समझ और वैराग्य में समर्पण की परमावश्यकता है। स्नेह के बिना भक्ति, समझ के बिना ज्ञान और समर्पण के बिना वैराग्य अधूरा ही माना जाता है।

(390) साधक अपने को देखे कि, हम जी रहे हैं किसके लिए ? अपने लिए ? संसार के लिए ? अथवा श्री भगवान्

के लिए ?

(391) भक्ति की तीन क्रिया होती हैं:—सेवा, स्नेह, समर्पण।

(392) साधक न कुछ चाहे, न कुछ रखे और न किसी को अपनावे, तो अवश्य ही प्राप्त होगा—श्रीभगवत्—प्रेम।

(393) अवकाश ही अनर्थ का मूल है।

(394) साधक को बहिर्मुखी बनाने में नेत्र प्रथम हैं और अन्तर्मुखी बनाने में कान प्रथम हैं। जिस किसी के अन्तःकरण में आज तक श्रीभगवान् और संसार का प्रवेश हुआ है, इन दोनों मार्गों (नेत्र और कानों) से ही हुआ है। इसलिए इनको बहुत ही संभाले। नेत्रों से न संसार को देखे और न कानों से संसार को सुने। जब भी देखे और सुने, तब केवल श्रीभगवान् और श्रीभगवत्—जनों को तथा इनके पवित्र यश को ही देखे सुने।

(395) बुद्धि जब यह दृढ़ निश्चय कर लेती है कि, केवल श्रीभगवान् ही मेरे सर्वस्व हैं और कोई मेरा नहीं हैं। तभी इसमें प्रियतम का प्रवेश होता है और तभी संसार का बन्धन टूटता है।

(396) साधक के जीवन में (प्रेमपथ के पथिक के जीवन में) व्यवहार शुद्धि, नियम निष्ठा और प्रतिज्ञा पालन की परम आवश्यकता है।

(397) "श्रद्धा" सकामी उपासक को नहीं होती क्योंकि वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए निष्कामी से भी कई गुनी अधिक श्रद्धा का अभिनय करता है, परन्तु जब उसकी

स्वार्थ पूर्ति नहीं होती तब एक क्षण में ही श्रद्धा ऐसे टूट जाती है जैसे मानो कभी हुई ही न हो। एक बात घाटे की यह और बन जाती है कि फिर वह स्वार्थी जीव सन्त से करोड़ों शत्रुओं के समान शत्रुता का व्यवहार और करने लग जाता है, जो उसके जीवन में भयंकर संकटों के आमंत्रण का कारण बनकर ही उतर पड़ता है।

(398) प्रथम तथा प्रधान वस्तु है प्रियतम में आत्मीयता।

(399) प्राणी—मात्र की अन्तरात्मा है, परमात्मा (श्रीभगवान्)। तब तो प्राणी मात्र के ये ही आत्मीय हुये। अपने आत्मीय से आत्मीयता होनी ही चाहिए। न होना ही अनर्थ, महाअनर्थ है। जब यह निश्चय हो जाता है कि, केवल ये ही हमारे हैं, तब तो सहज ही इनमें ममता, आसक्ति, मोह हो ही जाते हैं। इसमें देर नहीं लगती है, कारण कि ममता, आसक्ति आदिक प्रवृत्ति की क्रिया हैं, जो जीव का जन्म जन्म का स्वभाव है। देर लगती है, निवृत्ति मार्ग के साधन में। प्रभु में आसक्ति,ममता, मोह होना ही प्रेम है। जब प्रेम हो जाता है, तब कुछ करना नहीं पड़ता। स्वतः ही सब कुछ होता रहता है। अतः अपना यही परम कर्त्तव्य बनता है कि, अपने जीवनधन से निरन्तर आत्मीयता करने का अभ्यास बढ़ाता रहे।

(400) यदि कोई प्रशंसा करे, तो समझना चहिए कि, यह सुझाव है, तुम ऐसे बनो और अपने को वैसा ही बनाने में लग जाना चहिए। यदि कोई निन्दा करे, तो यह समझे कि, अब यह दोष हम में आने ही नहीं पावे।
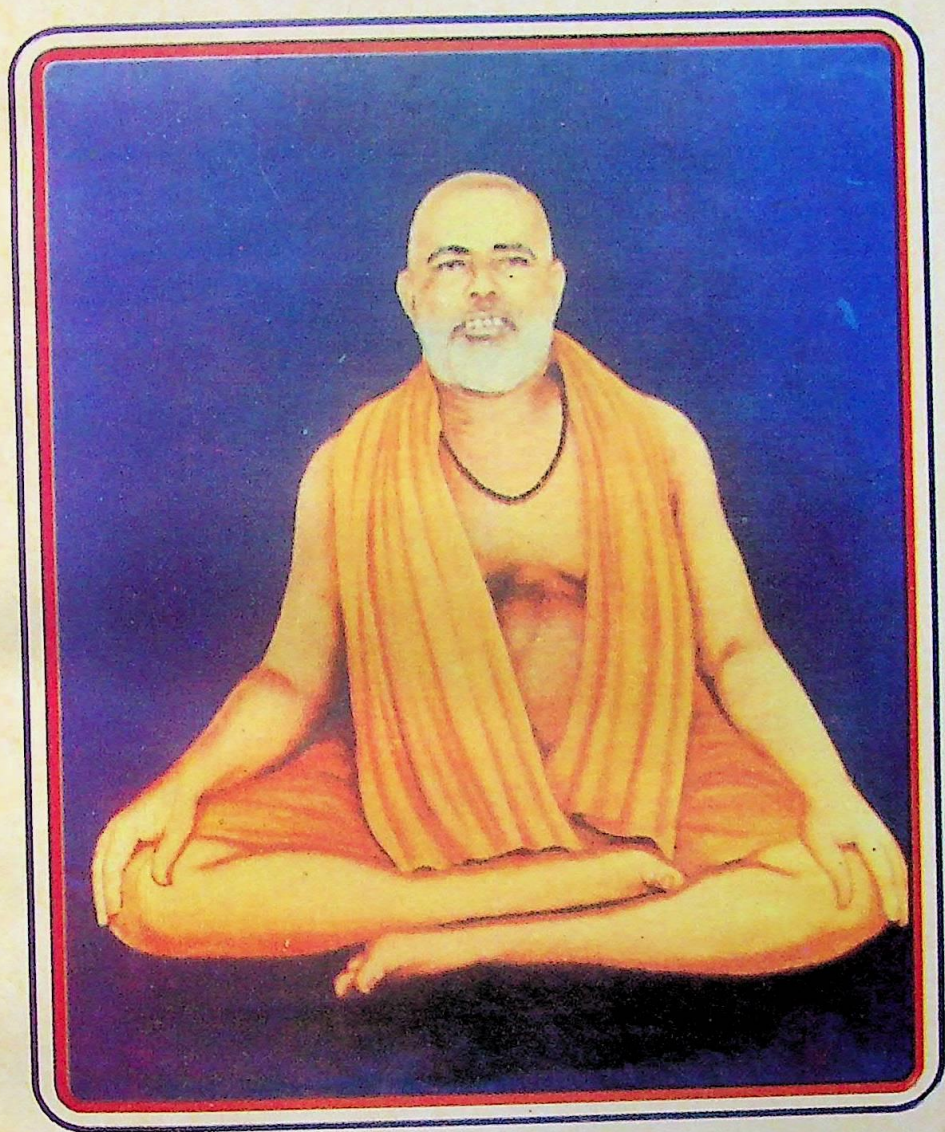
प्रातः स्मरणीय परम पूज्य पंडित जी महाराज के प्रेरणा स्रोत
सद्गुरुदेव श्री उड़िया बाबा जी महाराज

(401) प्रेम चाहता है बलिदान। बलिदान का अर्थ है–अपने को तथा अपने संसार को प्रियतम के लिए ही अर्पण कर देना। प्रियतम के अतिरिक्त अपने लिए कुछ न रह जाय। दूसरा अर्थ है–समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर इनमें (प्रभुमें) ही लगाना। अर्थात् अपनी समस्त इन्द्रियों का विषय एकमात्र श्रीजीवनधन ही रह जायँ। तब होता है प्रेम।

(402) केवल श्रीभगवत् सम्बन्ध से ही किसी से सम्बन्ध हो। अपने शरीर तथा स्वार्थ के कारण नहीं।

(403) प्रेम की ही कामना, प्रेम की ही लालसा हो। इसी के लिए पूरा प्रयत्न हो। प्रयत्न हो किसी प्रेमी सन्त की आज्ञा अनुसार। सन्त के प्रति भाव बढ़ावे। कोई सन्त कृपा करके दें, तभी यह अलभ्य वस्तु प्राप्त होती है। रातदिन इसी का चिन्तन। यह न भूले कि, शरीर इसमें पूर्ण बाधक है। जब आठौ प्रहर तल्लीनता रहती है, तब होता है प्रेम।

(404) ममता होनी चाहिए तीन जगह– हरि, गुरु और हरिजनों में।

(405) भजन–साधन के दो ही फल हैं–साधन काल में तज्जन्य सुख की अनुभूति और अन्त में भगवत्प्राप्ति।

(406) भजन त्रिगुणातीत वस्तु है। यह गुण नहीं चाहता है। क्यौंकि तीनों गुण भजन में बाधक हैं। रज,तम की बाधकता तो स्पष्ट है ही, इसमें कुछ कहना ही नहीं। रही सत्व की बात, सो इस कारण बाधक है कि, इसमें सात्विक–विघ्न धार्मिक कार्यों के बहाने से आते हैं। इस बहाने से यह

साधक को प्रपंच में फँसा देते हैं। जब साधक प्रपंच में फँस जाता है, तब (यह धार्मिक कार्य ही तो हैं), ऐसा मानकर उनको छोड़ नहीं पाता है। इस कारण सत्व भी बाधक है।

(407) प्रपंच इतना प्रबल–शत्रु है कि, जो इसके पन्जें में एकबार कैसे भी फँस गया, फिर इससे छुटकारा पाना बहुत ही कठिन है।

(408) विकार तथा हृदयस्थ वासना तभी नष्ट होते हैं, जब जीव पूर्णरूपेण प्रेम–सिन्धु में डूब जाता है। बिना प्रेमसिन्धु में डूबे, इनसे बचना कठिन ही दीखता है। हाँ, साधक यही कर सकता है कि, कोई नवीन वासना न बनने पावे। तथा जैसे ही कोई विकार उठे, तैसे ही उसको श्री सद्‌गुरु भगवान् की आज्ञाओं के अवलम्ब से मिटाने का प्रयत्न करे। जिससे उनके बढ़ने की आशंका ही समाप्त हो जाय।

(409) गहरी खोज (आत्मनिरीक्षण) करे। जब दीख जाय, तब इस हृदयस्थ वासना को वैराग्य रूपी शस्त्र से नष्ट कर डाले।

(410) साधन में तीन बात होनी चाहिए–श्रीसद्‌गरु प्रदत्त, शास्त्र प्रतिपादित तथा सन्त–आचरित। यदि ये तीनों हैं, तो श्रीभगवत्–प्राप्ति में कोई संशय नहीं, अवश्य ही होगी।

(411) भक्ति मार्ग में भाव ही प्रधान हैं। भावयुक्त–साधन ही फलदायक होता है। न जानें प्रियतम किस भाव से रीझ जायँ। इनकी ये जानें, साधक तो श्रीसद्‌गुरु प्रदत्त और शास्त्र सम्मत साधन ही करे। और मन में कोई इतर चाह

न उठने दे, नहीं तो सब साधन उसी में खर्च हो जायेगा। फिर भजन करेगा, प्रतिष्ठा होगी ही। जन समुदाय उसके पास पहुँचेगा ही। इनसे बड़ी सावधानी से बचता रहे।

(412) स्वदोष–दर्शन, परदोष अदर्शन, पर सद्‌गुण और स्वदोष प्रदर्शन करके चित्त में प्रसन्नता हो, तो श्रीभगवान् हृदय में प्रगट होते हैं।

(413) जो वस्तु नहीं हैं अर्थात् अनित्य है–जैसे जगत और शरीर। माया इनको तो दिखाती है और जो वस्तु नित्य है' जैसे आत्मा और परमात्मा। इनको अपने आवरण से ढक देती है अर्थात् इनका ज्ञान नहीं होने देती है।

(414) **माया के कार्य दो प्रकार के हैं**–एक आभास और दूसरे तम। जैसे आकाश में चन्द्रमा एक ही है, किन्तु दृष्टि दोष के कारण दूसरा न होते हुए भी दिखाई देता है। अर्थात् वस्तु न होते हुए भी दिखाई दे रही है, यही है आभास। **दूसरी बात**– नवग्रह आकाश में घूमते ही रहते हैं। तो भी तम के कारण राहु–केतु दिखाई नहीं देते हैं। होते हुए भी वस्तु दिखाई नहीं दे रही है, यह है तम। इस आभास और तम को ही विक्षेप कहते हैं।

(415) धाम चिन्मय वस्तु है। इसका कण–कण, तृण–तृण भी चिन्मय ही होता है। किन्तु प्राकृतिक जीव को जिसकी दृष्टि दूषित है, सब प्राकृतिक ही दिखाई देता है। जो प्राकृतिक जगत से ऊपर उठकर भाव जगत में प्रवेश कर चुके हैं, उनको ही धाम तथा धाम की प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द

घन दिखाई देती है।

(416) **अब प्रश्न यह उठता है कि**, जिनको प्राकृतिक ही दिखाई देता है, उनको क्या करना चाहिए ? यदि धाम में रहें, तो अपराध बने। क्योंकि चिन्मय को प्राकृतिक देख रहे हैं। तो क्या धाम से भाग जाना चाहिए ? बाहर रहने से कम से कम अपराध तो नहीं बनेगा ?

उत्तरः—नहीं नहीं ? ऐसा नहीं ? घबराने की बात नहीं हैं? धाम से बाहर नहीं जाय ? धाम में ही रहे और जैसा धाम का स्वरूप शास्त्र और सन्तों ने बताया है, वैसा ही चिन्तन करे। यदि अपने को वैसा नहीं दीखे, तो इसके लिए खेद हो और प्रियतम से प्रार्थना करे कि, हे मेरे जीवनधन! मुझ अपने अबोध बालक को भी अपना वास्तविक स्वरूप दिखाओ न ? अन्यथा मुझ से प्रतिक्षण अपराध ही बनते रहेंगे और मैं आपकी गोद में रहते हुए भी आपसे जन्म—जन्म के लिए दूर भटक जाऊँगा। हे मेरे प्राणाधार! मुझे अपना लो न ? इस प्रकार से रो—रोकर अपने प्रियतम को रिझाने में ही लगा रहे और धाम के जिस व्यक्ति और वस्तु में दोष दृष्टि हुई हो, तत्क्षण उसी से, विनम्रता पूर्वक क्षमा—याचना करले। ऐसा करने से कलान्तर में धाम का वास्तविक स्वरूप दीखने लगेगा और फिर जो मस्ती और परमानन्द का स्वाद आयेगा, वह स्वयं ही अनुभव करने लगेगा। फिर सब दोष दृष्टि का निवारण हो जायेगा। इस प्रकार साधक को अन्त में धाम की प्राप्ति हो जायेगी। साधक का परम—कर्त्तव्य है

कि, वह धैर्य से काम लेता रहे। धीरज न त्यागे और श्रीसद्गुरु का दृढ़ आश्रय रखे। मन लगने न लगने की चिन्ता न करे। चिन्ता करे "केवल और केवल" श्रीसद्गुरु आज्ञा पालन की। अपने मन बुद्धि से कह दे कि, अब तुम्हारा सब काम समाप्त हो गया। तुम अब सुख से चैन की नींद में सो जाओ और मुझे मेरे श्रीसद्गुरुदेव की आज्ञा पालन करने दो। बस, फिर तो सब काम अति–शीघ्र ही सम्पन्न होते जायेंगे और एकदिन ऐसा आयेगा कि, जीव नित्य को अपने प्रियतम की गोद का खिलोना बन जायेगा।

(417) भजन–साधन इसलिए किया जाता है कि, जिससे हमारा प्रभु के श्रीचरणों में भाव बने, प्रेम हो जाय। परन्तु यदि भजन–साधन करते हुए भी भाव और प्रेम नहीं उपजे, तो चिन्ता नहीं करे। जब तक प्राण रहें, तब तक बड़ी तत्परता और सत्यता से भजन–साधन करता ही रहे, तो अपने को भी प्राण परिहार पीछे वही गति मिलेगी, जो गति भाव और प्रेम वालों को मिलती है।

(418) देहाध्यास भगवत्प्राप्ति में महाबाधक है। सावधान! यह न होने पाये। देहाध्यास निवृत्ति का उपाय है यह कि, यह देह किसी को दुखद न बने।

(419) विशुद्ध अन्तःकरण तथा विशुद्ध–आचरण हो, तभी हृदय में प्रेम की उत्पत्ति होती है।

(420) कोई कुछ कहे, कोई कुछ करे,मुझे सब सहन करना है। यह दृढ़–संकल्प ही साधुता है। वह साधु कैसा जो

सहनशील न हो। साधु तो सदा सहिष्णु, क्षमाशील,उदार, होता है।

(421) ईर्ष्या, पतन की खाई है।

(422) हठ सदैव दुखदाई ही होता है।

(423) स्वभाव उत्तम बने। स्वभाव उत्तम होने से विचार उत्तम बनते हैं, तदनुसार क्रिया उत्तम बनती हैं। परिणाम में उत्थान ही होता जाता है।

(424) मन खाली हुआ कि, प्रेम–देव पधारे।

(425) प्रेम के अभाव का अनुभव करे, रोवे, ग्लानि हो कि, मैं प्रेमी नहीं बन पाया। ये जन्म भी व्यर्थ ही गया। क्या करूँ? कैसे करूँ ? यदि इसके लिए उत्कट–लालसा होती और जीवन भार हो जाता, प्रियतम का वियोग सहन नहीं होता और विरहाग्नि में जल जाता, तो प्रियतम स्वयं ही आकर अपना प्रेम प्रदान करते। प्रेम न हुआ सो तो है ही, परन्तु मैं तो इतना अधम हूँ कि, इसके लिए इच्छा भी नहीं होती है। प्रयत्न करने की क्या बात ? विषयों में ही सुख मानता हूँ और दिन रात डूबा ही रहता हूँ, क्या करूँ ? ऐसे अधम का कौन उपाय ? हाय! हाय! जीवन यौं ही बीत चला। फिर जिन–जिन प्रेमीयों की जीवन–गाथा, पढ़ने, सुनने, देखने में आयी हों, उनका विचार, रहनी, लगन तथा प्रेम का अनुशीलन, मनन करे तथा उनके गुणों को धारण करने की चेष्टा करे। फिर कामना करे कि, मैं भी कभी ऐसा प्रेमी बनूँगा क्या? इनकी भाँति प्रियतम के प्रेम सिन्धु में डूबुँगा क्या ? सतत्

यही धुन सबार रहे कि, कैसे श्रीभगवत्–प्रेमी बनूँ ? कैसे श्रीभगवत्–प्रेम मिले ?

(426) जो करे, प्रियतम के लिए ही करे। अपना कोई स्वार्थ छू न जाय, अपने समस्त संकल्प, क्रिया–कलाप केवल अपने उपास्यदेव (इष्ट) के लिए ही हों, यही है–उपासना। और यदि उपास्य के लिए न होकर अपने लिए हो रहे हैं, तो यही है–बासना, यही है कपट और यही है, आत्मबंचना।

(427) जब तक कपट है, तब तक श्रीभगवान् बहुत ही दूर हैं। कपट है लौकिक वस्तु की कामना।

428) सन्त के बचन में अनुभव, करुणा, तथा आचरण का अमोघ बल होता है।

(429) आश्रय की दृढ़ता में कमी होने से, विश्वास में कमी आती है और विश्वास की कमी से ही, चिन्ता का प्रवेश होता है। चिन्ता, श्रीभगवत्–चिन्तन से दूर कर देती है, क्योंकि ये चित्त में रहती है।

(430) यदि चित्त में निरंतर श्रीभगवत्–चिन्तन बना रहे तो चिन्ता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलेगा।

(431) कर्म में बाधक है काम (कर्म फलेच्छा)।

और

भक्ति में बाधक है लोभ (स्व सुखेच्छा)।

तथा

ज्ञान में बाधक है क्रोध (भेद बुद्धि)।

और यही नरक के द्वार भी हैं।

(432) समस्त साधनों का फल है, मनोनिग्रह (मन को वस में करना)। यही मनो निग्रह भक्ति से सुलभ बन जाता है।

(433) जितने साधन प्रेम प्राप्ति के लिए कहे गये हैं, वे सब तो तैयारी ही हैं। यथार्थ वस्तु तो है–आत्मा की भूख। भूख लगी कि, प्रेम हुआ।

(434) प्रेमी को वियोग में शोक, मोह, क्रोध, विरोध, राग द्वेष, अहंकार आदिक विकार स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं।

(435) विरोध का अभाव निरोध।

(436) विरोध के कारण को अपना दोष मानकर उसके लिए प्रायश्चित करे, तो विरोध प्रेम में पलट जाता है।

(437) जो श्रीभगवान् से विमुख करे, सो संसार और सम्मुख करे सो सन्त।

(438) जब मन में स्वार्थ आता है तभी दूसरे का अमंगल करने की बात सूझती है। असूया (बड़ों के दोष देखना), मत्सर (डाह) तथा द्वेष जिसके हृदय में हैं, उसको शान्ति कहाँ ?

(439) पूर्ण बलिदान चाहिए। हृदय के किसी कोने में स्वसुख की इच्छा, कामना, वासना का अंकुर भी न रहे, अपना सर्वस्व प्रियतम के लिए ही हो–यह है बलिदान।

(440) भोग से बुद्धि मलीन और त्याग से शुद्ध बनती है। यदि त्याग का किंचित भी अहंकार रहा, तो मन, बुद्धि, चित्त सबके सब अपवित्र हो जायेंगे।

(441) ऊँची वृत्ति, तो ऊँचे विचार। ऊँचे विचार, तो ऊँची

क्रिया। ऊँची क्रिया तो ऊँचा जीवन। ऊँचा जीवन तो ऊँचे से (श्रीभगवान) मिलन। ऊँचे से मिलन तो आवागमन बन्द।

(442) प्रेमी की पहचान है कि, इनके (भगवान के) अतिरिक्त और कोई कामना न हो। सुख भी इनसे और दुख भी इनसे ही (सुख दंच मे, दुःख दंच मे)।

(443) साधन हो, वैराग्य हो, नियम–संयम सब हो, किन्तु, यदि प्रेम न हो, तो सब वैसे ही फीके हैं, जैसे–

"लवन बिना बहु व्यंजन जैसे"।

(444) अपने इष्ट के नाम, रूप, लीला और धाम, के सेवन करने से इष्ट में प्रेम होता है।

(445) बिना प्रेम सब व्यर्थ है। प्रियतम से मिलने की चटपटी सतत् बनी ही रहनी चाहिए। कब मिलेंगे ? कहाँ मिलेंगे ? कैसे मिलेंगे?उनसे यौं बतराऊँगा, यौं बतराऊँगा। इस प्रकार सेवा करूँगा, ये करूँगा, वो करूँगा। यही तो अनुराग है।

(446) प्रेम को पंचम पुरुषार्थ कहा जाता है। जब चारों पुरुषार्थों (घर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष) का त्याग हो जाता है, तभी प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम पथ के पथिक को ये सब त्यागने ही पड़ते हैं। अथवा यह कहलो कि प्रेम की प्रवलता में इनका त्याग हो जाता है। बिना इसके त्यागे कुछ भी हाथ नहीं लगता।

(447) **प्रश्न**–जीव आनन्द स्वरूप है, फिर दुखी क्यों ?
उत्तर–द्वितीय अभिनिवेष से। अर्थात् है श्रीभगवान् का, और इनको छोड़कर बन गया है माया का। इसी कारण जीव

दुखी है।

(448) **प्रश्न**– इससे कैसे छूटे ?

उत्तर–श्रीसद्गुरु की शरण लेने से।

(449) प्रेमी की पहचान शास्त्र–विहित कर्मों में निष्ठा, या वैराग्ससे नहीं होती है। जिसको अपने इष्ट और श्री सद्गुरु भगवान् के श्री चरणारविन्दों में ही आत्मीयतायुक्त प्रीति हो, वही प्रेमी है। उसके हृदय की पहचान है कि, सतत् अपने प्राणाधार के मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा तथा नई नई सेवा करने की भावनाओं की तरंग पर तरंग उठती ही रहती हैं।

(450) इष्ट में अनन्य ममता, श्रीसद्गुरु भगवान् में दृढ़तम सात्विकी श्रद्धा तथा साधन में अविचल निष्ठा, साधक के जीवन में परमावश्यक हैं।

(451) साधन के आवेश में मनमानी न कर बैठे। अर्थात् साधन करने के मद में इन दोनों (इष्ट में अनन्यता और सद्गुरु में श्रद्धा) की उपेक्षा न कर बैठे। साधन भी पूरी निष्ठा से करता चले और आश्रय रखे एकमात्र कृपा का ही। यह भी नहीं कि,कृपा के ऊपर छोड़कर साधन न करे।

(452) प्रेम में आत्मीयता, भक्ति में दैन्य और ज्ञान में वैराग्य, प्रधान तथा परमावश्यक हैं। बिना आत्मीयता के प्रेम नहीं हो सकता। बिना दैन्य के भक्ति नहीं टिक सकती। बिना वैराग्ञ के बोध नहीं हो सकता।

(453) जब यह समझ में आ जाता है कि, यह शरीर प्रियतम की वस्तु है। तब यह जीव पाप नहीं कर सकता। किसी

का अहित नहीं कर सकता। काम क्रोधादिक विकारों का शिकार भी नहीं हो सकता। यह सन्त और शास्त्र विहित आचरण ही करेगा। विमुख आचरण करना तो दूर, संकल्प भी नहीं कर सकता। प्रत्येक इन्द्रिय अपने प्रियतम की सेवा और भजन में ही लगी रहेगी। यहाँ तक बात है कि, मन और बुद्धि भी अपना जन्म–जन्म का स्वभाव छोड़कर निरन्तर प्रियतम के ही बिचार और चिन्तन में लगे रहेंगे। लगाने नहीं पड़ेंगे, लगे रहेंगे।

(454) ब्राह्मण तथा बैष्णव वह, जो कभी मार्ग से न डिगे।

(455) संसारी कामना, बासना और क्रियाओं को विवेक द्वारा श्रीभगवत्मय बनाकर श्रीभगवान को समर्पित करने से काम नष्ट होता है।

(456) काम,क्रोध पर विजय केवल महत्सेवा से ही होती है।

(457) काम क्रोध का शमन करना ही तप है।

(458) प्रेम पथ के पथिक के लिए तीन बात परमावश्यक हैं। (1) प्रियतम से कुछ न माँगे और कुछ न चाहे। (2) अपने पास जो कुछ हो, वह सर्वस्व प्रियतम को समर्पित कर दे। (3) इनकी कृपा और आत्मीयता को कभी भी न भूले।

(459) प्रेम जगत में धर्म का त्याग ही महान धर्म, और नियम का अभाव ही महा नियम है। परन्तु यह स्थिति तो किसी वस्तु का फल है। अर्थात् जन्म जन्म से सन्त और शास्त्र की आज्ञानुसार नियम, धर्म का पराकाष्ठातीत पालन करने के फल स्वरूप ही यह स्थिति हाथ आती है। साधक

जिसकी संज्ञा है, उसको तो पूरी निष्ठा से अपने नियम और स्वधर्म का पालन करते ही रहना चाहिए। स्वधर्म और स्वनियम का जान बूझकर त्याग न करे। यह तो नियम धर्म के पालन करते करते स्वयं एक ऐसी अवस्था आती है कि, जहाँ जाकर सब नियम–धर्म स्वयमेव छूट जाते हैं। छोड़ने नहीं पड़ते हैं। स्वधर्म और स्वनियम पालन की रज्जु में बँधकर ही साधक उस रस राज्य के द्वार तक पहुँच पाता है, जहाँ जाकर सारे नियम–धर्म ऐसे शान्त हो जाते हैं, जैसे समुद्र में जाकर नदी। प्रियतम के द्वार तक पहुचने तक ही स्वधर्म और स्वनियम पालन करके ही छुट्टी नहीं पा जाय। यदि द्वार आया जानकर स्वधर्म और स्वनियम पालन का त्याग कर बैठा तो फट् से माया घसीट ले जायगी। इस कारण रस–राज्य में भीतर प्रवेश होने तक इनका पालन करता ही रहे। जब तक़ अपनी सामर्थ रहे, शरीर और संसार का बोध रहे, तब तक इनका कड़ाई से पालन ही करता रहे। जब रस सिन्धु में डूब जायेगा, तब तो सब स्वयमेव छूट ही जायेगा। छोड़ना नहीं पड़ेगा। जान बूझकर इनका त्याग करना अपराध है। इसीलिए जब तक अपना बस चले, तब तक इनका पूरी निष्ठा से पालन करते रहना चाहिए। इसी में कल्याण है।

(460) सुख–दुख का कारण संग ही है। जैसा संग होगा, वैसा ही फल होगा। इस कारण साधक को साधन–काल में बिल्कुल असंग ही रहना चाहिए। क्यौंकि साधक के लिए ये

दोनों ही घातक हैं। ये दोनों ही मायाराज्य की वस्तु हैं।
(461) जब–तक साधक सुख–दुख के चक्र में फँसा रहेगा, तब तक वह भलेही कितनी भी ऊँची से ऊँची भजन साधना, त्याग, वैराग्य और प्रवचन ही क्यौं न करले, रहेगा माया राज्य में ही।
(462) साधक को तो सुख–दुख से ऊपर उठकर आनन्द, परमानन्द और आह्लाद् के सिन्धु में डूबना है। इसीलिए साधन काल में बिल्कुल असंग ही रहे, तो लक्ष्य–प्राप्ति में कोई बाहरी बाधा नहीं उपस्थित हो सकती है। अब रही अपनी मनःस्थिति। सो तो दृढ़तम महदाश्रय से सब ठीक हो ही जायेगी।
(463) साधक सावधान ! सतत् सावधान !! यदि एक भी क्षण साधन बिमुख हुआ, तो उसी क्षण महा अनर्थ खड़ा हो जायेगा। सनकादिक चारों ब्रह्म–पुत्रों की सदैव श्रीभगवान् पर ही दृष्टि रहती थी, परन्तु जब बैकुण्ठ के द्वार पर जय और विजय ने रोक दिये, तब उनकी दृष्टि श्रीभगवान् से हटक जय–विजय की ओर गई। भलेही गई एक क्षण को ही, परन्तु तत्क्षण ही अनर्थ हो गया। क्रोध रूपी प्रबल शत्रु की शिकार बन गये। वह भी कहाँ ? प्रभु के द्वार पर। बस फिर तो जो अनर्थ हुआ, सब शास्त्र और सन्त उसके साक्षी हैं। क्रोधावेश में प्रभु के जनों को शाप दे बैठे। यह समाचार सुनकर श्रीबैकुण्ठनाथ भीतर से बाहर द्वार पर ही आ गये। जो कुछ वार्ता हुई, बाहर ही हुई। विकार की शिकार होते

ही सदा ब्रह्मानन्द में डूबे रहने वालों को भी बैकुण्ठ में प्रवेश नहीं मिला, द्वार से ही उल्टे वापस लौटना पड़ गया। इस घटना से साधक को भारी शिक्षा मिलती है। जब तक अपने प्रियतम के प्रेमराज्य में प्रवेश न कर जाय, तब तक इधर उधर न देखे। कौन क्या कह रहा है ? कौन क्या कर रहा है ? यह न देखे। बस निरन्तर पूरी निष्ठा से, पूरी प्रीति से, अपने साधन में ही लगे रहे। यदि क्षणांश भी संसार को झाँक लिया, तो उसी क्षण महा अनर्थ खड़ा हो जायेगा और अब तक की सम्पूर्ण साधना व्यर्थ ही हो जायेगी।

(464) इस पथ में आदर्श है पतिव्रता। पतिव्रता यदि घूँघट में से भी पर पुरुष को निहार ले, तो उसका पातिव्रत धर्म टूट जाता है। ऐसे ही साधक यदि क्षणांश भी संसार का चिन्तन कर लेता है, तो वह अपने साधन पथ से गिरा हुआ माना जाता है। बैकुण्ठनाथ ने द्वार पर ही आकर चारों ब्रह्मकुमारों से कहा कि, अब तुम मेरे परमानन्द स्वरूप बैकुण्ठ में प्रवेश करने के अधिकारी नहीं रह गये हो। क्यौं कि, तुम यहाँ आकर भी विकार की शिकार हो गये। पूरे मार्गभर मेरा चिन्तन और नाम जप करते चले आ रहे थे। इसलिए माया ने तुम पर हाथ नहीं मारा था। किन्तु यहाँ आकर तुम इस बात को भूल ही गये कि, जहाँ तुम विकार की शिकार हुए हो, वह माया–राज्य और मेरे नित्य धाम की सीमा का मध्य क्षेत्र है। जहाँ माया के बड़े–बड़े सुभटों का सशस्त्र पहरा रहता है। जो सहज ही में सीमा पार नहीं

करने देते हैं। यहाँ आकर तुमने जैसे ही मेरा चिन्तन और नाम छोड़ा कि, मारे गये। अब आगे ध्यान रखना, जब भी कभी मुझ से मिलने आओ तब, जब तक मेरे राज्य में प्रवेश नहीं पा जाओ, तब तक मेरा नाम चिन्तन मत भूलना। अन्यथा तो यही नाटक बनता रहेगा और कभी भी मेरे राज्य में प्रवेश नहीं कर पाओगे।

(465) जब तक साधक विकार की शिकार रहता है, तब तक प्रियतम के प्रेमराज्य के द्वार के किवाड़ बन्द ही रहते हैं। जब विकार निर्मूल होकर प्रियतम को पुकारता है, तभी किवाड़ खुलते हैं और तभी प्रवेश पाता है उस अखण्ड रस राज्य में। जहाँ जाकर आज तक कोई वापस ही नहीं लौटा

(466) भूत दया, सौहार्द तथा द्वेष विसर्जन से श्रीभगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं।

(467) प्रेम में आग्रह अवश्य होता है, परन्तु दुराग्रह और कुतर्क नहीं होता।

(468) भेद तथा मोह श्रीभगवत्–प्राप्ति में बाधक हैं। भेद, प्रेम नहीं होने देता और मोह त्याग नहीं होने देता। सेवा तथा सत्संग से ये दोनों मिट जाते हैं।

(469) कामना ही जीवत्व है। कामना मिटी कि, जीवत्व मिटा। जीवत्व मिटा कि, श्रीभगवान् मिले।

(470) किसी में आसक्ति रहना भी परिग्रह ही है।

(471) एकान्त सेवन, शुद्ध सात्विकी आहार, निरन्तर श्रीनाम जप और चिन्तन, लक्ष्य प्रप्ति के लिए परमावश्यक हैं।

(472) **अचल शान्ति लाभ करने का उपाय**– इतने बड़े विश्व में किसी से द्वेष न करे। यदि कोई अपने से द्वेष करे, तो उससे मैत्री का ही व्यवहार करे। तो भी द्वेष करे, तो उस पर दया करे। यदि फिर भी नहीं मानें, तो उससे निर्मम हो जाय, उपेक्षित हो जाय। अभिप्राय यह है कि, मन में यह विचार ही न करे कि, मैं इसके साथ कितना सद् व्यवहार करता हूँ फिर भी यह कैसा है कि, मानता ही नहीं। यह सब करते हुए भी अपनी विनम्रता का अहंकार न होने पाये। कभी कभी अपनी विनम्रता का, सरलता का भी अहंकार हो जाता है, जो पतन का हेतु ही सिद्ध होता है। यह बहुत ही अजेय सात्विक शत्रु होता है, जिसे साधक पहचान ही नहीं पाता। इससे भी साधक को बिशेष सावधान रहना चाहिए।

(473) भजन करते हुए भी, यदि भजन में आनन्द नहीं आये, भजन का जो यथार्थ फल है– शान्ति, उसकी अनुभूति नहीं होती हो, तो समझ लेना चाहिए कि, इन तीनों में से कोई न कोई बात हमारे जीवन में चिपक रही है। (1) असमर्पित अथवा रजोगुणी तमोगुणी आहार। (2) कुसंग की प्राप्ति और सत्संग का अभाव। (3) अन्याश्रय की प्राप्ति और अनन्य आश्रय का अभाव। इनमें से यदि एक भी है, तो शान्ति नहीं मिल सकती और यदि तीनों के तीनों ही हैं, तब तो फिर शान्ती की छाया का भी स्पर्श नहीं हो सकता है।

(474) श्रीनामजप का फल है कि, निरन्तर उत्तरोत्तर श्रीनामजप की रुचि में बृद्धि और नामी में आत्मीयता। यदि यह प्राप्त

नहीं हो रहे हैं, तो निश्चय ही हमारे भीतर कोई कपट छिपा हुआ है। कपट का अर्थ है कामना। नामजप श्रीभगवान् का और कामना संसार की। तो फिर जप का यथार्थ फल नहीं मिल पायेगा। भजन करे श्रीभगवान् का और चाहे संसार, यह कैसी विडम्बना है ?

(475) अपनी प्रसंसा करना मृत्यु है।

(476) भजन करे, किन्तु स्वार्थ न हो। यदि स्वार्थ है, तो वह तो भिखारी और व्यापारी ही है।

(477) सर्वत्र चराचर जगत में श्रीभगवत्–भाव दृढ़ करने के लिए प्रारम्भिक साधन है कि, किसी से भी विरोध और घृणा न करे। आत्मवत् प्रेम का व्यवहार ही करे।

(478) **उपासना का अर्थ है**–परमात्मा का सान्निध्य, तथा सम्पर्क। उप + आसना अर्थात् समीप आसन लगाकर बैठना। अपने प्राणधन प्रभु को जानना। जानने का अर्थ यह नहीं कि, यदा कदा इनकी भूली बिछड़ी याद कर लेना। अपितु जानने का अर्थ है यह कि, निरन्तर तैलधारावत् इनके नाम, रूप और लीलाओं में ही डूबे रहना।

(479) बस एक ही काम है कि, इनको अपना बनाना। इसी से सब सुलभ हो जायेगा। कोई दूसरा चिन्तन ही न होने पाये। यही साधन है, यही प्रेम है, यही कर्तव्य है और यही अपना परम–धर्म है।

(480) सन्त ने हमें अपना लिया, यह तभी माना जायेगा, जब ये हमसे अपने भीतर की गुप्त से गुप्त बात कहने लग

जायँ और उनके समस्त सद्‌गुण स्वभावतः अपने में उतर आये हों।

(481) मा मतिः परदारेषु, परद्रव्येषु मा मतिः।
पराय वादिनी जिह्वा, मा भूंजन्मनि जन्मनि।।

अर्थात्–परस्त्री, परधन और परनिन्दा से जिसने अपने आपको, बचा लिया है, उसका इस धरातल पर फिर कभी भी पुनर्जन्म नहीं होता है, अर्थात् वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

(482) भजन–साधन के फल स्वरुप श्रीभगवान् यदि कुछ जागतिक वस्तु प्रदान करें, तो समझले कि, यह कृपा नहीं अपितु अपना पिण्ड छुड़ा रहे हैं। तभी संसार बढ़ता जा रहा है। जब अपने को माँगने से भी भिक्षा न मिले, तब समझे कि, अब हुई सच्ची कृपा।

(483) सरल और विनीत से अपराध बनते ही नहीं हैं। अपराध तो अहंकारी से ही बनते हैं।

(484) सबसे बड़ा ज्ञान है, श्री भगवान में मोह हो जाना।

(485) साधन में आवेश नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि, भजन कम करे। भजन खूब करे, अधिक से अधिक करे परन्तु "मैं इतना भजन करता हूँ" यह अहंकार नहीं होना चाहिए। यही समझे कि, मैं क्या कर सकता हूँ ? यह तो सब मेरे जीवनधन की कृपा ही है जो कुछ करा रही है। एक मात्र कृपा का ही अवलम्ब रहना चाहिए।

(486) भजन में चार विघ्न–1.सुकृत 2.दुष्कृत 3.अपराध और

4.भक्ति उत्थित अहंकार। सुकृत–आता है भोगरूप में और दुष्कृत–आता है रोग रूप में एवं अपराध आता है–महदवज्ञा, असूया (बडों में दोष–दर्शन), निन्दा–आलोचना, आदि के रूप में। दोष–दर्शन तो मन से भी नहीं करे तथा भक्ति उत्थित अहंकार से किसी पर शासन न करे। बडों पर तो करे ही नहीं, छोटों पर भी नहीं करे।

(487) श्रीभगवत् नाम, श्रीभगवत्–धाम और श्रीभगवत्–जन। इन तीनों में से यदि एक का भी अवलम्ब हो जाय, तो काम बन जाय। यदि इनमें से एक में भी मन रम जाय, तो जीव का कल्याण हो जाता है और कहीं तीनों में ही रम जाय, तो फिर तो कहना ही क्या ?

(488) श्रीभगवत्परायण की भूल भी कल्याण कारक ही हो जाती है। क्योंकि वह श्री भगवद् इच्छा से ही होती है।

(489) लक्ष्य दृढ़ हो, तो श्रद्धा, सदाचार स्वतः ही बनते चले जाते हैं। करने नहीं पड़ते।

(490) जब तक इष्ट में दृढ़ आत्मीयता नहीं बनती, तब तक मिलन सम्भव ही नहीं।

(491) करना है एक काम– वृत्ति, जो सर्वत्र फैल रही है, इसको समेटकर इनमें (श्री प्रियतम में) ही लगाना है। बस, इसी से सब सुलभ हो जायेगा।

(492) साधक चार प्रकार के होते हैं–(1) तूल (2) तुस (3) घृत (4) मधु। (1) तूल नाम है रूई का। कितना भी रूई का ढेर हो, यदि उसमें तनिक सलाई लगा दें, तो क्षणों में ही

सब जलकर राख हो जाती है। ऐसे ही विवेकी साधक के हृदय में कितनी भी साधना विरोधी वस्तु एकत्रित क्यों न हो रही हों, यदि तनिक भी सत्संग या महत्कृपा की आग लग जाय, तो सबकी सब क्षणों में ही स्वाहाः हो जाती हैं और हृदय तुरन्त निर्विकारी और निर्मल हो जाता है। ऐसा साधक तूल कोटि का माना जाता है।

"बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं।
फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं"।।

(2) दूसरे हैं तुस कोटि के। तुस नाम है भुस का। भुस में यदि आग लग जाय, तो वह बुझती ही नहीं हैं। भीतर ही भीतर सुलगती ही रहती है और साथ ही धूआँ भी उठता रहता है। यदि उस पर पानी डाल दिया जाय, तो धूआँ कुछ समय को बन्द हो जाता है। फिर तनिक भी हवा चली कि, धूआँ पुनः उठना प्रारम्भ हो जाता है। ऐसे ही साधक के हृदय में जो अनर्गल वस्तु जमा हो गयी है, उसको साधक जब अपने साधन से फूँकने लगता है, तब भाँति-भाँति के सद् विचार रूपी धूआँ के घमण्ड के घमण्ड से उठते ही रहते हैं। साधन की अग्नि ऐसी होती है कि, वह कभी भी बन्द नहीं होती है, सुलगती ही रहती है। हाँ, कभी-कभी कुसंग रूपी पानी पड़ जाने से धूआँ बन्द सा हो जाता है। परन्तु तनिक भी सुसंगरूपी हवा लगी कि, फिर सद्विचार रूपी धूआँ के घमण्ड के घमण्ड से उठना प्रारम्भ हो जाते हैं और विकार रूपी भुस को राख करके ही छोड़ते हैं। ऐसे

साधक तुस कोटि के माने जाते हैं।

(3) तीसरे घृत कोटि के होते हैं। जिस वस्तु पर घृत मल दिया जाता है, उस पर पानी अथवा कोई तरल पदार्थ टिक नहीं पाता है। ऐसे ही जिस साधक का हृदय श्रीभक्ति रूपी घृत से चुपड़ गया है, उसमें संसारी वस्तु, किसी भी प्रकार की कामना, वासना नहीं टिक पाती हैं। आप ही दूर होती रहती हैं। ऐसे साधक घृत कोटि के माने जाते हैं।

(4) चोथे हैं मधु जैसे। जिस वस्तु में मधु डाल दिया जाता है, वही स्वादिष्ट हो जाती है। ऐसे ही जिस साधक का हृदय प्रेम रूपी मधु से भरा ही रहता है। उसके पास कोई भी पहुँच जाय, वह सब भीतर बाहर से मीठा होकर ही निकलता है। सारे सद्गुण सरलता, बिनम्रता उसके पास जाने वाले पर लिपट जाते हैं। कितना भी कटु स्वभाव वाला ही क्यौं न हो, मीठा होकर ही आयेगा। ये हैं मधु कोटि के साधक।

(493) जब तक चित्त की वृत्ति इष्ट और श्रीसद्गुरुदेव में आसक्त नहीं होगी तब तक देहाध्यास बना ही रहेगा। यदि इन दोनों में ममता नहीं हुई, तो संसार और शरीर में होगी ही। ममता तो कहीं न कहीं रहेगी ही।

(494) जिसके स्मरण करने मात्र से ही चित्त में भज़न करने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती हो, प्रभु से प्रेम करने की लालसा बन जाती हो, वही सच्चा साधु है।

(495) जिसके स्मरण मात्र से ही मन से माया की अशान्ति

और विकार दूर भाग जाते हों, जिह्वा श्रीभगवत्–नाम रटने लग जाती हो, चित्त श्रीभगवत्–चिन्तन करने लग जाता हो और मन अगाध शान्ती के सागर में डूब जाता हो, अपने व्यर्थ बीतते हुए जीवन पर ग्लानि होने लग जाती हो। श्रीभगवान् से मिलने की तीव्रतम उत्कण्ठा मन में घर करके बैठ जाता हो और अन्तिम बात है यह कि, जिसकी शरण में जाते ही समस्त संसारी कामनाएँ, वासनाएँ और अभाव मिट जाते हों अर्थात् जिसे पाकर और कुछ भी पाना शेष ही न रह जाता हो, तो समझ लेना चाहिए कि, सामने उपस्थित व्यक्तित्व या तो स्वयं श्रीभगवान हैं या फिर कोई भगवद् पार्षद। यही है सच्चा साधु और यही है सच्चा सन्त तथा यही है सद्गुरू।

(496) चाह अन्तःकरण को मलीन करती है। अन्तःकरण खाली करना है। यह खाली हुआ कि, प्रेम की भूख जगी। हृदय में कोई वासना नहीं रहेगी, तभी भक्ति में मन लगेगा और तभी इसका सच्चा रस मिलेगा।

(497) दुःसंग सर्वथा त्याज्य है। संगं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।

(498) कोई पाप करे, उसको देखना भी पाप ही है। किसी का पाप न देखना, न सुनना और न किसी से कहना ही।

(499) व्यापक को खोजने की नहीं अपितु पहचानने की ही आवश्यकता है। क्यौंकि वह सर्वत्र मौजूद है।

(500) जब तक कुछ लौकिक व्यवहार करना पड़ता है, तब तक मन स्थिर नहीं हो सकता।

(501) जिस साधक का मन निरन्तर अपने इष्टमें ही जुटा रहता है। उसको और किसी सदग्रंथ की जानकारी करने की आवश्यकता नहीं है। यदि जानकारी है, तो भी उत्तम और नहीं है, तो भी उत्तम।

(502) **दस नामापराध**—गुरु अवज्ञा, साधु महात्माओं की निन्दा, श्रीभगवान् शिव और विष्णु में भेद भाव, वेद निन्दा, श्रीभगवन्नाम की महिमा को अर्थवाद समझना, नाम लेने में पाखण्ड फैलाना, आलसी तथा नास्तिकों का संग तथा उनको श्रीभगवन्नाम का उपदेश करना, श्रीभगवन्नाम में अनादर बुद्धि करना, श्रीभगवन्नाम के बल पर पाप करना, श्रीभगवन्नाम को भूल जाना। साधक को सर्वथा इनसे बचना चाहिए।

(503) सत्व में प्रकाश है। जब सत्व की बृद्धि होती है, तब विवेक शक्ति की जाग्रति होती है और तभी सत् असत् वस्तु का ज्ञान होता है। फिर श्रद्धा होती है, फिर भाव होता है, तब फिर प्रेम होता है।

(504) सकामी पुरुषों के संग से साधु पर भी काम की बौछार पड़ जाती हैं। जिससे श्री भगवत्प्राप्ति में बहुत ही अन्तराय उपस्थित हो जाता है। इस कारण जहाँ तक बचा जाय, बचे इन सकामिओं के संग से। यदि सुसंग न मिले, तो भलेही अकेला रहले, परन्तु कुसंग न करे और साधु को तो अकेला ही रहकर निरन्तर अपने प्रियतम का संग करने का ही अभ्यास करते रहना चाहिए। इसी में साधु का

कल्याण है और यही परम कर्तव्य भी है।

(505) किसी भी सच्चरित्र को अधिक पढ़ने, सुनने, कहने की अपेक्षा उसके आचरण पर ही अधिक जोर देना चाहिए। बिना आचरण किये पढ़ना, सुनना, कहना और बिचारना सब निरर्थक ही है। किसी बात को दूसरों को उपदेश देने के उद्देश्य से न पढ़े, न सुने। केवल अपने आचरण करने के उद्देश्य से ही पढ़े, सुने अथवा विचारे।

(506)सत्व की बृद्धि में दो वस्तु प्रधान हैं–(1) सात्विक संग तथा (2) सात्विक आहार। यदि ये दोनों होंगे, तो वृत्ति में सतोगुण बढ़ता ही जायेगा। सत्व के बढ़ने से शहनशक्ति बढ़कर स्थिर होती है।

(507) जब श्रीसद्‌गुरुदेव में श्रीभगवत् बुद्धि होती है, तभी साधक प्रेमी बनता है और जब केवल सन्त ही समझा जाता है, तब साधक से केवल साधन ही बन पाता है, भगवत्प्रेमी नहीं बन सकता।

(508) साधक के जीवन में ताप, क्लेश अवश्य ही होने चाहिए। बिना इनके साधक मृत प्राय है। जिसके जीवन में ये दोनों वस्तु हैं, वही जीवित है। (1) ताप का अर्थ है– प्रियतम के मिलन की तड़पन का होना। अर्थात् जीवनधन का दर्शन नहीं हुआ, तज्जन्य विषाद हो, अभाव खटकता ही रहे। कैसे मिलेंगे ? कब मिलेंगे ? इसी चिन्ता में तन, मन, प्राण झुलसते ही रहें, यह है ताप। (2) क्लेश का अर्थ है– अपने प्रियतम के मिलन की बाधक वस्तुओं ने घेर लिया हूँ।

ये मेरे मार्ग से हट नहीं रही हैं, तज्जन्य दुःख ही क्लेश है।
ये दोनों साधक के जीवन में परम आवश्यक हैं।

(509) जिसका जीवन सीधा सादा है, वही साधु है।

(510) श्रीभगवत्–कृपा की सँभाल करता चले और परदोष दर्शन से बचता चले तो अतिशीघ्र ही लक्ष्य प्राप्त हो जाताहै

(511) व्यवहार ही अध्यात्म की छाया है। यदि व्यवहार में त्रुटि है, तो अध्यात्म में भी त्रुटि होगी ही। यदि व्यवहार शुद्ध है, तो अध्यात्म भी शुद्ध होगा ही।

(512) स्वभाव अत्युत्तम हो। मन में चंचलता, चपलता, ओछा पन तर्क और विवाद न हों और लक्ष्य हो केवल श्रीभगवत्–प्रेम, तभी वस्तु हाथ लगती है।

(513) साधक के लिए इन तीनों की विशेष आवश्यकता है– श्रद्धा, वैराग्य, और पवित्रतम जीवन। श्रद्धा तो सरल और विनीत हृदय में ही टिक पाती है। चतुरता आई कि, श्रद्धा भागी। श्रद्धा को तो भोला भाला चाहिए। जिस हृदय में श्रद्धा होती है, उसी में वैराग्य होता है और जहाँ श्रद्धा और वैराग्य दोनों होते हैं, उसी का जीवन पवित्रतम होगा।

(514) साधन करने से ही साधक के अन्तःकरण में श्रद्धा के रोकने की शक्ति आती है। तभी प्रेमरूपी अमूल्य रतन टिक पाता है, अन्यथा तो नहीं। यदि कोई महापुरुष अनुग्रह करके दे भी दें, तो वह अपात्रता के कारण स्थायी नहीं रह पाता है। क्योंकि वस्तु पात्र में ही टिकती है। और पात्रता आती है, सद्गुरु प्रदत्त साधन करने से।

(515) श्रद्धा में ऐसी सामर्थ्य होती है कि, वह वस्तु न होते हुए भी प्रगट कर देती है। और विश्वास श्रीभगवान का ही स्वरूप है। जिसका विश्वास जितना दृढ़तम होगा, वह उतना ही अधिक उठता चला जायेगा।

(516) मैं इनका हूँ–जिसकी ऐसी मान्यता है, वह साधक। और केवल ये ही मेरे हैं, जिसकी ऐसी मान्यता है, यह है सिद्धावस्था। इनसे कुछ नहीं लेना और अपना सब कुछ इनको (प्रभु को) ही समर्पित कर देना– यह है प्रेम। जो करे, केवल इनके लिए ही करे। अपने लिए कुछ न करे।

(517) श्रीप्रियतम के नाम और चिन्तन का अवलम्ब, श्रीधाम का वास, श्रीभगवान के स्नेही जनों से स्नेह, सौख्य, सौहार्द। यदि ये तीन बात हों तो श्रीभगवत्–प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं, अवश्य ही होगी।

(518) साधक को निरन्तर अपनी रहनी, स्वभाव, वृत्ति, आचरण, आहार, व्यवहार, साधन, श्रद्धा और लक्ष्य का निरीक्षण करते ही रहना चाहिए। ये सब कामना और कुसंग के शिकार तो नहीं बन रहे हैं ? यदि हाँ, तो सावधान। इनका उत्तरोत्तर परिमार्जन होता रहना चाहिए। इनके बिगाड़ने वाली वस्तु, व्यक्ति, स्थान का तत्काल परित्याग कर देना चाहिए, अन्यथा तो पतन सुनिश्चित है।

(519) श्रीभगवत्प्रेम प्राप्ति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। "श्रद्धा"– भक्ति और प्रेम प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

(520) नाम में आसक्ति अवश्य होनी चाहिए। नाम का

नियमित जप करने से स्वंय आसक्ति हो जाती है।

(521) श्रीभगवत्–विग्रह दर्शन, श्रीभगवत्–चिन्तन, श्रीभगवत्–गुणानुवाद, श्रीभगवत्–भक्तों का संग तथा इनकी सेवा करने से अतिशीध्र श्रीभगवत्–प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

(522) जिह्वा पर श्रीभगवत्–नाम हो, मन में प्रियतम की मीठी मीठी याद हो, नेत्रों में अश्रुधारा हो और हृदय में अपने प्राणाधार श्रीप्रभु से मिलने की चटपटी हो, इससे बढ़कर साधक का और क्या सौभाग्य हो सकता है ? अर्थात् यही परम सौभाग्य के लक्षण हैं।

(523) रूप छके झूमत फिरें, तन को तनक न ध्यान।
नारायण दृग जल भरे, यही प्रेम पहचान।।

(524) आवेश में आकर कोई काम न कर डाले। श्रद्धा में आवेश नहीं होता है। अविचल गम्भीरता और धैर्य होता है।

(525) आत्म–विश्वास, श्रम करने का स्वभाव, समय नष्ट न करने की सजगता, अनुशासन में रहने का अभ्यास और लक्ष्य की दृढ़ता। ये सब अध्यात्म में सफलता पाने की कुंजी है।

(526) यदि आप इसी जीवन में मुक्त होना चहते हों ? यदि भगवत्प्राप्ति करना चाहते हों ? और अपना परलोक बनाना चाहते हों ? तो–भूल जाओ कि, कोई आशीर्वाद दे देगा और ईश्वर मिल जायेगा, ज्ञान हो जायगा या समाधी लग जायेगी। हाँ, ऐसा हो तो जाता है, परन्तु वह निष्फल ही रहता है। उससे कोई स्थाई लाभ नहीं हो पाता है। अपने

किये बिना जो कुछ भी प्राप्त होगा, वह केवल धोखा ही होगा। यह भूल ही जाओ कि, परमार्थ पाने का कोई सरल छूमन्तर भी है। अपना सर्वस्व समर्पण किये बिना, अपना अस्तित्व मिटाये बिना, परमार्थ की प्राप्ति न कभी किसी को हुई और न कभी होगी ही। भूल जाओ कि, सब कुछ खाते पीते भी रहोगे, सब कुछ करते भी रहोगे और ज्ञान, भक्ति अथवा समाधी की प्राप्ति भी हो जायेगी। आचरण की शुद्धि किये बिना, किसी भी साधन मार्ग में सफलता नहीं मिल सकती। आचरण की शुद्धि से तात्पर्य है, प्रत्येक इन्द्रिय का शास्त्रोक्त संयमित आचरण। और दूसरी बात आहार की शुद्धि। यदि जीवन में से असत्य, असद् आचरण दूर नहीं हुए तो परमार्थ में प्रवेश कदापि नहीं हो सकता है।

(527) खुले नेत्रों से अथवा ध्यान में अथवा स्वप्न में कुछ भगवज्जन्य वस्तु का दीख जाना अथवा सुनाई पड़ जाने का ही नाम परमार्थ नहीं हैं। भलेही वह कोई ज्योति स्वरूप या श्रीभगवान ही क्यों न हों। **श्रीभगवत् दर्शन का अर्थ–** श्रीभगवान् का दीख जाना ही नहीं है। तन–मन की कोई अवस्था विशेष, जो कुछ काल रहकर समाप्त हो जाती हो, उसका नाम भी परमार्थ नहीं है। उसको भलेही समाधी कहो या साक्षात्कार अथवा और कुछ। केवल बौद्धिक ज्ञान का नाम भी परमार्थ नहीं है। भलेही उस ज्ञान के द्वारा वेद उपनिषद के कठिनतम ग्रंथों की व्याख्या भी क्यों न कर ली गई हो, अथवा दूसरों को पढ़ा भी क्यों न दिये जायँ।

भगवद्दर्शन का अर्थ है कि—जिसके देखने सुनने से अपने तन, मन, प्राण एक उस परमानन्द सिन्धु में डूब जायँ, जहाँ जाकर संसार के सभी सुख, भोग, नीरस वेस्वाद लगने लग जाते हों तथा संसार और शरीर की भी किंचित स्मृति तक न रह जाती हो। ऐसा हुआ, तो जानो कि, भगवद्दर्शन हुआ। इसी का नाम परमार्थ है। अर्थात् प्रियतम की अखण्ड स्मृति के बने रहने का नाम ही भगवद् दर्शन है।

(528) समाधि की सफलता तो संसार के समस्त व्यवहारों से सदा के लिए अरुचि हो जाने में और बहिर्मुखता की सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाने में ही है। यदि ये सब जीवन में से पूर्ण रूपेण पलायन कर चुके हैं, तो समाधि ठीक। अन्यथा तो निद्रा के समान ही निष्फल है।

(529) ज्ञान की सफलता भी तभी मानी जाती है, जब समस्त विषयों से आसक्ति एकदम टूट जाय। वह ज्ञान कैसा ? जिसके होने पर भी विषयासक्ति रूपी अँधेरी रात्रि में ही जीव भटकता रहे। जो समस्त विषयासक्तिओं को मिटादे, वही है ज्ञान।

(530) परमार्थ है—व्यक्तित्व का मिट जाना।

परमार्थ है—देहासक्ति का निर्मूल हो जाना।

परमार्थ है—देह एवं देह के नाम से उठने वाली समस्त इच्छाओं का निर्मूल हो जाना।

(531) परमार्थ की प्राप्ति योग से, भक्ति से और ज्ञान से हो सकती है, और होती है। परन्तु ध्यान रखने की बात है यह

कि, जो जिस पथ का अधिकारी होता है उसे वही पथ अपनाना चाहिए। जो स्वस्थ, संयमी, नियम–निष्ठ हों, वे योग का मार्ग अपना सकते हैं। जो तर्क, कुतर्क रहित बुद्धि, श्रद्धालु, भावुक हों, उनको ही भक्ति–मार्ग अपनाना चाहिए। जो अतिशय विरक्त, तर्कशील बुद्धि, सहज वासना बिमुख स्वभाव, कठोर हृदय हों, वे ही ज्ञान मार्ग में सफलता प्राप्त कर पाते हैं। सबके लिए एक मार्ग है, जो अति सरल भी है और अति–कठिन भी। अति कठिन तो इसलिए है कि, कोई परमार्थ पूर्ण महापुरुष पाना होगा, जो इस समय महा दुर्लभ ही है। और अति–सरल इसलिए है कि, ऐसे महापुरुष में सच्ची आसक्ति कर लेने से, उनके श्रीचरण कमलों में अपना पूर्ण समर्पण कर देने से ही सहज में काम बन जायेगा।

(532) श्रीभगवत्–प्राप्ति की सबसे बड़ी तीन बाधा हैं। (1) अहंकार (2) आशक्ति (3) असंयम।

अहंकारः–जाति का, रूप का, पद का, धन का, योवन का, जानकारी का, विद्या का, बुद्धि का, साधन का, भजन का, सदाचार का और अपनी सरलता, विनम्रता, निरहंकारिता का भी एक अहंकार होता है, जो साधक में भीतर ही भीतर घुन की भाँति रात दिन लगा ही रहता है कि, मैं बड़ा ही विनम्र हूँ, बड़ा ही सरल हूँ, बड़ा ही निरहंकारी हूँ। इन सब प्रकार के अहंकारों का सर्वथा त्याग किये बिना अध्यात्म पथ में प्रवेश हो ही नहीं सकता।

आसक्तिः–परिवार की, स्वजन की, शरीर की, समाज की

और देश की। जब तक इन सभी का पूर्ण त्याग नहीं होगा, तब तक अध्यात्म में प्रवेश हो ही नहीं सकता।

असंयमः—वाणी में, मन में, इन्द्रियों में, उपार्जन में, भाषण में, भोजन में और समय में, किसी भी प्रकार का असंयम साधक के लिए पाप ही है। इसको छोड़े बिना उत्थान संभव ही नहीं। परमार्थ पथ में चले हुए ठीक–ठीक दो पग भी मिटते नहीं हैं। अर्थात् निरर्थक नहीं जाते हैं। जो चल रहा है, वह पहुँचेगा अवश्य ही। भलेही समय कितना भी लग जाय ? अतः चलते ही रहना चाहिए, रुकना नहीं चाहिए।

(533) श्रीभगवत् साक्षात्कार होता है, महापुरुष की प्राप्ति से। बिना सन्त कृपा के यह पथ हाथ ही नहीं आता।

(534) कोई हो, कैसा भी हो, यदि भजन नहीं करता है, तो धोखे में ही है।

(535) बिना भजन के अनर्थ निवृत्ति नहीं हो सकती।

(536) श्रीसद्गुरु वाक्य में कुछ विचार नहीं करना चाहिए, सर्वथा परिपालनीय ही है। सन्त आचरित और शास्त्र सम्मत की भी आवश्यकता नहीं।

(537) मन ही कल्पना करता है, मन ही देखता है, मन ही छूता है, मन ही सेवा करता है, मन ही सुनता है, मन ही समीपता का अनुभव करता है, मन ही विप्रयोग (विरह) की कल्पना करता है। यह कल्पना–राज्य है। सब कुछ कल्पना करनी ही पड़ती है, मानो ऐसा हो रहा है। कल्पनात्मक वस्तु के दो प्रकार हैं—जो वहाँ जाकर अर्थात् श्रीभगवत् धाम

में जाकर करना है, उसको अभी से स्मरण, चिन्तन, सेवा, पूजा, स्तवन के रूप में मन के द्वारा कर चलें। ये वर्तमान काल की क्रिया है, इससे मृत्यु हुई न कि, पहुँचे लीला में। जब जीवनधन मिलेंगे, उनका सानिध्य होगा, तब यह करूँगा, वह करूँगा, ऐसा होगा, वैसा होगा, यह होगा, वह होगा, यह है भविष्य काल की क्रिया। इससे कामना बनती है, प्रियतम के समीप रहने की। सोचे इनको, बिचारे इनको, देखे इनको, सुने इनको, बोले इनको, छूवे इनको, खाये इनको, सोये इनको। इनके लिए करते–करते एकदिन सब कुछ इनके लिए ही हो जायेगा। अपने लिए कुछ भी शेष नहीं रहेगा। यही है–मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

(538) **सात बातः**–(1) प्रति दिन यही सोचना कि, हमारा मार्ग कितना तय हुआ ? (2) अपने जीवनधन की ओर हम कल से आज कितने आगे बढ़े ? (3) श्री प्राणबल्लभ की स्मृति अधिकाधिक रहनी चाहिए। (4) प्राणनाथ उत्तरोत्तर मीठे ही लगते रहने चाहिए। (5) इनकी चर्चा मीठी लगती रहनी चाहिए। (6) इनकी बात प्राण–प्यारी लगती रहनी चाहिए। (7) संसार की चर्चा कडुवी लगनी चाहिए। तब समझना कि, अब हम आगे बढ़ रहे हैं। प्रति–दिन हम यह देखते रहें कि, अपने मन, इन्द्रिय सब श्रीभगवान् की सेवा में लग रहे हैं अथवा नहीं। मन के लगने का अर्थ है–मन की आँखों से प्रभु कभी सामने बैठे, तो कभी खड़े, तो कभी बतराते ही दीखें। इन्द्रियों का लगना यह है कि, प्रत्येक

इन्द्रिय की जो कुछ चेष्टा हो, वह केवल श्रीजीवनधन (प्रभु) के लिए ही हो। जिह्वा से इनका नाम अविरल और अबाध गति से निरन्तर सोते, बैठते, जागते, चलते, फिरते, हर स्थिति में चलता ही रहे। साथ ही मन से ऐसा अनुभव भी हो कि, जीवनधन, स्वयं कृपा करके कह–कहकर मुझ से अपना काम करा रहे हैं। इसमें इतनी सावधानी अवश्य रहे कि, निषिद्ध (गलत) कार्य के करने के लिए प्रभु हमसे कभी भी नहीं कह सकते। यदि मन में अशुद्ध, विकार जनित किसी वस्तु का चिन्तन अथवा स्फुरण हो, तो वह अपना आमंत्रित ही समझना चाहिए और जो विशुद्ध, विकार रहित तथा श्रीभगवत् सम्बन्धी हो, उसको श्रीभगवत्–प्रेरणा समझना चाहिए। जब श्रीभगवत्–प्रेरित शुभ स्फुरण उठें, तब खूब आनन्दित होना चाहिए। साथ ही क्रिया में लाने की चेष्टा भी करनी चाहिए। जब अशुद्ध विकार जनित स्फुरण उठें, तब खूब रो–रोकर अपने श्रीप्रियतम प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि, हे मेरे जीवनधन! जब मैं आपका हूँ, तब फिर यह आपसे दूर करने वाली बात मेरे मन में क्यों उठ रही हैं कृपानाथ ? आपका होने के उपरान्त भी इनसे मेरी पिछाई नहीं छूटेगी क्या? ऐसा करने से तत्काल शान्ति मिल जाती है। जब–जब प्रियतम की स्मृति हो, तब ही तब यह समझना चाहिए कि, इस स्मृति के रूप में मेरे जीवन सर्वस्व ही मेरे समीप पधारे हैं। आहा हा! कितनी कृपा है। यद्यपि पधारे तो अपने मन से ही हैं, परन्तु अब मैं इनको

छोडुँगा ही नहीं। इनको खूब कसके पकड़े रखे। इनसे मन ही मन बात करता रहे, इनकी माधुरी छबि को निहार निहारकर मुग्ध होता रहे। निरन्तर इनकी स्मृति बनी ही रहे। एक क्षण भी मन इनको छोड़कर इधर–उधर में न झाँके। बस, यही है इनको कसकर पकड़ना। जब आये हुए प्रियतम का हमारे द्वारा इस प्रकार से स्वागत होगा, तो ये बार बार, शीध्र–शीध्र आने लगेंगे। जितनी बार ये आयें उतनी बार ही हम इनसे अपने पास ही रहने की प्रार्थना करेंगे, तो फिर श्रीप्राणवल्लभ हमारी प्रार्थना सुनकर, सदा सर्वदा हमारे निकट ही रहने लग जायेंगे। फिर कभी हमें छोड़कर जायेंगे ही नहीं।

(539) मन में किसी प्रकार की कोई उलझन नहीं आने पाये। यदि सावधानी बर्तने पर भी कोई उलझन आने से न रुके, तो प्राणधन से कहकर निश्चिन्त हो जाय। ये स्वयं ही उत्तम प्रकार से उसको सुलझा लेंगे।

(540) मन में सदैव ऐसा दृढ़ निश्चय बने कि–श्रीजीवनधन ही केवल एक मेरे हैं और मैं केवल अपने प्रियतम का ही हूँ। जैसे परस्पर माँ का अपने अबोध शिशु पर तथा शिशु का माँ पर, पति का पत्नी पर और पत्नी का पति पर तथा मित्र का मित्र पर सर्वाधिकार सुरक्षित होता है, वैसे ही मेरा अपने प्रियतम पर और उनका मुझ पर पूर्ण अधिकार है। एकमात्र ये ही मेरे हैं। मुझ सदा सदा के अपने से ये कुछ भी काम ले सकते हैं। इन बातों को बिचारते, सोचते रहने से साधक

शीघ्राति शीघ्र संसार के प्रपंचों से मुक्त होकर, प्रियतम के प्रेमराज्य में प्रवेश कर जाता है।

(541) अपने स्वरूप में ही स्थित रहे–मन को इन्द्रियों से हटाकर, चिन्तन में लगावे। बिचारों के वेग को रोके। बिचार के उद्गम स्थान को खोजे, ढूँढ़े और फिर वहीं जाकर शान्त हो जाय। तभी श्रीभगवत् तत्व का बोध होगा। इसी अर्न्तमुखी अवस्था में नेत्रों के सम्मुख श्रीभगवान नाँचते दिखाई देंगे। निरन्तर इसी प्रकाश में रहना चाहिए। यही सर्वोत्तम प्रकाश है। हमारी आत्मा में ही परमात्मा का निवास है तथा अन्य सबके हृदय में भी वही एक वसा हुआ है। उसे बाहर खोजने की अपेक्षा पहले अपने भीतर ही खोजना चाहिए। अर्थात् अपने अन्तःकरण में देखे, वहीं प्रभु का अनुभव करे। शान्ति, आनन्द, सौहार्द, स्वास्थ्य आदिक सभी वस्तुएँ अपने में ही विद्यमान हैं। अपने अन्तःकरण में श्रीभगवान् बिराजमान हैं, इसका विश्वास रखे। इनके अनुग्रह पर सदैव निर्भर रहे। बाहरी बिचारों से निवृत्त हो जाय। जो अन्तर्मुखी होकर आत्म जीवन व्यतीत करते हैं, यथार्थ में वेही सन्त हैं। भले ही वे गृहस्थ ही क्यों न हों।

(542) जो मन को इन्द्रियों के साथ घुमाते हैं, वे तो अपने को साधु दिखाते हुए भी पामर ही हैं। तटस्थ होकर देखें, संसार को नाटक समझें, इसकी ओर बिना आसक्ति के ही देखें। अन्त में मानसिक प्रपंचों से रहित होकर, आन्तरिक प्रकाश को ही देखें। तब वह दिव्य आनन्द की वर्षा अपने

ऊपर चारों ओर से होती दिखाई पड़ेगी। यही है सर्वोत्तम ज्ञान। इसी का अनुभव करे। (एक साधक के विचार)।

(543) देखो प्राण–प्रियतम खड़े हैं। नख से शिख तक की कैसी अपूर्व शोभा है। श्रीमुखारबिन्द, हस्त–कमल, और पाद पद्मों का तो कहना ही क्या ? सर्वांग सौन्दर्य ऐसा अपूर्व है कि, जहाँ भी एकबार दृष्टि पड़ जाती है, वहीं अटकी ही रह जाती है। फिर हटना ही नहीं चाहती। नवीन जलधर के समान श्यामगात पर पीताम्बर की अद्भुत शोभा मानो श्यामघन बिजली से ओत–प्रोत हो। माथे पर रतन जटित मुकट, जिस पर मोर पंख कैसा झोटा ले रहा है ? उन्नत ललाट पर माता ने कितना सुन्दर श्रृंगार किया है। फिर धनुषाकार भृकुटीयों की शोभा, आकर्ण विस्तृत, कमल दल के समान बिसाल, सुन्दर–मनोहर नयन।

अमिय हलाहल मद भरे, श्याम श्वेत रतनार।

जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहिं चितवत एकबार।।

आहा हा! नासिका का माधुर्य। नासाग्र में बेसर हिल रहा है। शान्त, गम्भीर नील समुद्र जैसे सुन्दर कपोल, फिर दोनों समतुल्य बराबर शंख के सदृश घुमावदार कानों में मकराकृत दिव्य कुण्डलों की दिव्य छटा, दिव्य कपोलों पर देदीप्यमान हो रही है। तामें मनोहर कौस्तुभ मणियों की माला और वैजयन्ती माला तथा पारिजात (कमल) कुन्द, तुलसी, मन्दार आदिक सुगंधित पुष्पों से बनी हुई, कभी ना मुरझाने बाली माला, बिसाल वक्षस्थल पर अति सुशोभित हो रही है।

मनोहर पीताम्बर की फहरान, जिसके दर्शन मात्र से ब्रज बनिताओं का मन उनके हाथों से निकलकर भाग जाता है, कैसा प्यारा लग रहा है। लम्बी–लम्बी भुजाओं पर अंगद की शोभा, हस्त–कमलों में वलय की शोभा, और छोटी उँगलियों से पकड़कर, अपनी त्रिभुवन को मोहने वाली, प्राणप्यारी अलौकिक रागों से भरी हुई, बाँसुरी को लाल–लाल अधरों पर रखकर, अपनी त्रिभंगी में खड़े होकर, अपनी मस्ती में कैसे बजा रहे हैं ? तिरछी चितवन तो रसिकों की जान ही निकाले दे रही है और बंशी की ध्वनि तो मानों कानों में अमृत रस ही घोर–घोरकर भरे दे रही हो। श्री मुखारविन्द का सौन्दर्य और माधुर्य नैंन भरकर निहार लेनां? और कानों से वंशी का अमृत रस भी पान कर लेना ?

लो अब श्रीचरणों की शोभा निरखो ? श्रीजीवनधन राज सिंहासन पर विराज रहे हैं। सहस्र–सहस्र कमल दलों पर श्रीचरणकमल ऐसे सुशोभित हो रहे हैं कि, मानो कमलों के ढ़ेर पर दो बिशेष कमल अलौकिक शोभा पा रहे हों। अहा हा! कैसे दिव्य, अप्राकृतिक, चिन्मय हैं ये श्रीचरण कमल। जिनके स्पर्श मात्र से अष्ट सात्विक सम्पदा (अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, स्वरभंग, स्तंभ, वैवर्ण तथा प्रलय) स्वयमेव उदय हो रही हैं। श्याम रंग के आकाश रूपी श्रीचरणों में तेजोदीप्त नखमणि रूपी चन्द्रिका छटक रही है। मानों दस चन्द्रमा एक साथ ही उदय हो रहे हों। नख से ऐड़ी तक एकदम सुरख लाल श्रीचरणतल, कैसी अलौकिक शोभा है

इस लाली की ? प्राकृतिक जीव तो महावर और मँहदी लगाकर अपने पैरों के एड़ी तलवा लाल करते हैं, बार–बार रचाते हैं, परन्तु फिर भी वो लाली स्थाई नहीं रह पाती है। और यह लाली तो नित्य सहज एकरस, अमिट, अपरिवर्तित, अविचल ही रहने वाली है। अब बरवस मन को आकर्षित करने वाले प्राण–प्रियतम के लाल–लाल श्रीचरण तलों के सुखद मंगलमय शुभ चिन्हों का दर्शन करो, चिन्ह हैं ये। श्रीप्राण बल्लभ, साधक भावन, साधक प्राण, साधक पाल, साधक बत्सल, साधक वांछाकल्पतरु, साधक भवभयहारी, साधक कल्याणकारी, अतएव ये चिन्ह धारण किये हैं श्रीचरण तलों में। अपने लाड़िले साधक का कल्याण करने के लिए, साधक को सुख देने के लिए श्रीप्राणनाथ के दक्षिण पादांगुष्ठ के तल में "यव" चिन्ह सुशोभित हो रहा है। यव (जौ) एक प्रकार का धान्य होता है। यहाँ धान्य का अर्थ है सम्पत्ति। यही यव चिन्ह साधक को सारी दैवी सम्पदा प्रदान करता है। दैवी सम्पदा क्या है ? श्रीभगवत् प्राप्ति का साधन, उसके श्रीसद्गुण तथा सदाचार, जैसे–श्रद्धा, रति, भक्ति, ज्ञान, तप, तितिक्षा, त्याग, वैराग्य, उपरति, विवेक, आत्मीयता, अव्यर्थत्व, आत्मनिरीक्षण, अप्रमाद, भाव, प्रेमरस, विरह, निरभिमानता, सरलता, सुशीलता, उदारता, क्षमा, नम्रता, सहिष्णुता, गम्भीरता, धृति, मुग्धता, मैत्री, मितभुक्ता, दक्षता, समता, सहानुभूति, सेवा, सन्तोष, भावुकता, आचरण शुद्धि, मनस्वबुध्याऽमलयानियम्य, वृत्ति सुधार, तथा अक्षोभ, आदि

आदिक सम्पूर्ण दैवी सम्पदा प्रियतम के श्री चरणतल का यह यव चिन्ह साधक मात्र को प्रदान करता है।

दूसरा चिन्ह है चक्र। जैसे प्रणतपाल अपने चक्र सुदर्शन से दैत्य, दानव असुरों का संहार करके अपने प्रणतजनों की रक्षा करते हैं। बैसे ही प्रियतम के श्रीचरणतल का यह चक्र चिन्ह भी साधक के मन की आसुरी सम्पदा– काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन षट रिपुओं का अथवा काम, क्रोध, मन, उदर, रसना, वाणी, इन छेःओं के वेग का संहार करता है। राग द्वेष, स्वार्थ, अहंकार, घृणा, ईर्ष्या, असूया, आलस्य ,तन्द्रा, उपेक्षा, बारबार भूलना, कटुक्ति, कठोरता, अपमान, रूक्षता, छल–कपट, दंभ आदिक अनेकानेक जो आसुरी सम्पदा जन्म जन्म से साधक के हृदय में घर करके बैठी हैं, इन सबको ये चक्र चिन्ह विदीर्ण करता ही रहता है। इस प्रकार जब साधक के भीतर के शत्रुओं का संहार हो जाता है, तब बाहरी शत्रु कहाँ टिक सकते हैं ? इस प्रकार साधक के भीतरी बाहरी सभी शत्रुओं का नाश हुआ कि, साधक अजातशत्रु बना और अविचल शान्ती आई। यह कार्य करता है प्राणनाथ के श्रीचरणतल का यह चक्र चिन्ह।

इसकी एक बगल में ही बज्र चिन्ह भी अपनी अद्भुत छटा वर्षा रहा है। जैसे इन्द्र का बज्र विसाल से विसाल पहाड़ों को क्षण में चूर–चूर कर डालता है, वैसे ही साधक के जन्म–जन्म के पापों के पहाड़ों को यह श्रीचरणतल का

बज्र चिन्ह क्षण में ही चूर–चूर कर डालता है। जब साधक के पाप समूल नष्ट हो जाते हैं, तब साधक निष्पाप होकर सत्वकी ओर बढ़ता जाता है। जब साधक सतोगुण के राज्य में प्रवेश करता है, तब बुद्धि निर्मल बनती है। तभी पवित्र विचार उठते हैं और तभी अन्तर्मुखी बनता है। जब साधक अन्तर्मुखी हो जाता है, तभी विवेक की जाग्रति होती है और तभी वह जितेन्द्रिय बनता है तथा तभी उसका आत्मबल दृढ़ होता है।

श्रीप्रभु के श्रीचरणतल में एक चिन्ह है अंकुश, जो साधक के दुर्जय मन को अपने अंकुश में रखता है। जैसे बन में विचरण करने वाले मदमत्त गज को अंकुश से ही बस में किया जाता है। वैसे ही विषयरूपी बन में स्वच्छन्द विचरण करने वाले साधक के मन को प्रभु के श्रीचरणतल का यह अंकुश चिह्न दर्शन करने मात्र से ही बस में कर लेता है। मन इस अंकुश की मार से बहुत ही घवराता है। इस कारण इसको देखते ही अपनी सब चंचलता छोड़कर परम शान्त हो जाता है। यही कारण है कि, जब साधक प्रभु के श्रीचरणों का चिन्तन करने लगता है, तो जितने मांगलिक चिन्ह हैं, वे सब श्रीचरणों के साथ ही साधक के मन में आकर बिराजमान हो जाते हैं और फिर उनके भय से मन के समस्त विकार साधक के मन को तुरन्त ही छोड़कर भाग जाते हैं। इसी कारण प्रभु के श्रीचरणों के चिन्तन का विधान सन्त और शास्त्रों ने किया है।

अब आया कमल चिन्ह का नम्बर। जैसे भ्रमर अन्य पुष्पों पर तब तक ही गुंजारता फिरता है, जब तक उसको कमल का दर्शन नहीं होता। जैसे ही कमल का दर्शन हुआ कि, तुरन्त ही अन्य पुष्पों को छोड़कर दौड़कर कमल पर जा पहुँचता है। और फिर अपनी सब चंचलता को छोड़कर कमल की सुन्दरता में ऐसा मुग्ध हो जाता है कि, फिर उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं जाता ही नहीं। जब सूर्यास्त होते ही कमल बन्द हो जाता है तब कमल का रसिक भ्रमर भी उसके साथ ही बन्द हो जाता है। ठीक वैसे ही साधक का मनरूपी भ्रमर तब तक ही विषय रूपी पुष्पों में स्वाद लेता है, जब तक इसको प्रभु के कमल रूपी श्रीचरणों की शरण नहीं मिल जाती। जैसे ही चिन्तन से श्रीचरण कमलों का सानिध्य मिला कि, फिर तो यह ऐसा मस्त हो जाता है कि, इसको अपनी कुछ भी सुधि बुधि नहीं रहती और तभी श्रीजीवनधन इसको ऐसा पकड़ लेते हैं कि, फिर यह इनको छोड़कर भाग ही नहीं सकता। तभी साधक इनका होकर जी पाता है। और तब ये मुक्त कण्ठ से कहते हैं कि, साधक मेरा! मेरा!! मेरा!!!

इससे अधिक साधक का और सौभाग्य, परम सौभाग्य हो भी क्या सकता है ? तब श्रीचरणों की शरण से साधक की विकारों पर विजय पताका फहरा जाती है। विजय ही विजय होती चली जाती है, पराजय नहीं। कल्याण ही कल्याण होता दिखाई पड़ता है। इस प्रकार साधक की

गाड़ी उन्नति के शिखर की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती ही दिखाई पड़ती है, विघ्न बाधा आती ही नहीं। कभी कभी आभास जैसा तो होता है, किन्तु हानि नहीं कर पाती। उल्टी सेवा ही कर जाती हैं। सहारा ही लगा जाती हैं। जो सेवा कर जाय, सहारा लगा जाय, वह विघ्न कैसे ? श्री प्रियतम के श्रीचरणतल का ध्वजा चिन्ह यही सूचित करता है। एक ही पंक्ति में हैं चक्र, वज्र और ध्वजा।

अब श्री वाम चरणांगुष्ठ के नीचे शंख चिन्ह अपनी निराली छटा छटका रहा है। यह शंख चिन्ह साधक को सारी विद्या, ज्ञान, विज्ञान प्रदान करता है। फिर श्रीचरण से ही प्राप्त हैं श्री भक्ति महारानी। भक्ति महारानी तो साधक को वैसे ही सब वेद वेदान्त का सार, शास्त्र, पुराण, इतिहास का निचोड़, तत्वज्ञान और सांख्य का मर्म प्रदान करती हैं। तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म, कठिन से कठिन विषय का ज्ञाता हो जाता है। मुक्त संसय हो जाता है। श्रीप्राणनाथ का कैसा अनुग्रह, कृपा तथा करुणा है कि, निरन्तर साधक का कल्याण करना, सोचना, एक एक चेष्टा साधक के लिए। "कंबा दयालुं शरणं ब्रजेम"। आहा, हा ! परम पूज्य ये श्रीचरणकमल! कितने कोमल हैं, जैसे रुई का फोहा, मक्खन का लौंदा? सुकुमार इतने कि, शोणित (खून) ऐसा तम–तम कर रहा है कि, अब फूटा, अब फूटा। डर लगता है कि, कहीं उँगलिया न छू जाय। यदि छू गई, तो लगि जायेगी। ब्रजबाला भी इन श्रीचरण–कमलों को अपने बक्षस्थल से

बड़ी डरती–डरती लगाती हैं। जब ये परम सुकुमारी ब्रजबाला भी लगने के भय से सशंकित रहती हैं, तब और किसकी सामर्थ्य कि, इन श्रीचरणों का स्पर्श निश्चिन्तता से कर सके, ऐसे हैं ये मधुराति–मधुर श्रीचरण, जिनमें नूँपुर की शोभा कैसी प्यारी–मनोहारी है, जो यक्ष, नाग, नर, गंधर्व, किन्नर, सुर और सुरबालाओं का मन निरन्तर अपनी ओर आकर्षित करती ही रहती हैं। ये सब तड़फ तड़फकर, मन मार मारकर ही रह जाती हैं। परन्तु इनका साहस ही नहीं पड़ता है कि, ये इन परम सुकुमार श्री चरण कमलों का किंचित भी स्पर्श कर सकें। ऐसे परमाकर्षक हैं, ये श्रीचरण कमल। ब्रह्मलोक में पितामह श्रीब्रह्माजी और वैकुण्ठ में जगज्जननी श्रीमहालक्ष्मी, अहोरात्रि, अहर्निश जिन श्रीचरण कमलों की सेवा करती हैं। निरन्तर एक ही चिन्ता, कैसे ये सुखी रहें ? वे ही श्रीचरण कमल हैं ये। कटि लसित पीताम्बरी की शोभा तो देखते ही बनती है। उस पर भी कटि काछनी और फिर ऊपर बँधी कौंधनी मानो सोने मे सुगंध। पीपल के पत्ते के समान सुडौल त्रिवली युक्त उदर, जिसमें गोल गम्भीर नाभि, जो स्वाँस प्रति स्वाँस पर बार–बार बदलती आकृति में दर्शन देकर मन को परमानन्द के सागर में डुवा रही है। बिसाल बक्षःस्थल, उदार बक्षस्थल, मृगेन्द्र सावक के समान विस्तृत बक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न ऐसा शोभायमान हो रहा है, मानो महामरकत मणि की शिला पर स्वर्णकान्त मणि जुड़ी हुई हो। दोनों स्कन्ध मानो सिंह

कन्ध के समान अद्भुत हों। इस प्रकार साधक को अपने श्रीजीवनधन के सम्पूर्ण मंगलमय श्रीविग्रह का चिन्तन के द्वारा आस्वादन करना चाहिए। मन में यह मान लेना चाहिए कि, मुझे अब समस्त सम्पत्ति बिलसने को मिलि गई। चिन्तन के लिए एक आधारभूत सामिग्री मिल गई। इसे खूब भरपेट बिलसे। अपने श्रद्धा, साधन और लक्ष्य में पूर्ण दृढ़ता रहनी चाहिए। इस प्रकार निरन्तर अपने जीवन–सर्वस्व का सान्निध्य ही करता रहे। लग जाय पूरे मन से, पूरी–तत्परता से, अप्रमाद पूर्वक बहाने बाजी न करे। यही अपना परम कर्तव्य है, परम धर्म है।

इसी में डूबता रहे। ऐसा डूबे कि, फिर संसार की तो क्या चले, शरीर की भी सब सुध बुध खो जाय। यह भी पता नहीं चले कि, सूर्योदय पूर्व दिशा में हुआ है या पश्चिम में। इस प्रकार डूबते–डूबते ऐसा डूब जाय कि, अन्ततोगत्वा अपने प्राणधन की नित्य सेवा में ही पहुँच जाय। क्यौंकि, अध्यात्म की समस्त उपलब्धियाँ कृपा–साध्य ही मानी जाती हैं, परन्तु फिर भी ऐसा मानकर अपने कर्तव्य–पालन में, अपने लगने में, करने में, किंचित भी कमी नहीं छोड़े। पूरी तत्परता से, पूरी सत्यता से, पूरी लगन से करते हुए भी मन में अवलम्ब रखे कृपा का ही।

(545) मोह होता है धन में, परिवार में, शरीर में और मान प्रतिष्ठा में। मन जिस वस्तु को अपनी मान लेता है, उसी में मोह कर बैठता है। तथा यही मोह जितने भी दुर्गुण हैं रज,

तम, क्रोधादिक विकारों को भी बुला लेता है। कहने का तात्पर्य है यह कि, मोह ही इन शत्रुओं का पोषण करता है। सारांश यह है कि, जब तक सम्पूर्ण दुर्गुण अपने जननी मोह के साथ नष्ट नहीं हो जाते, तब तक श्रीभगवत्–स्मृति नहीं हो सकती। असाध्य ही रहती है।

(546) यह महा महा वाक्य है:–चारों वेद, छहो शास्त्र और सभी पुराण यही उपदेश करते हैं कि, निन्दा किसी की न करे। महावाक्य है "परनिन्दा सम अघ न गरीसा" परनिन्दा के समान कोई पाप नहीं।

(547) साधन काल में साधक को कठोर आत्म–संयम, अदम्य इच्छा–शक्ति और दुर्जय–आत्म विश्वास की आवश्यकता है।

(548) साधक इन दोनों बातों का बहुत ही ध्यान रखे।

(1) जहाँ तक हो सके, हम सदैव शुभ कार्य करने का ही विचार रखें। हमारे विषय में लोग बहुत सी आलोचना करेंगे, किन्तु हमें चाहिए कि, हम किसी के विषय में न कुछ कहें, न कुछ विचारें। (2) प्रत्युत अपने से जो भूल हो गई हो, उसको भविष्य में सुधारने का प्रयत्न ही करते रहें। बहुत ही बचे उत्तेजना से और अभ्यास बढ़ाये सरलता और दीनता का। और ये मिलेंगी श्री सद्गुरु चिन्तन से।

(549) साधन–काल में साधक के लिए परमावश्यक है कि, भजन का नियम निश्चित हो, प्राणपण से पालन हो, अप्रमाद, अनवधानता, उत्साह और प्रेम–पूर्वक हो, बिना प्रयत्न के

रसना नाम जपने लगे।

(550) ऐसा अभ्यास हो कि वाणी का सदुपयोग अधिक से अधिक नाम जप में ही समझे।

(551) शुद्ध आचरण करे।

(552) यथा–शक्ति बोलने से बचे।

(553) एकान्त में लय के साथ नामजप करे।

(554) जैसे दूध को बड़े ही स्वाद से घूँट घूँटकर पीते हैं, वैसे ही सुस्वाद पूर्वक श्रीनामामृत का भी पान करे।

(555) श्रीनाम जपते–जपते अति आनन्दित होना।

(556) भजन में सहायक–श्रद्धा, शुद्धाचरण, शुद्धान्तःकरण, शुद्धतम–विचार, अपरस में रहना (बिकारों से स्पर्श रहित)। पूर्ण–साधुता, नम्रता, सुशीलता, मार्दव, निरभिमानता एवं सरलता, हित मिताहार, एकान्तवास, स्वप्नावोधस्य, चिन्ता राहित्य, स्वच्छ वायु, स्वास्थ्य, भावावेश, भजन के बाधकों से सर्वथा बचना, परदोष–अदर्शन का पूर्ण–अभ्यास, परचर्चा राहित्य, स्त्री सम्पर्क से सर्वथा बचना, अत्याहार से सर्वथा बचना, भजन, नियम–पालन तथा आहार में सर्वथा संकोच का त्याग, संयमी, तपस्वी, श्रद्धालु, भावुक, पवित्र तथा प्रेमी बनना, नियम–पालन में पूर्ण–दृढ़ता, दृष्टि–संभार, विजय तथा पराजय का नित्य चिन्तन, समयानुसार नितान्त एकान्त में आत्मनिरीक्षण करना और विचार करना।

(557) **आत्मनिरीक्षण**–अद्यावधि श्रीभगवत्–कृपा है, तब फिर भविष्य में भी होगी ही, अपनी नीचता, अपनी–प्रतिज्ञा,

भजन में रुचि कैसी है, नियम–पालन में प्रमाद तो नही, साधन की दिन व दिन अवस्था कैसी है ? इन्द्रियों की पवित्रता ? मन की स्वच्छता ? श्रद्धा में कमी तो नही आ रही ? आत्मोत्थान कितना ? लोक रंजन तो नहीं हो रहा है? एकान्त प्रियता है या नहीं ? किसी को देखने की, मिलने की, बोलने की, साथ चलने की, तथा कैसे भी सम्पर्क करने की इच्छा तो नहीं बन रही ? निरासा का सर्वथा अभाव ? इष्ट–बल की पूर्णता ? संसार से मात्र व्यवहार ? संसार से अनासक्ति ? प्राणनाथ के अनुग्रह का स्मरण ? अवशिष्ट जीवन में सफलता का ध्यान ? इष्ट–निश्चय ? इष्ट का तात्विक स्वरूप चिन्तन करना ? लीला का रहस्य चिन्तन करना ? अपना स्वरूप–चिन्तन करना ? संसार का स्वरूप चिन्तन करना ? ज्ञान, भक्ति, बैराग्य, विवेक, त्याग, उपरित, तितिक्षा, भाव तथा प्रेम की प्रामाणिक व्याख्या विचारनी। श्रीब्रजवास में दृढ़ता रखनी। श्रीब्रजरज महिमा का चिन्तन करना।

(558) **निष्कर्ष**–भजनानन्द का अनुभव करना। मनन करना। श्रीप्राणनाथ का सान्निध्य। पूर्व नियमों में दृढ़ता। विजय पराजय विवरण। परदोष–दर्शन एवं परचर्चा राहित्य।

(559) **मौन का आशय**–केवल वाणी के ही मौन से सन्तोष न कर बैठे। वाणी का मौन रखा गया है, केवल श्रीभगवन्नाम जप के लिए। श्रीभगवद् गुणानुवाद गाने के लिए। वाणी रोकी गई है अन्य संसारी बातों से। इसी प्रकार नेत्र, कान,

हाथ, आदिकों का भी मौन रखा जाय। आगे बढ़ने पर मन का भी मौन करे। अर्थात् संसारी चिन्तन भी न करे, यही है मन का मौन।

(560) **प्रश्न**–संसारी चर्चा और संसारी चिन्तन न करे, तो खाली मन से क्या करना चाहिए ? मन तो एक क्षण भी खाली नहीं रह सकता है ? यह इसका सहज स्वभाव है ? तो फिर क्या चिन्तन करना चाहिए ?

उत्तर–साधन सम्बन्धी बिचार करना, श्रीनाम सुनना, अपने नियमों का विचार करना, अपनी त्रुटि का निरीक्षण करना, स्वास्थ्य का बिचार करना, श्रीजीवनधन का सान्निध्य करना, इनसे वार्तालाप करना, इनसे हँसना, खेलना और इनकी सेवा करनीं, अद्यावधि प्रभु द्वारा की हुई कृपा का बिचार करना, भविष्य में कृपा की पूर्ण आशा। आत्म–निरिक्षण करना। स्वदोषों को बड़ी गहराई से खोजना, साथही उनके निष्कासन का पूर्ण–प्रयत्न करना।

(561) सम्प्रति मनुष्य के दो ही कर्तव्य हैं–सेवा और श्रीभगवत् स्मरण। सेवा में निस्वार्थता और निरहंकारिता। स्मरण में अपने इष्ट में प्रगाढ़–आत्मीयता की परमावश्यकता है।

(562) इनको (भगवान को) कुछ भी मत कहो। केवल इनकी कृपा को स्वीकारते हुए काम में लाओ।

(563) कहो कम, करो अधिक। कहने में लग जाओगे, तो करने में कमी आयेगी ही। इसलिए करने में ही लगो।

(564) लग ही रहे हो, तो फिर लगन से क्यों नहीं लगते ?
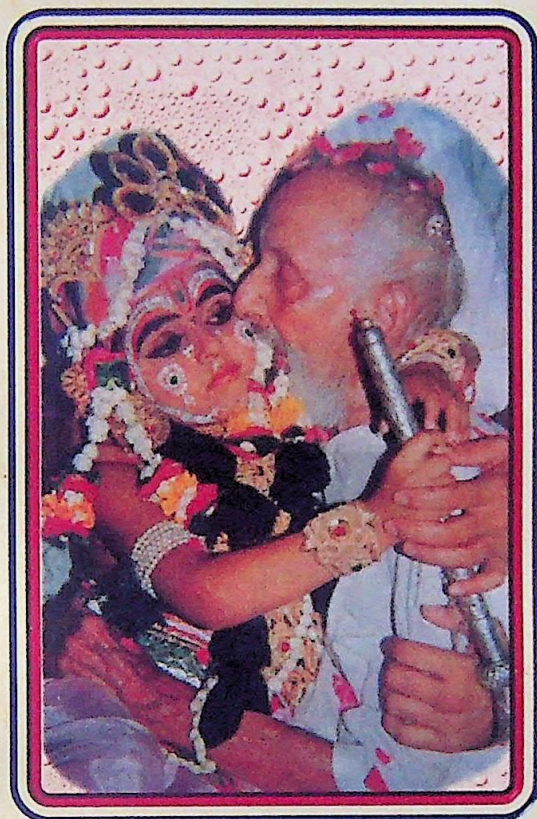
प्रेमी प्रियतम आलिंगन मुद्रा में
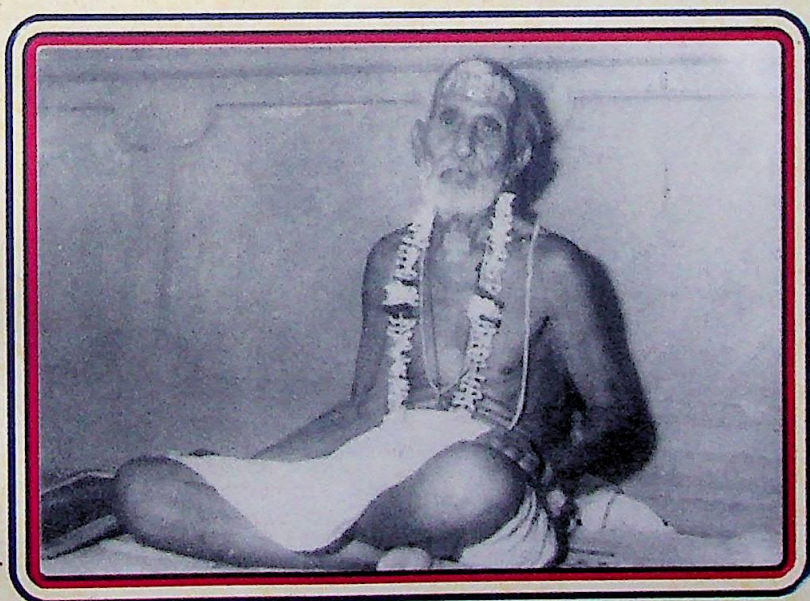
पूज्यपाद भाव समाधि में
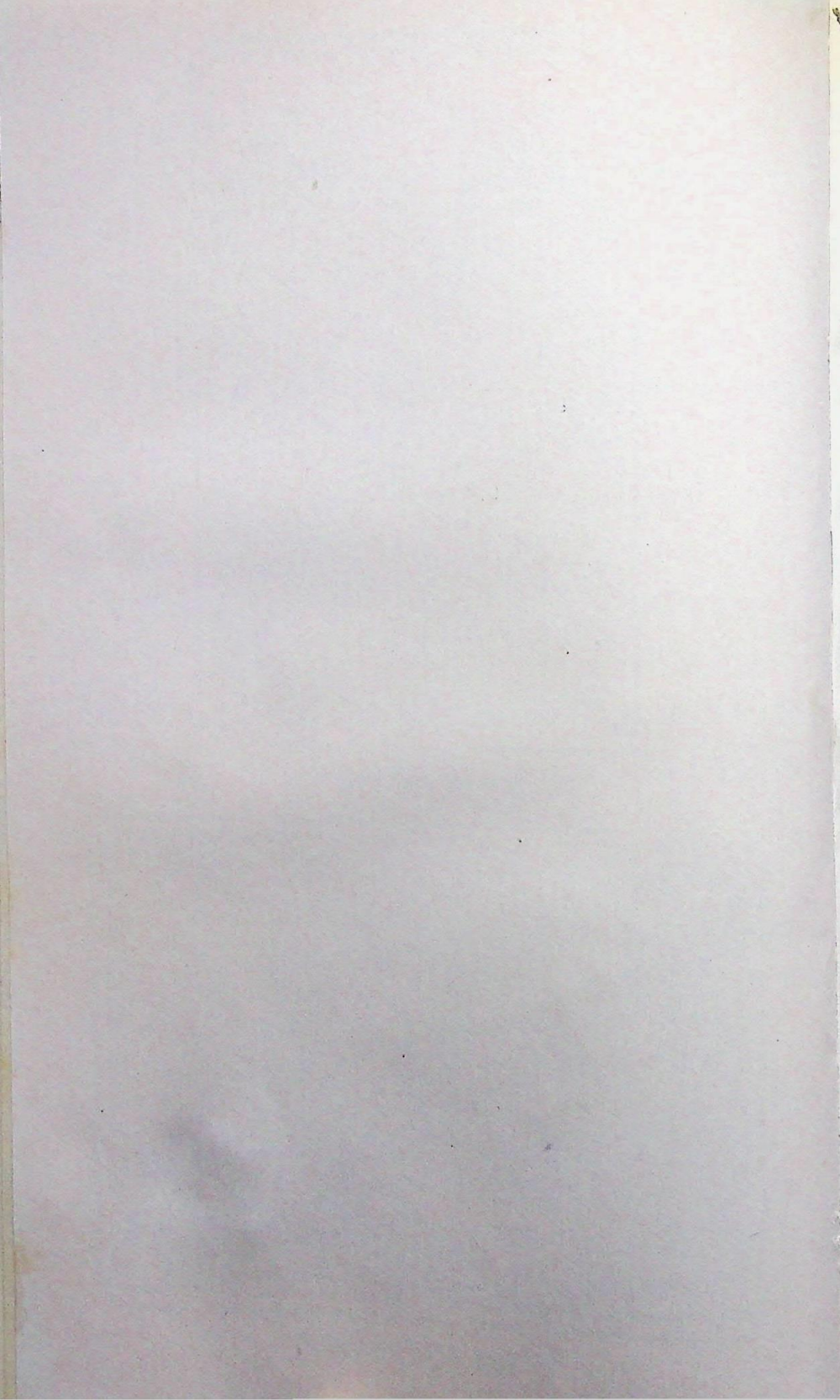
(565) **प्रश्नः**—आत्म निरीक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तरः—करनी और कथनी में कितना अन्तर है, यह देखो, सेवा बहुत ही ऊँची वस्तु है। जिससे श्रीभगवान रीझते हैं, उसी अपने जन को सेवा या विरह देते हैं।

(566) **प्रश्नः**—सेवा बन पाई है ? यह कब माना जाता है ?

उत्तरः—सेव्य के समस्त सद्‌गुण स्वभावतः अपने में उतर आयें।

(567) अन्तर्मुखी होकर यह देखना होगा कि, इनके प्रति हमारी श्रद्धा. कितनी है ?

(568) श्रद्धा ही तो अध्यात्म का मूल है।

(569) साधन किये बिना श्रद्धा ठहर ही नहीं सकती।

(570) श्रद्धा को पुष्ट करता है सदाचार।

(571) शास्त्र या सन्त के वाक्य को ज्यों की त्यों मान लेना ही श्रद्धा है। सीधे शब्दो में अपनी बुद्धि से काम नहीं लेना।

(572) श्रद्धा का अन्तिम फल है श्रीभगवत्प्रेम या आत्मबोध।

(573) बनो मत, तुमको होना है। करने से ही होता है। जो आज्ञा हुई है, वही करो।

(574) अब आवश्यकता है—निरन्तर श्रीनामजप की तथा निरन्तर सावधानता की। प्रति दिन प्रतिक्षण आगे ही बढ़ते चलें, यही प्रयत्न रहे।

कृपालु रकृत द्रोहस् तितिक्षुः सर्व देहिनाम्

एवं

दान्तेन्द्रिय—प्राण शरीर धीः सदा

तथा

सबहिं मान प्रद आपु अमानी। ये धारण में आ जायँ।

(575) **श्रीभगवन्नाम जप की बिधि**—अन्त्यन्त आदर और प्रेम के साथ मन्द मन्द ऐसा ध्वनि पूर्वक जो कान (श्रवण) सुनते रहें, मन को भी कानों के साथ आनन्द लेने में लगाना, श्रीनाम के रस में डूबने का निरन्तर अभ्यास बढ़ाना, अपने आपको कृतकृत्य मानना, श्रीप्राणनाथ की कृपा का बार बार आभार मानना, जो मुझ जैसे छुद्र जीव से भी अपना परम पावनातिपावन नाम—जप करा रहे हैं, श्रीनामरस में डूबने के पश्चात् अब कुछ अवशेष नहीं रह गया है, ऐसा अनुभव करना, इसी में जीवन की सफलता का अनुभव करना।

(576) निरन्तर यह दृढ़ विश्वास रहे कि—मेरे सिर पर श्रीसद्गुरु भगवान् का बरद हस्त है। अतः मुझे पूर्ण—श्रद्धालु, पूर्ण संयमी, पूर्ण सदाचारी, सच्चा साधक, एवं पूर्ण भजन परायण तथा पूर्ण प्रेमी अवश्य ही बनना पड़ेगा। मुझ में पूर्ण साधुता आकर ही रहेगी। मेरे साधन के फल स्वरूप नहीं, बल्कि अपनी अहैतुकी कृपा के बल से ही श्रीप्राणनाथ मुझे अपनी ओर खींच रहे हैं। मैं एक न एक दिन अवश्य ही प्रियतम के प्रेम का पूर्ण अधिकारी बनुँगा। मुझ में अब एक भी दुर्गण नहीं रह सकता है और एक भी सद्गुण मुझसे बच नहीं सकता है। अर्थात् इस पथ के पथिक के समस्त सद्गुण अब मुझमें आकर ही रहेंगे। इनको अपनी आँखों से देखता हुआ ही इस शरीर का विसर्जन करूँगा। अद्यावधि

ऐसा संयम, उत्साह, तप, लगन, नियम पालन, सात्विकी–वृत्ति, साधुता, स्वदोष निष्कासन, साधन में दृढ़ता, अव्यर्थत्व, आत्म निरीक्षण एवं श्रीप्राणनाथ का सान्निध्य कभी भी नहीं हुआ होगा, जो अब उत्तरोत्तर करूँगा। ऐसा उत्साह मन में भरा ही रहना चाहिए। साधन काल में स्वस्थता की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी साधन उचित रूप से बन पाता है। आहार, निद्रा, शारीरिक श्रम, शाक, शुद्ध जलवायु, स्नान एवं प्रसन्नता का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(577) **संयम**–सहसा दृष्टि उठ जाने का अभ्यास मिटाना, श्रुति के विषय में इतना ही पर्याप्त है कि, कम, बहुत ही कम सुनना। जो अनुकूल पड़ता हो और जो स्वास्थ्य में सहायक हो, ऐसा ही आहार करना चाहिए। उदरपूर्ति और शरीर की रक्षा के दृष्टिकोण से ही आहार करना चाहिए, जिह्वा के स्वाद की दृष्टि से नहीं। रोग बिवसता में साधक को औषधि भी स्वीकार कर लेनी चाहिए। यह वाक्य सदा स्मरण रहे–"**स्यादाहारः स्वादु संकोच हेत्वाधिक्य विषमारुचिकर पर्युषिताहित रहित एव मे**"।

अर्थात् आहार में स्वाद, संकोच, अधिक, विषम, अरुचिकर,बासी, सबका अदला बदली किया हुआ तथा जूँठा आहार कभी भी नहीं करना चाहिए। बहुत बढ़िया स्थान, अन्य बढ़िया वस्तुएँ तथा बहुत बड़े धनिकों से स्वार्थ के अभिप्राय से सम्पर्क, ये सभी सर्वथा त्याज्य हैं।

(578) अपने नियम की सूची बना लेनी चाहिए। सायंकाल

में सूची के अनुसार अपनी दैनिक साधना पूर्ण करके ही शयन करना चाहिए।

(579) इन कार्यों की पूर्ति में प्रमाद न होने पाये।

(580) मन को शनैः शनैः श्री जीवनाधार के सानिध्य में पहुँचाना। अन्यत्र से आसक्ति को हटाना।

(581) बंचना से बचने का पूर्ण प्रयास करना।

(582) भजन के समय आलस्य आने ही नहीं पाये।

(583) समय को अधिक से अधिक बचाकर भजन में ही लगाना।

(584) हमें चाहिए कि, जब वाणी से बोलना बन्द है, तब फिर मन से बोलना भी बन्द करें। आत्यावश्यकता के अतिरिक्त कोई भी बात मन से भी न बोले।

(585) दृष्टि–संयम, वाणी–संयम, मन और इन्द्रिय–संयम में एकबार भी प्रमाद न होने पाये।

(586) यह एक ही सूत्र सारा दृष्टि संयम करा देगा–

"स्याद् दृष्टिः सदा परदोष योषिद् दर्शनीया
प्रयोजन द्वेष विकार हेत्वभावैव नः"।

अर्थात् स्त्री और परदोष दर्शन तथा द्वेषादिक विकारों के प्रयोजन से कभी भी दृष्टि नहीं उठनी चाहिए। कितना सरल उपाय मिलि गया। दृष्टि उठने से पूर्व इस सूत्र का स्मरण कर लिया जाय, तो सहज ही दृष्टि संयम बन जायेगा। जहाँ–जहाँ श्रीभगवान् के सम्बन्ध की कोई वस्तु हो, वहाँ–वहाँ ही दृष्टि उठे।

(587) **मार्मिक बात है केवल एक**—काम विकार के भाव से दृष्टि को बहुत ही सँभाले। क्योंकि, काम विकार को दृष्टि से पूरा आहार मिलता है। अतएव दृष्टि संयम का प्राणपण से पालन करना चाहिए।

(588) भजन करना ही सबसे बड़ा कार्य है।

(589) जिस काम के लिए आये हो, वह पहले पूरा करलो।

(590) **सौभाग्य एक**—केवल भजन ही सुहाय।

दुर्भाग्य यह कि—भजन छोड़कर अन्य कार्यों में लगना। भजन करते—करते जियें, भजन करते—करते मरें। अगले जन्म क्या करेंगे ? भजन।

(591) पूर्ण—विश्वास रखो कि, श्रीप्राणनाथ तुम्हें बुला रहे हैं। तुम्हें इनकी नित्य सेवा में सम्मिलित होना ही पड़ेगा। हाँ, यदि कुछ विलम्ब है, तो केवल अपने दृढ़—संकल्प का ही।

(592) साधु के लिए यह भी परम—आवश्यक है कि, वह अपने आचरण पवित्रतम बनाये।

(593) श्रद्धा एवं सदाचार सहित भजन करना चाहिए।

(594) यदि यह इच्छा हो कि, इसी जीवन में भजन का फल मिल जाय, तो श्रद्धा और सदाचार को दृढ़ता से पकड़े रहे।

(595) यदि दीर्घकाल पर्यन्त पूर्ण विश्वास के साथ यह त्रिपुटी (श्रद्धा, साधन, सदाचार) सध गई, तो स्वल्पकाल में ही सफलता हस्तगत हो जायेगी।

(596) श्रद्धा, साधन, सदाचार तथा वैराग्य में सन्तोष न होने पाये।

(597) जो मृत्यु के समय अथवा पीछे करना पड़ता है, उसे इसी क्षण से करते चलो।

(598) संसार की ओर से आँख बन्दकर के, अन्तःकरण में श्रीजीवनधन की सतत स्मृति में मन–बुद्धि ऐसे डूब जायँ कि, संसार और शरीर की भी स्मृति न रहे। यही तो उत्तम मृत्यु है। कौन कहे यह मृत्यु है या अमरत्व।

(599) संसार में जो कुछ हो रहा है, उसे होने दो, तुम तो अपने लक्ष्य पर ही डटे रहो।

(600) संसार के सुधार का काम उन पर ही छोड़ दो जिन्होंने इसकी रचना की है तथा जो इसके स्वामी हैं। तुम तो अपने सुधार की धुन में ही लगो।

(601) प्रमाद रहित होकर पूर्ण–योग से साधन में डटे रहो। साध्य तो साधन का फल है।

(602) साधक विषयों की ओर मुड़ पड़ता है, यह पतन तो है ही, किन्तु संसार के सुधारने का बीड़ा उठा लेना भी कोई कम पतन नहीं।

(603) साधक का उद्धार तो उसी क्षण से होने लग गया, जिस क्षण से वह पूर्ण मनोयोग से पूर्ण तत्परता और विस्वास के साथ भजन में जुट पड़ा।

(604) बहुत जानकार बनने के चक्कर में न पड़े, कर्त्तव्य परायण ही बने। कर्तव्य परायणता ही सफलता की कुंजी है

(605) कहना कम, सुनना कम, करना अधिक।

(606) इन्द्रिय तथा मन से सदा सावधान रहना। इनको

जीत लिया है, ऐसा मत मान बैठना।

(607) तदेव करणीयं हि, संविचार्य विवेकिना।

सद्भिराचरितं यत् स्यात् सर्वथा शास्त्र सम्मतम्।।

विवेक पूर्वक विचार से वही करना चाहिए जो सब प्रकार से शास्त्र सम्मत और सन्त आचरित हो।

(मार्ग0 कृ0 2 शुक्र0 निशीथान्तर 3 बजे के अनुमान)

(608) साधक की चार अवस्थायें हैं–विषय सेवन के विषय में हम अति–बृद्ध हैं, साधु हैं। साधु के लिए विषयों से बचना परमावश्यक है। साधन करने में तथा नियम–पालन में पूर्ण युवा हैं। भोलेपन में, सरलता में, निश्च्छलता में, निर्दाम्भिकता में और निर्विषयता में बालक हैं। जिज्ञासा में, दूसरे बड़े साधकों के समक्ष, श्रद्धा में तथा प्रेमपथ में अबोध शिशु हैं।

(मार्ग0 कृ02 शुक्र0 निशीथान्तर 3 बजे पीछें)

(609) **साधक में चारों वर्णः–ब्राह्मण**–तपोनिष्ठ, सदाचारी, इन्द्रियजित, विद्वान, मर्मज्ञ, तत्वज्ञ एवं कर्मनिष्ठ, धर्मनिष्ठ और आदर्श होता है। इस विषय में हम ब्राह्मण हैं।

क्षत्रिय–शूरवीर, जितेन्द्रिय, निर्व्यसनी, सतर्क, शत्रुदमन में परम दक्ष, संग्राम में पूर्ण सावधान, विजयेच्छु, कभी भी कैसी भी परिस्थिति में हतोत्साही न होना तथा पूर्ण उद्योगशील होता है, इस विषय में हम क्षत्रिय भी हैं।

वैश्य–व्यापार के लिए देश–देशान्तर में भ्रमण करना, व्यापार में परम–दक्ष, हानि सहने में असमर्थ, उन्नतिशील, निरालस्यी, सतर्क, पूँजी जोड़ने में असन्तुष्ट, व्यय करने में अति

सावधान, व्यापाराधिक्य और उन्नति में सदा प्रसन्न रहना और व्यापार की कमी में, घाटे में, खिन्न तथा दुखी होता है। इस विषय में हम वैश्य भी है।

शूद्र—दीन, सेवा परायण, पूर्ण—सावधान, अहंकार शून्य, अति सहिष्णु, क्रोध रहित, अल्पभाषी, अति—संयमी, स्वसुख परित्यागी—"सबहिं मान प्रद आप अमानी"। "सरल सुभाउ न मन कुटिलाई"। गम्भीर, क्षमाशील, परम नम्र तथा सेव्य सुख में सुखी रहता है, इस विषय में गुरुजनों के समक्ष हम भी शूद्रवत् हैं। चारों वर्णों के धर्म लक्षण तथा स्वभाव हमारे एक में ही होने चाहिए।

(610) **साधक जगत में चार (पुण्य और पाप):—**

(1) पुण्य है— दृढ़तम महदाश्रय। इसका फल होगा यह कि—सुख, शान्ति, साधन में अभिरुचि, श्रद्धा, सदाचार—पालन, श्रीभगवत् की ओर झुकाव तथा त्याग और वैराग्य।

पाप है—स्वतन्त्र रहकर साधन करने का बिचार। इसका फल होगा यह कि—साधन में गड़बड़ी, एक निष्ठा का अभाव, दुःख, अशान्ति, साधन में अरुचि, दम्भ, देहाध्यास की बृद्धि तथा भोग वासना में रुचि।

(2) पुण्य है—साधन का नियम बनाकर पूर्ण प्रयत्न से पालन करना। इसका फल होगा यह कि—प्रगति में बृद्धि तथा अनुभव लाभ।

पाप है—नियमों के पालन में प्रमाद—उपेक्षा। इसका फल होगा यह कि—उद्वेग, उच्चाट, बुद्धि में मलीनता, अश्रद्धा,

साधन में अकथ शिथिलता, एवं पतनोन्मुखी वृत्ति।

(3) पुण्य है—संयम पूर्ण जीवन। इसका फल होगा यह कि अन्तर्मुखी वृत्ति लाभ, तदनुसार चित्त में अतुलित सुख, साधन में गहराई, आन्तरिक आह्लाद, विषयों से अरुचि, श्रीप्रियतम मिलन की लालसा एवं लाभ में अतृप्ति।

पाप है—बार–बार नियम, विचार तथा साधन–परिवर्तन। इसका फल होगा यह कि—असन्तोष, अविश्वास, नास्तिकता की बृद्धि, महच्चरित्रों में आलोचना, पतनोन्मुखी वृत्ति, विषयों में रुचि, गुप्त कार्य तथा अन्तःकरण में बेचैनी।

(4) पुण्य है—आत्मनिरीक्षण। इसका फल होगा यह कि स्वदोष दर्शन, विकार असहन, उनके निष्कासन में कटिबद्धता, श्रीजीवनधन के सान्निध्य का अनुभव तथा प्रेमालाप।

पाप है—सर्वथा वैपरीत्य। अपने अहंकार का भाव, विधि पथ, मंत्र, नाम, ध्यान, ग्रन्थ तथा इष्ट में अनन्यता के स्थान पर अन्यता तथा असूया की बृद्धि। इसका फल होगा यह कि, पाप वहन, भयंकर अपराध, चिन्ता, द्वेष, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, बात बात में क्रोध, महदवज्ञा, गुप्त भाव से विषय सेवन, इन्द्रिय लोलुपता की वृत्ति एवं अधःपतन।

(611) यदि श्रीनाम का शुद्ध तथा स्पष्ट उच्चारण हो और साथ ही कानों से श्रवण हो, मन में आह्लाद हो, तो लय तथा विक्षेप आप ही समाप्त हो जाते हैं। फिर इनको भजन में गड़बड़ी करने का अवसर ही नहीं मिलता। फिर यदि शक्ति लगाकर भजन हो, तो इसका प्रभाव हृदय पर पड़ता

है। जो साधक को बहुत ऊँचा चढ़ा देता है। जब साधक ऊपर उठता है, तब कषाय तथा रसास्वादन दोष भी नष्ट हो जाते हैं ।

(फाल्गुन सुदी द्वादसी श्रीगुरुवार सम्वत् 2027)

(612) आज साधु–समाज में भी छल, कपट, विरोध, बढ़ गया है, विलासिता भी बहुत बढ़ गई है, स्वार्थ भी बढ़ गया है। अपने को इनसे बहुत ही बचाना है। सादा जीवन ही जीने का अभ्यास बनाना है। अपने में स्वार्थ की गन्ध तक भी न रहे। बाहर–भीतर पूर्ण–साधुता ही भरनी है।

(आश्विन शु011 श्रीगुरुवार सं0 2028 सन् 1971)

(613) **कल्पनात्मक वस्तु दो**–जो वहाँ जाकर करना है, उसे अभी से कर चलें। वर्तमान काल की क्रिया, जैसे–मन द्वारा स्मरण, चिन्तन और सेवा। इससे मृत्यु हुई न कि, पहुँचे लीला में। चिन्तन करना है कि, यों करूँगा, त्यों करूँगा, यह करूँगा, वह करूँगा, ऐसा होगा, वैसा होगा, ये है भविष्यकाल की क्रिया, ऐसी कामना बनाये।

(सं0 2029,शुद्ध वै0शु06,अमृत सिद्धीयोग श्रीगुरु पुष्य)।

(614) परम मांगलिक दिवस। इसका पूर्ण–सदुपयोग। कृपा तो पूर्ण है ही। अब आवश्यकता है इसके सँभालने की। सर्वप्रथम लक्ष्य–दृढ़ बने। लक्ष्य–दृढ़ बनने से जो कुछ साधन किया जाता है, वह सब लक्ष्य में ही लगता है। अन्यथा प्रपंच खड़ा हो जाता है।

(615) प्रेम–केवल और केवल इनमें (प्रभु में) ही। जो कुछ

करे केवल प्रेम के लिए ही करे। त्याग, वैराग्य, साधन, सम्बन्ध केवल प्रेम के लिए ही करे। प्रेम में परमावश्यक है, स्वभाव का अति–उत्तम, अति सरल, अति–विनम्र होना, कठोरता छू न जाय।

(616) **रहनी अति उत्तम बने**–साधु बने, तो पूर्ण–साधुता निभावे, पूर्ण–वैराग्य मन में भरा ही रहे। निरन्तर अपने आपको उठाता ही रहे।

(617) **उत्थान क्या वस्तु है ?** श्रीभगवान् की ओर सतत झुकाव बढ़ता ही रहे, यह है उत्थान। और इसके विपरीत संसार की ओर झुकाव होते जाना ही है पतन।

(618) श्रीसद्गुरु–भगवान, श्रीब्रजधाम्, श्रीगिरिराजजी, श्रीब्रज रज महारानी, श्रीभागवत्जी, श्रीरामायणजी और श्रीठाकुरजी में उत्तरोत्तर आत्मीयता बढ़ती ही जानी चाहिए तभी लाभ।

(619) मन अति पवित्र बने, चिन्तन बढ़े, कल्पना बढ़े,मन के द्वारा निरन्तर उसी लोक में निवास करता रहे। मन अति–सूक्ष्म है। मन के द्वारा जो होता है, अतिसूक्ष्म ही होता है। ऊँचे शास्त्र, ऊँचे सन्त, सभी ने मन पर बहुत ही जोर दिया है। मन से रहना ही सच्चा रहना माना गया है और मन से करना ही सच्चा करना माना गया है।

(620) यदि मोह हो, तो केवल श्रीभगवान में और श्री भगवज्जनों में ही हो। भजन करोगे, तो भोग्य तो आयेगा ही। उससे कैसे भी अपने को बचा लें। बड़े–बड़े प्रलोभन आयेंगे, धनिक लोग आयेंगे, प्रार्थना करेंगे कि–श्रीभगवन्!

यदि आपकी रोटी का प्रबन्ध यहीं हो जाय, तो आप निश्चिन्त होकर भजन कर लेंगे। यदि आपके लिए एक कुटिया बन जाय, तो बड़ी सुविधा रहेगी। इस प्रकार की अनेकों बात आयेंगी। देखने में तो सुविधा सी प्रतीत होंगी, परन्तु होंगी महा–बाधक ही। किसी एक के हाथ बँध जाना पतन का कारण है, जो कदापि उचित नहीं हैं।

(621) समस्त–शास्त्र, सन्त और आचार्यों ने आज्ञा की है कि, साधु को तो भिक्षान्न से ही निर्वाह करना चाहिए। मान, प्रतिष्ठा और पूजा से सदैव सावधान ही रहना चाहिए।

(622) श्रीकृष्ण में प्रेम हो, इसी के लिए अपने सभी साधन, भजन, चिन्तन, नियम, संयम होने चाहिए। अर्थात् जीवन ही इसी के लिए होना चाहिए।

अब करि कृपा देहु वर एहू।
निज पद सरसिज सहज सनेहू।।

(623) मन की चंचलता बढती है राग–द्वेष से। राग–द्वेष होते हैं कामना से। अतएव कामना को ही मिटाना है। इतर कामना मिटती है केवल श्रीभगवत् कामना से। कामना नष्ट हुई न कि, राग–द्वेष मिटे। राग–द्वेष मिटे न कि, मन शान्त, स्थिर, सुस्थिर हुआ। (सम्वत् 2031 अक्षय तृतिया श्रीगुरुवार)।

(624) यदि इसी जीवन में भगवत्प्राप्ति करनी है तो, और यदि इसी जन्म को अन्तिम जन्म बनाना है तो, इन चार बातों का पालन करना ही पड़ेगा। श्रद्धा, पवित्रतम जीवन, श्रीसद्गुरु प्रदत्त साधन, कामनाओं का पूर्ण अभाव। पाँचवी

वस्तु है प्रेम। सो तो इन चारों के फल स्वरुप स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इन चारों का हम ठीक पालन कर रहे हैं, इसकी पहचान है कि, हमारा स्वभाव उत्तरोत्तर अति–सरल, विनम्र और निरहंकारी बनता ही जा रहा है। स्वभाव में सरलता आई, तो ठीक। नहीं तो कुछ भी ठीक नहीं। रज, तम छू न जायँ। सतत् सत्व की बृद्धि ही होती रहनी चाहिए।

(625) **मन संयम**–मन का विषय अत्यन्त ही गहन है। इसमें एक बड़ी भारी कठिनई है यह कि, यह हठीला बहुत है। अतएव इसके निग्रहः करने में बड़े–बड़े योगी भी अधीर हो जाते हैं। वास्तव में यह हठी है, दुर्जय है, अति–प्रबल है, धोखेबाज है, अकर्मण्य है, विषय लोलुप है, एक प्रकार से यह विश्व विजेता ही है। ये सभी बातें तथ्य एवं सत्य हैं। तथापि श्रीप्राणनाथ ने श्रीगीताजी में इसके निग्रह के लिए दो निर्देश किये हैं। 1–अभ्यास। 2–वैराज्ञ। जब मन इधर उधर में भागे, तब इसको लौटा–लौटाकर साधन में अथवा साध्य के सान्निध्य में बैठावे। बार–बार यही करना अभ्यास कहलाता है। इस उपाय से मन रुकने लगता है। भागने में यह संकोच करने लगता है। अर्थात् भागना कम होता जाता है। दूसरी बात है वैराज्ञ। जब–जब मन श्रीभगवान् के अतिरिक्त अन्य संसारी संकल्प, विचार, कामना, बनाये, तब ही तब इसको इनकी असारता दिखा–दिखाकर, इनसे घृणा और उपेक्षा ही कराता रहे। इनको मन में टिकने ही न

दे, यही है वैराग्य। इन दोनों युक्तियों से मन शान्त होने लगता है। स्वच्छ होने लगता है। एक बात की बहुत ही आवश्यकता है कि, यह विचार ही न उठने पाये कि, यह वस में हो ही नहीं सकता। सदैव यह विश्वास रखे कि, मेरा मन बस में होकर ही रहेगा। समय चाहे भलेही कितना ही लग जाय, किन्तु मन की हठ मिटा ही देनी है। इसको मैं श्रीसद्गुरु के आश्रय बल से निश्चय ही उनकी आज्ञानुसार चलाकर ही रहुँगा। श्रीमहदाश्रय के बल से कोई कार्य असाध्य है ही नहीं। हाँ, कष्ट साध्य अवश्य है। जो कार्य कष्ट साध्य जान पड़े, उसमें पूरे वेग से, पूरी सतर्कता से, प्रमाद रहित होकर लगे तो वही कष्ट साध्य अति–सुगम, अति सरल प्रतीत होने लगता है। संकल्प के अतिरिक्त मन स्वतः तो कुछ कर ही नहीं सकता। जो कुछ करता है इन्द्रियों के द्वारा ही करता है। इस कारण साधक के लिए परमावश्यक है कि, वह इन्द्रियों पर पूरा–संयम रखे। प्रमाद न होने पाये, तो धीरे–धीरे मन आप ही संयत होने लगेगा। यह अति आवश्यक है। इसके बिना मन संयम असम्भव है।

(626) यदि मन को संयमी बनाना चाहे, तो नीचे लिखी बातों को पालन करे–

(1) सर्वप्रथम प्रियतम से प्रगाढ़ सम्बन्ध जोड़ ले।

(2) एक भी इन्द्रिय स्वाद ग्रहण न करने पाये।

(3)इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण रखे। इस विषय में एकबार भी प्रमाद न होने पाये। इसके लिए कष्ट सहना ही तप है।

(4) इन्द्रिय–संयम के लिए जो नियम बना लिये जायँ, उनको पूर्णरूप से पालन करे, यही व्रत है।

(5) नियम पालन पुण्य है तथा नियम–भंग करना पाप है।

(6) नियम–पालन, श्रद्धा बर्द्धन, एकान्तवास, मौनावलम्बन, व्यर्थत्व का सर्वथा निवारण तथा निष्कामता ये मनः संयम में परम सहायक हैं।

(7) विषय–सेवन, विषय–चिन्तन, परदोष दर्शन, विवाद, कलह, क्षोभ, चिन्ता, लौकिक–कार्य बाहुल्य, मेला, तमासे, नशीली वस्तु, अधिक उत्तेजक एवं उष्ण पदार्थ तथा अधिक सम्पर्क, ये सब मनः संयम के भयंकर विघ्न हैं। अतएव साधक इनसे सदैव बचता ही रहे।

(8) श्राद्ध, मृतक कार्ज, जन्मोत्सव, विवाह तथा अशुद्ध दूषित अन्न से सदैव बचता ही रहे।

(627) सम्प्रति मन से तीन कार्य कराने हैं– एक तो अश्लील चिन्तन एवं दुर्गुणों का त्याग, दूसरा–समस्त सद्‌गुणों को अपने में धारण करना, तीसरा–त्रिगुणातीत होने की लालसा अर्थात् प्रियतम के प्रेम–सिन्धु में डूवने की पूरी लालसा।

(628) येन केन प्रकारेण निरन्तर प्रियतम के सान्निध्य में ही रहना।

(629) मन के विषय में सदैव धैर्य से ही काम लेना चाहिए।

(630) बिस्वास रखना चाहिए कि, एक न एक दिन हमारे मन की स्थिति बहुत ही ऊँचाई पर होगी।

(631) सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा करे कि, कोई इन्द्रिय ऐसे विषय

का सेवन न करने पाये, जिससे मन में उत्तेजना उत्पन्न हो और विकार फिर से प्रफुल्लित हो उठें। यह केवल कहने को ही प्रतिज्ञा बनकर न रह जाय। वल्कि निरन्तर सावधान रहकर इसका पूर्णरूपेण पालन करे। साथ ही तनिक भी विचलित होने पर स्वयं के प्रति दण्ड विधान भी करता रहे। इसी विषय को सोचता–विचारता रहे। पुनः पुनः संघर्ष जारी रहे।

(632) मन के विषय में बड़ी सुन्दर बात है यह कि, यह बुद्धि से बहुत ही संकोच करता है। जिस समय बुद्धि सतर्क रहती है, उस समय तो मन की अवस्था परम योगीयों जैसी परम शान्त, निर्विकार, स्थिर, अमल, एवं परम–प्रेमी की सी प्रतीत होती है। यह तो निश्चित है ही कि, मन सात्विक बुद्धि के समझाने पर रुक जाता है और विकारों से हट जाता है तथा घृणा भी करने लगता है।

"मनः स्वबुद्धयाऽमलया नियम्य"।

अर्थात् अपनी सात्विक बुद्धि से अपने मन को निर्विकारी बनाने का प्रयास करते ही रहना चाहिए। अतएव बुद्धि को सदैव बलवती बनाने का ही प्रयत्न करना है।

(633) बुद्धि के बलवती बनाने के साधन ये हैं–दृढ़तम महदाश्रय, इन्द्रियों को अर्थ से पृथक रखना, तपोमय तथा वैराज्ञमय जीवन, श्रीभगवद् आराधना, पुण्य कार्य, श्रीप्रियतम प्राणनाथ में प्रेमांकुरोपादन।

(634) एक बात यह और स्मरण रखने की है कि, जब तक

मन में रहने वाली कामनाओं का सर्वथा अभाव न हो जायेगा, तब तक बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती।

(635) जब तक मन विषयों का चिन्तन करता है, तब तक न तो ये श्रीभगवान् में ही अच्छी तरह एकाग्र हो सकता और नाहीं इन्द्रियों को ही विषयों से खींच सकता। विषय चिन्तन करना, इसका अनादि–काल का अभ्यास है। इसको चिर अभ्यस्त विषय–चिन्तन से हटाकर, श्रीभगवान् में लगाना हैं। इसका यह स्वभाव है कि, इसको जिस वस्तु में लगने का अभ्यास हो जाता है, उसमें तदाकार हो जाता है। उससे सहज में हटना ही नहीं चाहता है।

(636) **हटाने के उपाय हैं ये कि**–इसके पूर्वाभ्यास के बिरुद्ध नया तीव्रतम अभ्यास कराना तथा बलवती (कभी भी न हटने वाली), स्थिर (लक्ष्य के निश्चय पर दृढ़ता से डटी रहने वाली), धीरजभरी तथा सत्व सम्पन्न बुद्धि के द्वारा इसको फुसलाकर, डाटकर, रोककर और समझाकर, नये अभ्यास में लगाना। धीरज छोड़ने से, जल्दबाजी करने से, काम नहीं चलता है। यदि बुद्धि दृढ़ रहे और अभ्यास जारी रहे, तो कुछ काल में ही मन अपने पूर्व विषय से सर्वथा हटकर नये विषय में तदाकार हो जाता है। फिर इससे वैसें ही नहीं हटेगा, जैसे अभी अपने पूर्व अभ्यस्त विषय–चिन्तन से नहीं हट रहा था। विवेक तथा वैराग्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को सांसारिक–भोगों की अनित्यता और क्षण भंगुरता समझाकर और भोगों में फँस जाने से प्राप्त होने वाले

बन्धनों तथा नरकादिक यातनाओं का भय दिखाकर, विषय चिन्तन से सर्वथा रहित कर देना चाहिए। यही शनैः शनैः उपरति का प्राप्त होना है।

(637) जब तक मन विषय–चिन्तन का सर्वथा त्याग न कर दे, तब तक साधक को चाहिए कि, वह पहले इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोके। फिर स्थिर बुद्धि से शनैः शनैः मन को विषय–चिन्तन, से रहित करने की चेष्टा करे और इसके साथ साथ ही इसको अपने इष्टदेव में स्थिर करता चले।

(638) जब तक श्रीभगवत्–प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक यह कोई आवश्यक नहीं कि, यह मन निरन्तर ध्येय वस्तु में लगा ही रहेगा ? इसका विश्वास न कर बैठे। इसी कारण तीव्रतम अभ्यास की आवश्यकता होती है।

(639) जिस समय साधक मन को प्रभु सान्निध्य का अभ्यास कराने में लगे, उस समय ऐसा सावधान रहे कि, मन दूसरे विषयों में जा ही न सके। साधक की यह सजगता अभ्यास को दृढ़ करने में बड़ी ही सहायक होती है। जैसे–जैसे अभ्यास बढ़ता जाय, वैसे वैसे ही मन को और भी सावधानी के साथ विशेष रूप से, विशेष काल तक प्रभु सान्निध्य में ही रखे।

(640) मन बड़ा ही चंचल है। यह सहज मे कहीं भी स्थिर नहीं होना चाहता। और नये अभ्यास से तो बहुत ही घबराता है। साधक मन को बड़े ही प्रयत्न से साधना में एकाग्र करता है, वह सोचता है कि, मन लगा है। परन्तु

क्षण भर पीछे ही देखता है, तो पता चलता है कि, खबर ही नहीं वह कब कब में अपने मार्ग से कहाँ कितनी दूर चला गया है। इसी कारण साधक को सावधान रहना चाहिए। क्योंकि सावधान रहते हुए भी तनिक अवसर मिला कि, यह निकल भागा। और भागता भी है तो ऐसा भागता है कि, कुछ समय तक तो पता ही नहीं चल पाता है कि, मन कब का कहाँ भाग गया है।

(641) एक साधक की दृष्टि से इसका प्रधान कारण है, विषय–चिन्तन का चिर कालीन अभ्यास। अतएव साधक को ज्यों ही पता चले कि, मन अन्यत्र विषयों में गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ता के साथ उसको पकड़के श्रीभगवान् में लगाये। इस प्रकार बार बार विषयों से हटा हटाकर श्रीभगवान् में लगाने का अभ्यास करे और मन की एक भी न सुने, चाहे हजार अनुनय विनय करे, कितना भी लोभ, प्रेम और भय दिखावे। परन्तु इसको तनिक भी ढीला नहीं छोड़े। ढ़ील मिली कि, इसकी उच्छृंखलता बढ़ी।

(642) सावधानी ही साधन है। अतएव साधक को खूब ही सावधान रहना चाहिए और मन को पुनः पुनः विषयों से हटाकर साध्य में लगाना चाहिए।

(643) "अभ्यास" चित्त रूपी नदी की धारा को श्रीप्राणनाथ की ओर ले जाने वाला सुन्दर मार्ग है और "वैराग्य" उसकी विषयाभिमुख गति को रोकने वाला बाँध है। ये दोनों एक दूसरे के परम सहायक हैं। अभ्यास से वैराग्य बढ़ता है और

वैराग्य से अभ्यास की बृद्धि होती है।

(644) जिस क्षण श्रीप्राणनाथ का स्मरण होता है, उस क्षण यह महा चंचल मन बड़ा सीधा सादा सात्विकी बन जाता है। विकार तो उस समय कहीं रहते ही नहीं। अतएव इस क्रिया को बढ़ाते ही जाना चाहिए।

(645) व्यवहार में यदि किसी के प्रति दुर्भाव न हो ,तो परदोष चिन्तन तथा व्यर्थ–चिन्तन की सम्भावना ही नहीं रहती। अर्थात् कुभाव का अभाव, अनिष्ट–चिन्तन को नष्ट करता है।

(646) मृत्यु क्या है ? एक परीक्षा है।

(647) अपने को सदैव देखता रहे कि, हम श्रीभगवत्–राज्य में हैं या प्रकृति–राज्य में।

(648) अपनी एक–एक चेष्टा विवेक–पूर्ण ही होनी चाहिए।

(649) कैसी भी परिस्थिति से मन में किसी भी प्रकार का क्षोभ नहीं होना चाहिए। कभी भी नहीं होना चाहिए।

(650) मन को समझाने से सभी विघ्न दमन हो जाते हैं।

(651) मन के मानने से ही तो विघ्न हैं और भला बुरा मानना भी तो इसी का ही काम है।

(652) राग–द्वेष से सर्वथा बचते रहना चाहिए।

(653) निष्ठा पूर्वक एकान्तवास करे। श्रीभगवान् एकान्त में ही दर्शन देते हैं।

(654) श्रीभगवान् तो हमको अपनाने के लिए सदैव दोनों हाथ फैलाये तैयार खड़े हैं, परन्तु कमी हमारी ही है। अपने

चित्त में उनसे मिलने की भूख ही नहीं है तो वे क्या करें।

(655) सदा सदा से संसार का चिन्तन करते आये हैं, इस कारण संसार मिलता आया है। अब यदि श्रीभगवत् चिन्तन करेंगे, तो श्रीभगवान् भी मिलेंगे।

(656) भजन के बाह्य विघ्न हैं–वार्तालाप और निद्रा। तथा आन्तरिक विघ्न हैं–हिंसा (कायिक, वाचिक और मानसिक)।

(657) संसार के सुधार की बात ही छोड़ दे। सच्चाई से अपना सुधार करने में ही लगा रहे तो अधिक लोगों का सुधार हो सकता है।

(658) दीनता में विकार नहीं। अहंकार में विकार भरे हैं। इसलिए अहंकार ही पतन का द्वार है।

(659) अन्तःकरण का उत्थान होना चाहिए। यदि नहीं हो रहा है, तो भजन में गड़बड़ी है। श्रीसद्गुरु वैद्य से नाड़ी दिखाओ ?

(660) त्याग से शान्ति मिलती है और संग्रह से कलह।

(661) श्रद्धास्पद हैं श्रीसद्गुरुदेव और प्रेमास्पद हैं श्रीभगवान्।

(662) जब तक श्रीभगवान् को अपनी भगवत्ता का ध्यान है, तब तक वे मिलने के नहीं। पहले उनकी भगवत्ता भुलानी पड़ेगी, तभी वे मिलेंगे। और वह हमारे निष्काम भजन करनें से ही भूली जायेगी।

(663) किसी एकको ही पकड़े। आजन्म उसीको पकड़े रहे।

(664) सतत् अपने कर्त्तव्य का ही ध्यान रखें।

(665) कितने दिन साधन करते करते हो गये, इसका इतना

महत्व नहीं, जितना कि, वृत्ति में कितना परिवर्तन हुआ है इसका महत्व है।

(666) प्रेम–प्राप्ति के लिए संसार को पूर्ण–रूपेण भूलना ही पड़ेगा।

(667) भोग से ही राग–द्वेष की बृद्धि होती है, भोग से ही संसार की बृद्धि होती है और भोग से ही तप क्षीण होता है।

(668) सत्व से श्रद्धा की बृद्धि और बुद्धि शुद्ध होती है। रज से श्रद्धा में शिथिलता तथा तम से श्रद्धा का अभाव होता है।

(669) रुचि में ही करने की शक्ति है।

(670) साधु सदा अपने स्वरूपानुसंधान में ही लगा रहे, लोगों में रहते हुए भी उनसे अलग ही रहे।

(671) केवल अपने साधन के विषय में ही सोचे। जहाँ–जहाँ विचार जाय, वहाँ वहाँ से ही लौटाकर अपने में लगावे और कदापि दूसरे के विषय में नहीं सोचे।

(672) श्रद्धा, साधन, सदाचार।
त्याग, साधन, वैराग्य।
निष्कामता, साधन, अनुराग।
ये तीनों त्रिपुटी चालू ही रहनी चाहिए।

(673) आवश्यकता, साधन, अवकाश। यदि साधन–काल में साधक के पास आवश्यकता और अवकाश होगा, तो वह निश्चित रूप से साधन बिमुख रहेगा ही। इसलिए साधक को इन दोनों से ही सावधान रहना चाहिए। ना तो आवश्यकता ही कोई हो और नाही एक क्षण का अवकाश ही रहे।

अपना साधन इतना बढ़ा दे कि, एक क्षण भी रिक्त न रहे।

(674) यदि श्रीभगवान् से मित्रता करनी हो, तो संसार में किसी से भी शत्रुता मित्रता न करे, अकेला ही रहे। यदि दूर करने हों तो संसार से मित्रता करे।

(675) अपनी कमी सदा देखना, बस यही उत्थान का सहज उपाय है।

(676) बाहरी बातों पर जोर देना संसार को रिझाना है और आन्तरिक बढ़ाना प्राण–प्रियतम को रिझाना है।

(677) लाख बातों की एक बात–जो कुछ भी करे, पूर्ण–तत्परता से, पूर्ण–लगन से, पूर्ण–सत्यता से तथा पूर्ण उत्साह से श्रद्धा भाव और विश्वास के साथ ही करे।

(678) स्वस्थ मन ही नियम–पालन में दृढ़ रह पाता है।

(679) पवित्रता का प्रभाव मन पर पड़ता है, जिससे मन श्रीभगवान् में लगता है।

(680) दूसरे के कर्त्तव्य को अपना अधिकार। दूसरे की उदारता को अपना सद्‌गुण। दूसरे की कृपा को अपनी योग्यता। दूसरे की शहनशीलता को अपना बल मान बैठना ही नीचता है, दुष्टता है और अधमता है।

(681) साधक के यहाँ फलेच्छा की तो क्या बात, फल की चर्चा भी नहीं होती, वहाँ तो जन्म जन्म तक कर्तव्य ही कर्तव्य होता है।

(682) साधक ही वही है, जो केवल अपने साधन में ही मरण पर्यन्त लगा रहे। अन्यत्र मन को न चलावे।

(634) जो साधक अपने साधन का फल चाहने लग जाता है, वही पथभ्रष्ट हो जाता है। कारण कि, फल के मिलते ही साधन शिथिल हो जाता है और बहिर्मुखता आ जाती है, जो पतन का मुख्य हेतु होती है।

(635) यदि दीर्घकाल पर्यन्त ठीक–ठीक भजन करने की इच्छा हो, तो शरीर को सँभालते हुए भजन करने का ही विचार रखे। हाँ, देहध्यास न बढ़ा बैठे। क्यौंकि–

"तन बिनु वेद भजन नहीं बरना"।

(636) वस्तुतः साधक ही वही है, जो निरन्तर नियम–पालन में ही तत्पर रहता है।

(637) उत्तम साधक का यही श्रेयस्कर है कि, वह अपनी इच्छा और आवश्यकताओं को मिटावे। कर्त्तव्य का पालन प्राणपण से करे।

(638) इच्छा होते ही मन की शान्ति मारी जाती है। मन चंचल एवं उद्विग्न हो जाता है। जो साधक के लिए सर्वथा अहितकर ही है। इच्छा, वासना तो रहने ही न पावे। इनकों निर्मूल करना ही साधक का परम–कर्त्तव्य है तथा परमावश्यक भी है।

(639) हमारा साधन कैसा चल रहा है ? इसकी परीक्षा है कि–साधन में दिनोदिन उन्नति हो, उसमें रुचि बढ़े, अतृप्ति का अनुभव हो, साधन में जो जो विघ्न जान पड़ें, उनके निष्कासन में पूर्ण–प्रयत्न हो तथा जो–जो सहायक प्रतीत हो, उनके पालन एवं सम्बर्द्धन में अत्यन्त तत्पर रहे। साथ

ही चित्त में प्रफुल्लता हो, उत्साह रहे, अनवधानता अत्यन्त अखरे। विषयों से अरुचि होती जाय। संसार से उदासीनता बढ़ती ही जाय। अन्तःकरण श्रीजीवनधन के सान्निध्य के लिए लालायित होने लगे इत्यादि इत्यादि।

(640) श्रद्धा–साधन का आधार, सिद्धावस्था की कुंजी तथा भाव–प्रेम का उद्‌गम है।

(641) साधारण–साधन का साधारण–फल। उत्कट साधन, रात–दिन एक। खून का हो जाय पानी तब मिले सारंगपानी। अर्थात् नित्य नियम से जी तोड़ साधना होगी तभी कुछ हाथ लगेगा। सामान्य से काम नहीं चलेगा।

(642) "वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्"। अर्थात् किसी को कष्ट देने में सामने वाला तो मात्र निमित्त ही होता है, बाकी सारी लीला तो अपने प्रारब्ध के अनुसार अपने प्रियतम की ही होती है। अर्थात् साधन में उपस्थित हुई बाधा के कारण को युक्ति से निराकरण करके निरन्तर आगे बढ़ते जाना चाहिए।

(643) मिलने की उत्कट–लालसा ही तो मिलना है। मिलकर फिर क्या करोगे ? तुम तो सदैव विलखते ही रहो।

(645) समय दुस्तर है। आवश्यकता है सावधानी की।

(646) अपना दुर्गुण ही शत्रु है और सद्‌गुण ही मित्र है।

(647) समय है–श्रद्धा का, साधन का, भाव का, प्रेम का, सेवा का, तन्मयता का तथा विरहादिकों का।

(648) साधन का फल भाव। भाव की ही प्रगाढ़ता का नाम

है प्रेम, अनुराग, सान्निध्य आदि।

(649) राग–द्वेष तो साधन के विरोधी भाव हैं। साधक तो सदैव सरल,सुशील,नम्र,निरभिमानी और दंभ रहित होता है।

(650) साधक वह––– जिसको साधन में रुचि हो।

साधक वह––– जिसकी साधन में तन्मयता हो।

साधक वह––– जो साधन को सर्वस्व माने।

साधक वह––– जिसको साधन अपना ले।

साधक वह––– जिसको साधन सुधारने लगे।

(651) तितिक्षा, सहनशीलता, क्षमा ये सद्‌गुण हैं।

(652) स्वाध्याय का फल मनन। मनन का फल धारण और धारण का फल समय पर ठीक–ठीक क्रिया का होना।

(653) विरह का महत्व इस कारण अधिक है कि, उसमें कुछ छोड़ना नहीं पड़ता। सब स्वयमेव छूट जाता है और अपने प्रेमास्पद का चिन्तन भी स्वयमेव ही निरन्तर होता रहता है, करना नहीं पड़ता।

(654) अत्यन्त आवश्यकता है, एकाग्र–चित्त की।

(655) एकाग्र–चित्त तभी होगा, जब मन खाली होगा। वैराग्ञ किया जाता है, मन को खाली करने के लिए। इसी कारण इसका महत्व है।

(656) यथार्थ वैराग्ञ की परिभाषा है–कि, मन एकदम खाली।

(657) खाली मन को ही शास्त्रों में निर्मल मन कहा गया है।

(658) यह अभ्यास साध्य है–प्रगाढ़ श्रद्धा, श्रीप्राणनाथ का सान्निध्य। ये विकार शमन का भी सर्वोच्च उपाय है।

(659) पाप न करना ही संसार की भलाई करना है।

(660) अपने पापों को प्रगट करने से मन स्वधर्म में दृढ़ होता है और अपना उत्थान होता है तथा दूसरे के पापों को प्रगट करने से मन अधर्म, परधर्म और विधर्म में दृढ़ होता है और अपना पतन होता है।

(661) जो कोई अपने नेत्रों को रोके रहता है, उसी के ह्रदय में भजन का रहस्य प्रगट होता है।

(662) जैसे उपस्थ के द्वारा काम का भोग होता है, वैसे ही नेत्र भी कामोपभोग का साधन है।

(663) ईश्वर क्रिया नहीं देखता है, केवल अपने से मिलने की छटपटाहट और प्यास ही देखता है।

(664) जब अपने दोष आप ही दीखने लग जाते हैं तथा उनके निष्कासन का प्रयत्न भी चालू हो जाता है, तभी उत्थान होता है। परदोष दर्शन तो पतन का ही हेतु है।

(665) जब पीछे न लौटे, आगे ही बढ़ता जाय, तभी होता है– उत्थान और तभी आती है सच्ची मस्ती।

(666) विचार, नियम, अभ्यास, अभ्यस्त क्रमशः। अर्थात् पहले किसी विषय में उठता है विचार, फिर बनता है उसके लिए नियम, फिर होता है नियम पालन करने का अभ्यास, तत्पश्चात् अभ्यास करते करते हो जाता है अभ्यस्त। यह क्रम है। इसी प्रकार निम्न लिखित वाक्य का भी क्रम है।

(667) क्रिया, तत्परता, स्मृति, चिन्तन, क्रमशः।

(668) दृढ़तम श्रद्धा, दैन्य, आत्मीयता, निष्कामता और अपना

अस्तित्व मिटाना। ये पाँच उतथान के सूत्र हैं।

(669) खूब अभ्यास करे, अधिक पढ़ने सुनने के चक्र में न फँसे। आचरण करने से ही अनुभूति होती है।

(670) जो दूसरे के लिए उदार और अपने लिए संयमी है, वही समाज में सबका आदर्श रूप हो जाता है।

(671) जब–जब, जहाँ–जहाँ, जैसे–जैसे श्रीभगवत्कृपा हुई हो उसको सतत्–स्मरण करने से, प्रेमालाप और विनोद आदि से सान्निध्य में प्रौढ़ता आती है।

(672) कृपा–चिन्तन से हृदय इनकी ओर बढ़ता है। प्रेमालाप से आनन्द होता है और विनोद से आत्मीयता होती है तथा बढ़ती है।

(673) जो कर्म करे वह जीव। जो कर्म न करे वह ईश्वर। जो कर्म में गड़बड़ी करे वह माया।

(674) अपने आप में है तो कुछ नहीं और दिखाने की कोशिश करे हजार गुनी, उसे दंभ कहते हैं। माया का पहला काम दंभ। दंभ के आते ही कार्य की सत्यता, तत्परता और श्रद्धा तथा आज्ञा पालन सब ढक जाते हैं।

(675) अशान्ति होती है, फल की चिन्ता करने से। फल की चिन्ता किये बिना ही जो सदा कर्त्तव्य पालन में डटे रहते हैं, वे सदा शान्ति लाभ करते हैं।

(676) साधक का काम केवल साधन करना, कर्तव्य–पालन करना। फल की चिन्ता करना अनाधिकार चेष्टा है, इससे साधन शिथिल हो जाता है।

(677) श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा–पालन करने से उनके श्रीचरणारविन्दों में जो अनुरक्ति होती है, वह साधक की मान प्रतिष्ठा आदिक सभी विघ्नों से रक्षा करती है।

(678) निरभिमानता या दीनता ही मुक्ति का हेतु है।

(679) आवश्यकता है–कठोर आत्मसंयम की। अदम्य इच्छा शक्ति की। दुर्जय आत्म–विश्वास की।

(680) साधक उपद्रव से क्षुब्ध नहीं होता है। वस्तुतः आत्मदृष्टि ही समस्त विपत्तियों से बचने का एकमात्र साधन है।

(681) जब तक आसक्ति है, माया तब तक सत्य सी ही प्रतीत होती है। जबकि वास्तव में है असत्य ही।

(682)संसारी लोग जिसे अर्थ कहते हैं,उसे अनर्थ ही समझे।

(683) सन्तों की उपासना से दंभ तथा अहंकारादिक समस्त विकारों पर विजय प्राप्त होती है। अर्थात् श्रीसद्गुरु आराधना से विकारों पर अतिशीघ्र, अति सुगमता से विजय प्राप्त हो जाती है।

(684) श्रीभगवत्–प्राप्ति तो महत् उपासना का फल है।

(685) सात्विक भोजन, सात्विक संग, तथा सात्विक स्थान के सेवन से निद्रा को जीता जा सकता है।

(686) "सतोगुण" द्वारा रजोगुण, तमोगुण पर और "उपरति" द्वारा सतोगुण पर विजय प्राप्त होती है।

(687) साधक कैसी भी परिस्थिति में अत्याहार न करे।

(688) साधक के लिए प्रमाद भयंकर शत्रु है। इससे बहुत ही सावधान रहना चाहिए। प्रमाद से बचने का उपाय है–

जो कार्य करना हो, उसको उसी समय कर डाले।

(689) साधन–काल में परमावश्यक है कि, साधक अपने जगने से सोने तक की समस्त क्रिया–कलापों का नित्य ही आत्म–निरीक्षण करले। जो दोष–दुर्गुण दृष्टिपथ में आयें, उनको तुरन्त निकालने में तत्पर हो जाय। अपना आत्म निरीक्षण पूरी सत्यता से करे।

(690) स्वस्थ शरीर से ही साधन सुचारू रूप से बन पाता है, इस कारण साधक को शरीर के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यदि अपने प्रमाद–उपेक्षा बस स्वास्थ्य बिगड़ता है, तो उसमें साधक ही अपराधी माना जाता है।

(691) दृष्टि के सभी दोष सर्वथा त्याज्य हैं। अभ्यास बढ़ाये कि, दृष्टि बहुत धीरे से आगे को अथवा ऊपर को उठे।

(692) दो0:–जहाँ जराई कामिनी, तहँ जनि जाहु कबीर।
उड़ि भभूति अंगन परे, सूनो करे शरीर।।

(693) दो0:–गाँठी दाम न बाँध हीं, नहिं नारी सों नेह।
कह कबीर ता दास की, हम चरणन की खेह।।

(694) यह स्मरण रहे कि, दृष्टि की चंचलता मन को चंचल बनाने में परम सहायक है तथा मनोगति की सूचिका भी है।

(695) यदि इन्हीं नैंनों से श्रीजीवनधन के दर्शन करने की इच्छा हो, तो इनको अपवित्र स्थान में विचरने से पूर्ण–प्रयत्न के साथ रोके। साथ ही नितान्त एकान्त में श्रीप्राणनाथ की मिलन चटपटी में कुछ आँसू बहाकर इनको धोकर पवित्र बनाय ले तो ये प्रियतम के दर्शन के योग्य बन जाते हैं।

(696) बृद्ध पुरुषों को देखकर शरीर की परिणामशीलता का अनुभव करे कि हमको भी एक दिन इसी रूप में आना होगा। इसलिए इसके द्वारा कोई असत् कर्म न बनने पाये।

(697) श्रीभगवत् गुणानुवाद सुनना।

(698) अवसर मिलने पर सन्तों के सदुपदेश सुनकर उनका अनुशीलन करने का प्रयास करना।

(699) कृपा करके कोई अपने हित की बात कहे, तो उसको प्रेम से सुनकर आचरण करने का प्रयास करे।

(700) अधिक आहार रोग पैदा करता है, जठराग्नि को विकृत करता है, इस कारण अत्याहार करना पाप है।

(701) अधिक आहार ब्रह्मचर्य–पालन में बाधक है।

(702) अत्याहार से सतोगुण का ह्रास होता है।

(703) जहाँ–तक बने नियमित समय पर ही आहार कर ले।

(704) खूब चबाकर धीरे–धीरे भोजन करना चाहिए।

(705) किसी भी प्रकार की हड़बड़ी में भोजन न करे।

(706) साधक को बार–बार खाने से बचना चाहिए।

(707) चटोरपन से बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

(708) यदि उचित मात्रा में सात्विकी आहार किया जाय, तो भजन में बड़ी सहायता मिलती है।

(709) मेरे श्रीसद्गुरुदेव में दृढ़ श्रीभगवद्–भाव होने के कारण ही मुझे सब सन्तों में, सब शास्त्रों में और समस्त चराचर जगत में भगवान के दर्शन होते हैं। अर्थात् पहले अपने श्रीसद्गुरु भगवान में भगवद्–भाव (कि भगवान ही

मेरे लिए इस रूप में आये हैं) दृढ़ करले, तो इसके परिणाम स्वरूप सब में श्रीभगवान का दर्शन होने लगेगा।

(710) दृष्टि–संयम से मन शान्त होता है और चित्त की एकाग्रता होती है।

(711) जब तक नेत्र प्राकृतिक वस्तुओं को देखने में रस लेते रहेंगे, तब तक श्रीभगवत् दर्शन कहाँ ? दर्शन के लिए तो अत्यन्त पवित्र नेत्रों की आवश्यकता है।

(712) पवित्र नेत्र वह, जो अपवित्र वस्तु को न देखें और श्री भगवद् दर्शन को ललकें, अश्रु बहायें तथा स्वयं ही अपने आपको पवित्र करे।

(713) काम का मूल है "रूप", और रूप है विषय चक्षु (आँख) का। सहज स्वभाव बस चक्षु रूप की ओर ही दौड़ते हैं। इनको संसार के रूप से हटाकर श्रीभगवान के रूप में लगाना हैं।

(714) इसके मुख्य उपाय हैं– सहसा दृष्टि न उठने पाये, कदाचित किसी अपवित्र वस्तु पर भूल से दृष्टि पड़ भी जाय, तो फिर पुनः न उठने पाये, स्त्री को देखने के विचार से तो दृष्टि उठे ही नहीं।

(715) नित्य प्रातःकाल से शयन–पर्यन्त यह स्मरण रहे, तथा चिन्तन करता रहे कि, दृष्टि–संयम करना है।

(716) दृष्टि सतत् नीचे ही रखनीं चाहिए।

(717) मार्ग में चलते समय दृष्टि बीच–बीच में यत्किंचित उठाकर, आगे का मार्ग देखकर, पुनः अपने पैरों पर दृष्टि

करके ही चले।

(718) जिस समय जो काम करते हों, उस समय दृष्टि उसी काम पर रहनी चाहिए।

(719) जब दृष्टि उठे, तब विचारकर ही उठे कि, कोई दोष तो नही हैं।

(720) दोष की जैसे ही आशंका हो, तत्काल सावधान हो जाना चाहिए।

(721) मानसी परिक्रमा में भी दृष्टि पूरी तरह संयमित ही रहनी चाहिए।

(722) दृष्टि को उतनी दूर ही फैके, जितनी आवश्यक हो।

(723) मन की चाल को सदा रोकते रहना चाहिए। इसकी चालाकी, हठ आदि को देखते रहना चाहिए।

(724) मन के विचारों पर पानी फेरते रहना चाहिए। जिससे यह निर्बल पड़ता जाय।

(725) निरन्तर भजन करते रहना चाहिए।

(726) विषय चिन्तन से मन को सदा हटाते रहना चाहिए। दोष दिखाकर बचाते रहना चाहिए।

(727) साधुता पालन करने में पूर्ण दृढ़ता रहे। यदि साधुता का ठीक–ठीक पालन हो जाय, तो सभी अनर्थ स्वयं ही निवृत्त हो जाते हैं।

(728) वृत्ति के सुधारने में बहुत ही सावधानी बर्तें।

(729) दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्याद्वायः स्थिरो यस्य बिना निरोधात्। चित्तं स्थिरो यस्य विनावलम्बात् स एव

योगी स गुरुः स सेव्यः।

(730) क्षुभ्यां हँसते विद्वान् दन्तौष्ठैश्च मध्यमाः।
अधमा अट्टहासेन, न हसन्ति मुनीश्वराः।।

अर्थात् विद्वान लोगों की हँसी केवल मुश्कान में व्यक्त होती है। होठ और दाँत खोलकर जो हँसते हैं वे मध्यम प्रकार के माने जाते हैं। अट्टहास करके हँसने वालों को अधम कोटि में गिना जाता है और मुनीश्वर लोग कभी हँसते ही नहीं, सदैव गम्भीर ही रहते हैं।

(731) साधु ऐसा चहिए, जो दुखै दुखावै नाँहि।
फूल पात तोरै नहीं, रहै बगीचा माँहि।

साधु का स्वभाव ऐसा होना चाहिए जो ना तो किसी के व्यवहार से दुखी होता हो और ना ही किसी को दुखता हो। अर्थात् अपने प्रियतम की इस संसार रूपी बगिया में रहते हुए भी इसके किसी भी जीवात्मा रूपी फूल पात को न सताता हो। अर्थात् अपने विकारी व्यवहार से इसे अपवित्र न करता हो।

(732) बालकपन ते हरि भजै, जग ते रहै उदास।
तीरथ हू आशा करै, कब आवै हरि दास।।

जो बचपन से ही संसार से उपराम रहकर हरि भजन करता है, उस भक्त की तो तीर्थ भी आशा करते रहते हैं कि, वह कब हमारे यहाँ आये और हमको पवित्र करे।

(733) कैसी भी परिस्थिति आ जाय, किन्तु स्वभाव में उत्तेजना न उपजने पाये।

(734) दिन व दिन स्वभाव में सरलता बढ़ती ही जाय।

(735) किसी भी बात का अहंकार न उपजने पाये।

(736) स्वभाव में कोई दोष दीख जाय, तो उसे तत्काल निकालकर फैंक दे।

(737) "स्वभाव विजयः शौर्यम्"। स्वभाव को जीत लेना ही शूरता है, वीरता है।

(738) एक–एक क्षण श्रीप्राण–प्रियतम की आराधना में ही व्यतीत हो, इस बात का बहुत ही ध्यान रहे।

(739) जहाँ तक हो सके, अन्य आवश्यक कार्यों में समय बहुत ही अल्प मात्रा में लगावे।

(740) श्रीभगवद् आराधना में भी श्रीनाम और चिन्तन ही प्रधान रहे। इसी में समय अधिक लगावे।

(741) जितना नियम नित्य का हो, उससे अधिक भजन तो भलेही हो जाय, परन्तु कम न होने पावे।

(742) भजन के लिए ही श्रीजीवनधन ने संसार से बचाकर यहाँ बसाये हैं। अतएव हमें चाहिए कि, अब प्राणपण से भजन करने में ही लगे रहें।

(743) कामना–वासना केवल भजन की ही हो।

(744) आहार, शयन तथा आरोग्यता आदिकों का विचार केवल भजन के लिए ही हो।

(745) जहाँ भजन करने में बाधा दिखाई दे, ऐसे स्थान और व्यवहार तथा संकोच को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

(746) श्रीनाम--जप का इतना अभ्यास बढ़ावे कि, बिना

प्रयत्न किये ही जिह्वा स्वतः ही श्रीनामजप में लगी रहे। शयन के समय में भी श्रीनाम जप होता रहे।

(747) जहाँ जाने से, जहाँ बैठने से, भजन में बाधा पड़ती हो, वहाँ से अपने को तुरन्त बचा लेना चाहिए।

(748) साधु के जीवन में व्यवहार प्रधान नहीं, केवल भजन ही प्रधान होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि, व्यवहार में रूक्षता बर्ती जाय। नहीं, नहीं, कदापि नहीं। भक्त का व्यवहार कभी भी कटु और रूक्ष नही होता है। अति सरल, अति सरस और अति–मधुर होता है।

(749) समय का लोभ भजन में परम सहायक है।

(750) नित्य प्रातःकाल यह संकल्प करे कि, आज मैं पूर्णरूप से भजन करूँगा, प्रमाद नहीं होने पायेगा।

(751) नित्य सायंकाल शयन से पूर्व, दो बातों का विचार अवश्य करले कि, आज नियम का पालन कैसा हुआ तथा भजन करने में कैसी तत्परता और कैसी लगन रही ? ये दोनों कार्य नित्य ही करले।

(752) भजन करने में क्या–क्या सहायक है तथा क्या–क्या बाधक है ? यह सूक्ष्मता के साथ विचारते रहना चाहिए। सहायकों की बृद्धि एवं बाधकों का त्याग करते रहना चाहिए।

(753) यही प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे भजन अबाध रूप से होता रहे।

(754) एकान्तवास भजन करने में परम सहायक है। इसलिए

विशेषरूप से एकान्त वास ही करे।

(755) श्रीसद्गुरु भक्ति, एकान्तवास, सात्विक आहार, निश्चितता, आरोग्यता, नियम–पालन, निरपराधता, तप, संयम, प्रसन्नता, वैराग्य, श्रीप्राण–प्रियतम में प्रीति। ये सब भजन में परम सहायक हैं।

(756) एकान्त स्थल पर बैठकर, यथा–शक्ति निश्चेष्ट होकर, शान्ति के साथ जिह्वा से, श्रीनाम का शुद्ध उच्चारण हो, साथ ही कान भी सुनते रहें और मन से श्रीजीवनधन का चिन्तन भी होता रहे तथा सान्निध्य का अनुभव भी होता रहे, ऐसा भजन बने, यह प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस समय किसी आसन से बैठकर कुछ क्षण मेरुदण्ड सीधा रहे, तो अत्युत्तम ही है।

(757) ऊँघते हुए, निद्रा का सुख लेते हुए भजन करना महापाप है। इससे सर्वथा अपने को बचा लेना चाहिए। चाहे जो कुछ भी हो, ऐसा भजन तो करना ही नहीं।

(758) भजन के समय बार–बार जँभाई लेना, भजन में तमो गुण उपजाता है। अतएव इससे बहुत ही बचना चाहिए। इससे उस स्थान पर अशान्ति और मनकी चंचल बढ़ती है।

(759) इनको सहन कर लेना, कैसे भी उचित नहीं।

(760) भजन हो, साथ ही पूर्ण बिधि से हो, यही कर्त्तव्य है।

(761) किसी दोष को सहन करना, उसमें बृद्धि करना हैं।

(762) उसके हटाने में प्रमाद करना, पाप है।

(763) यह स्मरण रहे कि, उत्तम बिधि से ही श्रीनाम जप हो,

ऐसा ही प्रयत्न करना।

(764) मुख्य है आलस्य त्यागकर भजन करना। बैठना ही मुख्य नहीं। अपने अनुकूल युक्ति सोचे, काम में लाये, किन्तु बचे सर्वथा आलस्य के आक्रमण से।

(765) जहाँ तक हो सके,बचे भोगों से। सरल तथा साधारण ढंग से जीवन यापन करने का ही विचार रखे।

(766) रजोगुणी तमोगुणी नहीं बनना।

(767) बढ़िया वस्त्र एवं बढ़िया स्थान, ये सत्वगुण में बाधक हैं। अतएव सादगी को ही अपनाते रहना चाहिए।

(768) अति–सूक्ष्मता से यह देखते रहना चाहिए कि, हमारे विचार स्वतः कैसे उठ रहे हैं। यह अति–आवश्यक है कि, विचार सदैव सद् ही उठें तथा निरन्तर इनको बढ़ाते ही रहना चाहिए।

(769) असद्–विचार उठने ही न पायें। यदि कदाचित् असद् विचार तनिक भी उठने लगें, तो तत्काल ही इनको दबा देना चाहिए।

(770) प्रथम प्रेम–प्राप्ति के उपक्रम में– इतने बड़े विश्व में हमारा एक भी शत्रु न हो, फिर प्रधान वस्तु है "प्रेम"।

(771) लक्ष्य में दृढ़ता–केवल और केवल श्रीभगवान् में ही प्रेम हो, इसी के लिए साधन, भजन, चिन्तन, नियम, संयम हों। समस्त जीवन ही इसी के लिए होना चाहिए।

(772) इसके लिए आवश्यक हैं–श्रद्धा, पवित्रतमजीवन, कामना का अभाव, प्रेम–प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा। ये चारों

ठीक–ठीक पालन हो रही हैं इसकी पहचान है, अपने स्वभाव में दिन व दिन सरलता आती जा रही हो।

(773) रजोगुण छू न जाय, सतत् सत्व में ही डूबा रहे।

(774) मोह हो केवल श्रीभगवान् में और श्रीभगवज्जनों में।

(775) अपने को सदा उठाता ही रहे।

(776) चिन्तन बढ़े, कल्पना बढ़े, मन के द्वारा उसी लोक में। सतत् श्रीभगवान की ओर ही झुकाव बढ़ता रहे। यही है उत्थान और संसार की ओर झुकाव बढ़ना ही है पतन।

(777) मल मूत्र से भरे इस शरीर में प्रभु को समर्पित करने के लायक हृदय के अतिरिक्त और दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए अपना हृदय किसी भी संसारी जीव को न दे। हार्दिक प्रेम तो केवल प्रियतम से ही हो। संसारी प्राणियों के साथ तो मात्र व्यवहार ही करे।

(778) आसक्ति कहीं न होने पाये, साथ ही सब यही समझें कि, हमसे बड़ा स्नेह करते हैं।

(779) सभी सद्‌गुणों का मूल उद्‌गम है दृढ़तम श्रद्धा।

(780) सतत् इष्टदेव की याद करना ही स्मरण है।

(781) प्रथमावस्था में इन्द्रियों के द्वारा श्रीभगवत् सम्बन्धी वस्तुओं का सादर ग्रहण करना, श्रीभगवत्–स्मरण में ही माना जाता है। जैसे–जिह्वा से लय के साथ श्रीनाम–जप हो, श्रवण सुनें, मन आनन्द का अनुभव करे। यह श्रीभगवत् स्मरण ही है। कारण कि, नाम और नामी एक ही वस्तु माने जाते हैं। स्थूल रूप में यदि हाथ श्री प्राणनाथ की सेवा में

लगे हों, तो यह भी भगवत्–स्मरण ही माना जायेगा। यद्यपि हस्त कर्मेन्द्रिय हैं और इनका कार्य साधारण ही माना जाता है। तथापि श्री भगवान् एक ऐसी विलक्षण वस्तु है कि, वहाँ साधारण ही प्रधान हो जाता है।

(782) श्रीनाम का श्रवण श्रीभगवत् स्मरण से भी कुछ अधिक ही समझना चाहिए। लय के साथ सप्रेम श्रीनाम का उच्चारण, तथा कानों से श्रवण, साथ ही मन में आह्लाद, यह अवस्था समाधि के तुल्य ही है।

(783) देह तथा देह सम्बन्धी वस्तुओं को भूल जाना, मन में अपार आनन्द रस का प्रवाह बहना, यह श्रीप्राणनाथ का सान्निध्य ही तो है। वस्तुतः सान्निध्य ही है।

(784) श्रीनामाश्रय ही समस्त साधनों का चरम फल है। यही श्रीप्राणनाथ की प्राप्ति है, और मिलन भी है।

(785) "जो हम करें सो मत करो। जो हम कहें सोई करो"।

(786) जो साधक मन लगाकर साधन करता है, उसके लिए प्रेमराज्य में प्रवेश करना अन्यों की अपेक्षा सुलभ हो जाता है। कारण कि–साधन तो कर ही रहे हैं। अब इनको तो स्मरण चिन्तन तथा सान्निध्य का अभ्यास करना है। ये कार्य मन के द्वारा ही होते हैं। जितने कार्य हैं, सब मन ही तो करता है। मन ही की कल्पना है। इसमें सब वस्तुओं की कल्पना ही की जाती है। यह है कल्पना–राज्य। अतः कल्पना बढ़ानी चाहिए। फिर इस मार्ग में बाधा भी तो बहुत हैं। विचार पूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि, सब बाधाओं

को कामना ही तो पोषण करती है, बढ़ाती है। अतः कामना को ही मिटाये। इसका सार है–प्रेम–प्राप्ति के लिए एक ही सूत्र, कल्पना बढ़ाये और कामना मिटाये।

(787) श्रीसद्गुरु–भक्ति का नाम ही तो श्रद्धा है।

(788) श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा का पालन करंना ही तो श्रद्धा का क्रियान्वित स्वरूप है।

(789) इनके वाक्यों को ज्यौं की त्यौं मान लेना, तथा अपनी बुद्धि को तोड़ मरोड़कर धर देना ही श्रद्धा की क्रिया है।

(790) सर्व प्रथम यह समझ लेना कि, अध्यात्म में जितनी भी ऊँची से ऊँची प्राप्य वस्तु हैं, प्रेम–विरह तक, वह सब श्रद्धा ही से मिलती हैं।

(791) जितनी श्रद्धा दृढ़ होगी, उतनी ही शीघ्रता से मार्ग तय होगा, नहीं तो विलम्ब लगेगा।

(792) साधन के अनेक अंग हैं, सब करणीय हैं।

(793) पूर्ण–तत्परता से, मन लगााकर, रात–दिन एक कर दे। अधिक से अधिक साधन करे। ऐसा करते हुए भी अपने में दैन्य ही बढ़ाता रहे। अपने को कुछ मान न बैठे।

(794) सतत् यही सोचे कि, मैं क्या कर सकता हूँ ? इसी धरातल पर अपने पूर्वाचार्य जो भजन–साधन कर गये तथा आज भी जो कर रहे हैं। मैं तो उनके सम्मुख मच्छर के बराबर भी नहीं हूँ। इस प्रकार साधक अपने साधन को बढ़ाता जाता है, तब जैसे–जैसे साधन बढ़ता है, वैसैं वैसैं ही साधक को भगवान् की महत्ता और अपनी क्षुद्रता दीखने

लगती है। तब वह सोचने लगता है कि, कहाँ मेरे प्राणाधार श्रीभगवान् और कहाँ मैं एक क्षुद्र जीव। क्या मैं इनको अपने बल से पा सकता हूँ ? कदापि नहीं। हाँ, यदि ये ही कृपा करके मुझे अपनालें, तो भलेही सम्भव है। तब यह कृपा कृपा चिल्लाने लगता है। ये तो अकर्मण्यता है। कुछ करना चाहे नहीं, परिश्रम से दूर रहे और चाहे श्रीभगवान् को, तो यह तो बंचना ही है।

(795) अतः अपना पूर्ण प्रयास हो, साथ ही कृपा का पूर्ण अवलम्ब भी हो, तभी साधक को लक्ष्य की प्राप्ति होती है। ऐसा साधक ही अपनी दीनता बस समस्त उपलब्धियों को कृपा साध्य मानता है। इसी से उत्थान होता है।

(796) सबसे भारी अवगुण तो यही है कि, हम दूसरे को ही देखते हैं, अपने को नहीं। यदि अपने को देखने लग जायँ, तो दूसरे की ओर विचार करने का अवकास ही नहीं मिलेगा। दूसरे की ओर देखने से लाभ क्या ? हानि ही हानि है। क्योंकि चिन्तन से चिन्तनीय के समस्त गुण अवगुण चिन्तक में आ जाते हैं। यदि हम किसी विषयी प्राणी का चिन्तन कर बैठे तो उसके समस्त विकार अपने में आ जायेंगे। इसलिए इस संसार में चिन्तनीय सन्तों के अलावा और कोई है ही नहीं।

(797) न हम किसी के गुरु, न मालिक, जो किसी से सुधरने के लिए कहें। जिसे सुधरना होगा वह तो हमें देखकर ही सुधार लेगा। कहने से आज कौन मानता है ? वस कहने

के लिए ही गुरु बना लेते हैं किन्तु करते सब अपने मन की ही हैं। आज किसी को भी गुरु की जरूरत नहीं। सभी अपने आप में महागुरु बने बैठे हैं। आज कण्ठी ली और कल ही महागुरु बनकर अनेकों शिष्य बना लिये। वस यही कारण तो है कि आज किसी को भी सच्चा मार्ग नहीं मिल पा रहा। सभी अन्धकूप में ही भटकते जा रहे हैं।

(798) साधक को तो अपना सुधार सवयं ही करना होता है। इसी से सब कुछ होगा। हाँ, अपने आचरण ऐसे शुद्ध बनायें कि, आदर्श बन जाय। सभी को उसमें से शिक्षा मिले। जो चाहे उसके अनुसार अपना जीवन बना सके।

(799) पहले तो किसी का दोष देखे ही नहीं। यदि किसी का दीख भी जाय, तो उसको देखकर मन में यही विचार करे कि, श्रीभगवान् ने इनको ऐसा बनाया है, तभी तो ये ऐसा कर रहे हैं। यदि हमको ऐसा बना दिया होता, तो हम भी यही कर रहे होते।

(800) जीव मात्र में दोष–गुणों का मिश्रण भरा पड़ा है। जब दूसरे लोग हमारे अवगुणों को सहन कर रहे हैं, तब हमको भी तो दूसरों की बुराईयाँ सह लेनी चाहिए।

(801) जब हमारा नियम है, परदोष–दर्शन तथा परचर्चा से सर्वथा बचकर रहना। तब हम इससे क्यों न बचें।

(802) परदोष दर्शन ही विरोध का मूल है। इसी से द्वेष बढ़ता है, शत्रुता बढ़ती है तथा पतन का मार्ग भी तैयार होता है। इसलिए इससे सर्वथा बचकर रहे।

(803) आजकल साधु समाज में भी स्वेच्छाचार बहुत बढ़ गया है। साधु जो चाहे सो खाते हैं, जो चाहे सो बोल देते हैं, जो चाहे सो करते हैं। इसी में अपना गौरव मानते हैं, बड़प्पन मानते हैं। हमें इससे सतत् सावधान रहकर शिक्षा लेनी है कि, जब तक हम सब कुछ खाते रहेंगे, सब कुछ करते रहेंगे और सब कुछ बोलते रहेंगे, तब तक हमारा लक्ष्य हम से करोड़ों कोस दूर ही है। ये "रहनी" लक्ष्य को दृढ़ नहीं होने देगी, प्रत्युत शिथिल ही करेगी। शिथिल करते–करते एकदिन लक्ष्य से पूर्ण–रूपेण विमुख कर देगी। अतएव स्वेच्छाचार से बहुत ही बचना है। पूरा बचना है।

(804) आचरण शुद्धि की बहुत ही आवश्यकता है। इसमें मुख्य है– जिह्वा का बोलना, भोजन की शुद्धि, उपस्थ का संयम, साथ ही साथ यह भी स्मरण रहे कि–अध्यात्म में सबसे बड़ी बाधा है– अहंकार, आसक्ति तथा असंयम।

(805) प्रेम चाहता है बलिदानः–यदि प्रेम की लालसा है, तो करो बलिदान अपने को तथा अपने सर्वस्व को ? और करो अपनी सम्पूर्ण कामना–वासनाओं का उन्मूलन।

(806) निर्वासनिक हृदय, एकदम खाली। कोई विचार नहीं, संकल्प विकल्प नहीं, कोई आशा नहीं, तृष्णा नहीं तथा कोई लालसा, इच्छा भी न रहने पाये। बस, एक ही कामना, एक ही वासना कि, कब अपने श्रीप्राण प्रियतम के प्रेम सिन्धु में डूबूँ ? और कब इनकी स्नेह पूरित हृदय से सेवा करूँ ? इसके लिए निरन्तर भजन। जिह्वा यंत्रवत् श्रीनाम जप

करती ही रहे। इसके साथ–साथ श्रीप्राणनाथ के सान्निध्य का अनुभव करता रहे।

(807) हृदय मृदु बने, कठोरता छू न जाय।

(808) अन्तर दृष्टि–इसके लिए प्रयास। प्रयास क्या है ? जो प्रेम–प्राप्ति में सहायक हो, उसको अपनाये, जीवनप्राण बनाये और जो बाधक हो, इसको दूर से ही फैंक दे। **सहायक हैं**–श्रद्धा, निरभिमानता, क्षमा, उदारता, नम्रता, प्रपंचराहित्य, सरलता, विकारों का अभाव, सतत् सावधानता तथा सन्त कृपा की आकांक्षा।

बाधक हैं–तर्क, रूक्षता, प्रपंच, स्त्री, बालक, कायरता, उत्साह हीनता, अकर्मण्यता तथा मन की चंचलता।

(809) हम प्रेम–पथ के पथिक हैं। प्रेम प्रियतम के समान ही पावन है। इसलिए हमको भी परम पवित्र बनना ही होगा।

(810) कृपा चिन्तन, प्यार तथा आत्मीयता से मन को इनमें ही जुटाता रहे। क्योंकि प्रेम पथ में प्रधान है–आत्मीयता।

(811) "इतनी बड़ी सृष्टि में केवल श्रीजीवनधन ही एक मेरे हैं और दूसरा कोई मेरा है ही नहीं" जब यह धारणा दृढ़ बन जायेगी, तब तो जो कुछ क्रिया, विचार, संकल्प होंगे, वे सब सहज ही में स्वभावतः इनके लिए ही होंगे। करने नहीं पड़ेंगे। बिना प्रयास के ही त्याज्य वस्तुओं का स्वतः ही त्याग हो जायेगा। प्रेमपथ के पथिक के लिए जिस बलिदान की परमावश्यकता है, वही बलिदान बिना प्रयास के स्वयमेव हो जायेगा, करना नहीं पड़ेगा। इसलिए सर्वप्रथम इस

धारणा को ही दृढ़ करले, तो अन्य वस्तु तो इसके फल स्वरूप स्वयमेव प्राप्त हो ही जायेंगी।

(812) अपने इष्ट की सतत् याद करना ही स्मरण है और इनके रूप, गुण, लीला, धाम को सोचना ही चिन्तन है। ये दोनों सान्निध्य के ही अंग तो हैं। सान्निध्य की ही प्रक्रिया तो हैं ? जब हम किसी का चिन्तन करने लगते हैं, तब वह चाहे कोई वस्तु हो, स्थान हो, व्यक्ति हो, उसका रूप, गुण, स्वभाव सब का सब ज्यौं की त्यौं हमारी आँखों के सम्मुख आकर साकार सा ही खड़ा हो जाता है। यह उससे कोसों दूर रहते हुए भी उसका सान्निध्य करना ही तो है। अतएव सान्निध्य प्रधान वस्तु है। जैसे साधन प्रक्रिया में नामाश्रय प्रधान वस्तु है, वैसे ही सान्निध्य भी प्रधान वस्तु है।

(813) यदि श्रीनामाश्रय के साथ साथ सान्निध्य का भी अभ्यास निरन्तर बढ़ता चले, तो लक्ष्य अतिशीघ्र हाथ लग जाता है।

(814) निरन्तर अपने जीवनधन के नाम, रूप, लीला और गुणों का ही चिन्तन मनन होता रहे। भाँति–भाँति से सेवा के संकल्प, कामना, अन्तःकरण में गूँजती ही रहें। यही श्रीप्राण प्रियतम का सान्निध्य करना है। यही सान्निध्य एकदिन पूर्णरूपेण साकार हो जायेगा। जो साधक का एकमात्र प्राप्तव्य है।

(815) जब हमारी समस्त इन्द्रियों का विषय एकमात्र श्री भगवान् ही बन जायेंगे तथा जब यह बात पूर्णरूपेण

अभ्यास में आ जायेगी, तब हमको केवल श्रीभगवान् ही दीखेंगे। तब दर्शन करें इनके, सुनें इनको, बोलें इनको और विचारें इनको। चिन्तन–स्मरण करें इनका ही। इसी को भगवदाकार वृत्ति या तदाकार वृत्ति कहते हैं तथा इसी को भगवद्–दर्शन कहते हैं।

(816) साधक की प्रसंसा इस बात में नहीं है कि, वह इतना अधिक भजन करता है ? अपितु प्रसंसा तो इस बात में है कि, उसका समय कितना कम व्यर्थ जाता है। अथवा किंचित भी व्यर्थ नहीं जाता है। अपना पूरा समय श्रीप्रियतम की याद में ही खर्च करता है।

(817) 23 घन्टे भजन करके, यदि एक घन्टा अपनी मन मानी बहिर्मुखता में खर्च कर देता है, तो इस 23 घन्टे के भजन की अपेक्षा उस 1 घन्टे के भजन का महत्व अधिक है, जो 1 घन्टे भजन करके 23 घन्टे उसकी बृद्धि के चिन्तन में, उसके सुरक्षित करने में लगा रहता है। वास्तविक भजन तो यही है जिसमें साधक का एक क्षण भी व्यर्थ न जाता हो

(818) आवश्यकता और अवकाश ही भजन में अन्तराय लाते हैं। जिसको जितना अधिक अवकाश होगा, वह उतना ही अधिक प्रपंच करेगा। ठाली तो बैठ नही सकता, कुछ न कुछ तो करेगा ही। जिसकी जितनी आवश्यकता बढ़ी होंगी, वह उतना ही अधिक धनिकों की गुलामी करेगा, उनके पीछे भगा फिरेगा। जो श्रीभगवान् को छोड़कर संसार की गुलामी करेगा, उसकी क्या दशा बनेगी, यह तो

सब जानते ही हैं, कुछ कहने की बात ही नहीं हैं।

(819) हमको यह कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि, वैराग्य ही अध्यात्म का स्तम्भ है। कोई भी मार्ग हो, ज्ञान या भक्ति। उसमें सफलता तो वैराग्य से ही मिलती है।

(820) ज्ञान के लिए तो वैराग्य आवश्यक है ही। बिना इसके ज्ञान हो ही नहीं सकता। वैसे ही भक्ति–मार्ग में भी वैराग्य की परमावश्यकता है। भक्ति–मार्ग के जितने भी साधन हैं, उनका सम्बर्द्धन भी तो वैराग्य से ही होता है तथा सब इसी से ही पुष्ट होते हैं। भगवत्प्राप्ति भी यही कराता है तथा प्रेम में भी यही डुबाता है।

(821) प्रेम में डूबने के लिए साधन है–मन को शुद्ध करना, खाली करना। खाली मन ही भगवान् में लगता है, और प्रेम में डूबता है। अतः वैराग्य की यथार्थ परिभाषा है–खाली मन। मन को कोई वासनिक कर्त्तव्य न हो, कोई भार न हो, कोई चिन्ता न हो, कोई कामना न हो, यह है–मन खाली। भगवान के अतिरिक्त अन्तःकरण के किसी भी कोने में कोई चाह न छिपी हो। "केवल और केवल" इनकी ही चाह, इनकी ही कामना, इनकी ही वासना हो। यही है–मन का खाली होना। इसी का नाम है–वैराग्य।

(822) पाषाण के समान शीतकाल का घृत अग्नि के सान्निध्य से पिघल पिघलकर बहने लगता है। अपनी कठोरता त्यागकर द्रव हो जाता है। रूप बदल जाता है। स्थिति भी परिवर्तित हो जाती है। पतिव्रता चिरविरहिणी
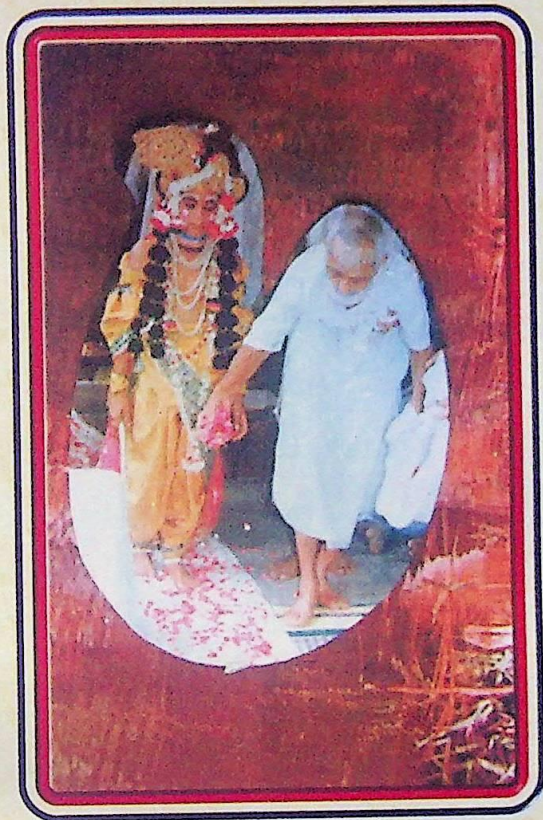
पूज्यपाद श्री ठाकुर जी की पुष्प अगवानी करते हुए
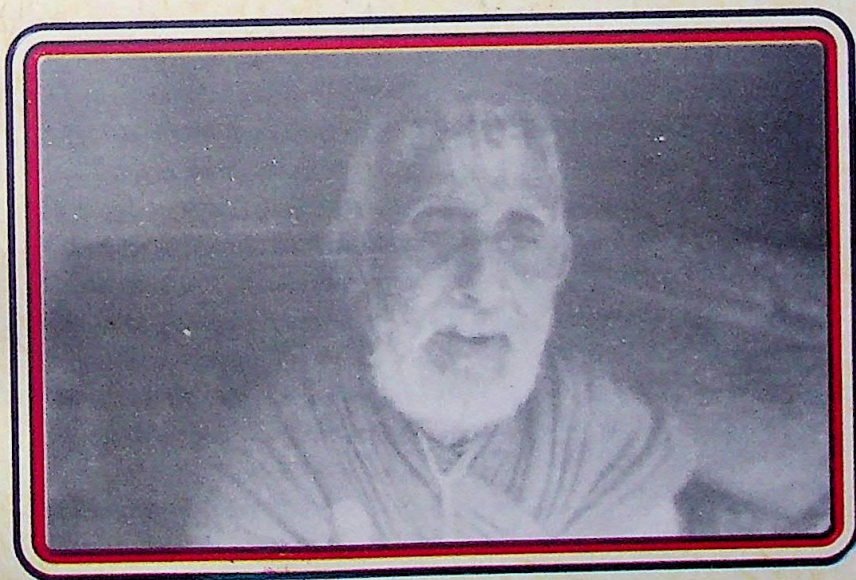
पूज्यपाद की भाव समाधि

अबला अपने प्राणनाथ का आगमन सुन लेने मात्र से ही विरहाग्नि से मुक्त हो जाती है। अन्तःकरण खिल उठता है। दर्शन करके, सेवा करके तथा बोल बतराके कैसी हो जाती है ? अनुभव करने के योग्य हैं ये स्थितियाँ।

(823) **चिन्तन के विषय**—कितनी कृपा हुई है ? हम इसका सदुपयोग कर रहे हैं या नहीं ? श्रद्धा में शिथिलता तो नहीं आ रही है ? किसी भी बात का अहंकार तो नहीं हो रहा है? किसी में आसक्ति तो नहीं कर बैठे ? किसी से विरोध तो नहीं हो रहा है ? सदाचार कैसा पालन हो रहा है ? साधन में रुचि कैसी है ? विलासिता तो नहीं बढ़ रही? इनके अतिरिक्त मन में कोई इतर कामना तो नही बन रही ? लीलाओं का चिन्तन? जिस पर कृपा हुई हो, उसके विचार, रहनी, लगन, लालसा, श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम देखना, विचारना। यथाः—शबरी, गीध, यशोदा, नन्द और गोपी। कभी मै भी ऐसा बनूँगा ? किसी के दोषों का विचार नहीं करना कि, वे ऐसे हैं ? "सपनेहुँ नहीं देखइ परदोषा।" व्यर्थ चिन्तन न होने पाये, शास्त्र वाक्यों का चिन्तन करना। दुर्गुणों से अपने को बचा लेना तथा सद्गुणों को धारण कर लेना। राजनीति से दूर रहना। इनसे ही सुखी और इन बिना दुखी होना। स्त्री, धन, धरणी तथा अहंकार, इनसे बचने का पूर्ण—चिन्तन, कुछ भी हो जाय, किन्तु क्रोध न उपजने पाये,यह चिन्तन परमावश्यक है। स्वभाव सुधारना। अपने दोषों को सहन नहीं करना। शीघ्राति—शीघ्र मिटा

देना, जो कह दे, उसका पूरा पालन करना। गर्म पड़ जाने से, भड़क उठने से तथा चंचलता से सावधान रहना। शान्त, गम्भीर, उदार तथा शीलवान बनना। गुरुजनों में समान श्रद्धा–भाव रखना।

(824) साधन करने से ख्याति तो होती ही है। यदि इसके पचरे में आ गये, तो पतन अवश्य ही सम्भव है। अतः इससे बचने में ही साधक का कल्याण है।

बचने के उपाय हैं ये–पहले तो ख्याति की चाह ही न हो। दूसरा इसके लिए चेष्टा भी न करे। यदि ख्याति हो, तो अपने को वैसा मान न बैठे। मन ही मन भगवान से कह दे कि सब खेल तुम्हारा ही है मेरे जीवनधन! मैं तो जो भी हूँ, सो तो तुम सब जानते ही हो। तीसरा उपाय है यह कि प्रसंसा सुनकर मन में यही विचारे कि, मैं वास्तव में ऐसा हूँ नहीं, मेरे प्रभु इस माध्यम से मुझे ऐसा बनने के लिए कह रहे हैं कि तू ऐसा बन।

(825) माया से बचने के लिए तथा सर्व विघ्न शान्ति के लिए एक ही उपाय है कि–लक्ष्य और महदाश्रय दृढ़ हो साथ ही कृपा की सतत् स्मृति भी बनी ही रहे।

(826) अध्यात्म का मूल है श्रद्धा। श्रद्धा जितनी बढ़ेगी, काम उतना ही शीघ्र बनेगा। सात्विकी श्रद्धा से श्रीसद्‌गुरु भगवान की आज्ञा–पालन में लग जाना चाहिए। फिर तो जो प्राप्त होगा, सँभालना कठिन हो जायेगा। इसी कारण श्रद्धा को बढ़ाते रहना चाहिए। हाँ, श्रद्धा में होनी चाहिए

पूरी सत्यता। अर्थात् सद्गुरु आज्ञा पालन। (ता0 29–7–1974)
(827) अध्यात्म पथ की सत्यता है श्रद्धा। सत्यता के साथ पवित्रतम–जीवन बनाते हुए इसमें आगे बढ़े। फिर तो कुछ दुर्लभ है ही नहीं। (ता0 12–8–1974)
(828) श्रद्धा ही भक्ति–मार्ग में मुख्य है। श्रीसद्गुरु के सत्संग और सेवा से इसका बार–बार सिंचन करते रहना चाहिए। श्रद्धा इतनी हलकी वस्तु है, जैसे कपूर। पता नहीं यह कब उड़ जाय ? श्रद्धा में कुसंग बहुत बाधक है। भूलकर भी अश्रद्धालु और श्रीभगवद्–विमुख लोगों का संग न करे। श्रद्धालुओं का ही संग करे। (ता0 5–11–1974)
(829) केवल श्रद्धा सहित श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा का ज्यौं की त्यौं, बिना कुछ सोचे विचारे, बिना परिणाम देखे, अक्षरशः पालन करने से, एक ही जन्म में उद्धार हो जाता है। अपनी बुद्धि न लगावे, नहीं तो पतन हो जायेगा।
(ता0 6–11–1974)
(830) श्रद्धा का यही तो प्रताप है कि, वह कैसा भी सन्देह नहीं रहने देती है। (ता0 12–4–1975)
(831) श्रद्धा ही सब काम बनाती है। यदि श्रीसद्गुरु–भगवान् में दृढ़–श्रद्धा है, तो पवित्रतम्–जीवन तो बनेगा ही। समस्त कामनाओं का नाश भी स्वतः ही हो जायेगा तथा श्रीभगवत् प्रेम पथ की ऊँची से ऊँची अवस्था अनायास ही प्राप्त हो जायेगी। इनके लिए प्रयत्न की आवश्यकता है ही नहीं। श्रद्धालु के लिए तो एक ही कर्त्तव्य है कि, वह निरन्तर

उत्तरोत्तर अपने श्रीसद्गुरु भगवान में अपनी श्रद्धा को बढ़ाता ही रहे। अपना पूरा प्रयत्न तो केवल श्रद्धा के लिए ही होना चाहिए। श्रद्धालु के लिए अध्यात्म की ऊँची से ऊँची उपलब्धि आनुसंगिक है। अतः यही प्रयत्न रहे कि, श्रद्धा दिनों दिन बढ़ती ही रहे। (ता0 17–4–1975)

(832) श्रद्धा दृढ़ है, इसकी पहचान है कि, वह पाप नहीं कर सकता। श्रद्धा पाप नहीं बनने देती और श्रीसद्गुरु में भी श्रीभगवद्–भाव दृढ़ बना देती है। जिससे उनमें दोष दीखते ही नहीं हैं। (ता0 4–21–1976)

(833) श्रद्धा से हृदय में प्रकाश होता है और माया से अंधकार। श्रद्धा से सदाचार, निष्कामता, समता, निरहंकारिता, सरलता आदिक सब आनुसंगिक होकर हृदय में आ विराजते हैं। (ता0 10–2–1977)

(834) श्रद्धा दोनों ओर काम करती है। एक ओर से साधक को संसार से छुड़ाकर श्रीभगवान की ओर ले जाती है तथा दूसरी ओर से श्रीभगवान को साधक की ओर खींचकर ले आती है। (ता0 5–4–1978)

(835) श्रीसद्गुरुदेव की प्राप्ति कठिन है। यह तो उसी को प्राप्त होते हैं, जिसको नटखट (प्रभु) अपनाना चाहते हैं। श्रीसद्गुरु प्राप्त होने पर यत्र–तत्र न भटके। इनकी आज्ञानुसार साधन करने में ही लग जाय। वस्तुतः शिष्य का कल्याण करने के लिए स्वयं श्रीभगवान ही श्रीसद्गुरु के रूप में आते है। (ता0 17–5–1976)

(836) श्रीसद्गुरु साधक को तभी मिलते हैं, जब उसका अन्तिम जन्म होना होता है। जैसे दूध में पानी मिल जाता है, वैसे ही वह शिष्य भी अपने श्रीसद्गुरु की रहनी, स्वभाव तथा आचरण में घुल मिल जाता है। श्रीसद्गुरु से शिष्य का अस्तित्व अलग ही नहीं रह जाता। सद्गुरु की रुचि में ही शिष्य की रुचि, उनकी प्रसन्नता में ही शिष्य की प्रसन्नता, उनका प्राप्तव्य ही शिष्य का प्राप्तव्य, उनकी आज्ञा का पालन ही शिष्य का परम–कर्त्तव्य और उनकी सेवा में ही शिष्य का प्राणार्पण रह जाता है। निरन्तर श्रीसद्गुरु की रहनी, स्वभाव का चिन्तन करते–करते शिष्य भी श्रीसद्गुरु का प्रतिरूप ही बन जाता है। यही वास्तविक दीक्षा है।

(837) यथार्थ शिष्य वही, जो गुरु से एकरूप हो जाय।

(838) मैं भलेही रह जाऊँ। मैं अपने विषय में इनसे (प्रभु से) पीछे बात कर लूँगा, परन्तु यह जो मेरी शरण में आया है, इसका उद्धार तो इसी जन्म में हो जाना चाहिए। मुझसे पहले इसका कल्याण हो जाय, जिसकी ऐसी भावना है, वही है श्रीसद्गुरु। अर्थात् शिष्य को संसार से सर्वथा छुड़ाकर प्रभु के हाथ में हाथ पकड़ा दे–वही है सद्गुरु।

(839) परलोक बने अथवा बिगड़े, हानि हो अथवा लाभ, मान हो अथवा अपमान, सुख हो अथवा दुःख, जीवन रहे अथवा जाय। यहाँ तक कि श्रीभगवान् मिलें अथवा न मिलें, वह तो केवल अपने श्रीसद्गुरु भगवान की आज्ञा–पालन

को ही अपना कर्त्तव्य मानता है, वही है सत् शिष्य।

(ता0 2—10—1976)

(840) जिस क्षण श्रीसद्गुरुदेव की माधुरी मूरति साधक के हृदय में आकर विराज जाती है, उसी क्षण साधक मुक्त हो जाता है। (ता0 30—12—1976)

(841) श्रीसद्गुरु प्राप्त हो जायँ। इनके श्रीचरणों में अपनी पूरी श्रद्धा हो जाय और अनुग्रह करके ये जीव को अपना लें। अर्थात् शिष्य के कल्याण का संकल्प बनालें। तो उसका तो कल्याण सुनिश्चित ही हो जाता है। उसी का अन्तिम जन्म होता है। (ता0 14—12—1976)

(842) शिष्य गुरुदेव का चिन्तन करके वैसा ही बन जाता है। अर्थात् श्रीसद्गुरु के समस्त सद्गुण चिन्तन के माध्यम से शिष्य के अन्तःकरण में अनायास ही आ जाते हैं।

(843) श्रीसद्गुरु की आज्ञा का पालन करना ही, सच्ची सेवा है। (ता0 11—1—1974)

(844) **भजनः**—भजन केवल भजन के लिए ही हो। कामना, भजन को चाट जाती हैं। इससे भजन को सँभालकर रखने की आवश्यकता है।

(845) वासना मिटाकर भजन करने से दिन व दिन वृत्ति उठती ही जाती है। (ता0 23—11—1973)

(846) समस्त इन्द्रियों को बस में करके जो भजन किया जाता है, वास्तव में तो वही भजन है। इसके करने से जो प्राप्त होता है, वह बड़ा ही दुर्लभ है। (ता0 29—7—1974)

(847) भजन मन लगाकर होना चाहिए। भजन में वेगार टालने से तो मरना ही उत्तम है।

(848) भजन करने में नींद आती है, किन्तु हमने नहीं सुना कि, किसी को भोजन करने में नींद आई हो। भजन में नींद आना, भजन के प्रति उपेक्षा और रुचि की कमी होना ही सूचित करता है। इसको हम अपराध ही मानते हैं।

(ता0 6–8–1981)

(849) **साधनः**–मन, बुद्धि और चित्त को श्रीभगवान् की ओर लगाना ही साधन है।

(850) अस्वस्थावस्था में विवशतावश साधन का जो नियम पूरा न हो पाये, उसकी पूर्ति स्वस्थ होते ही अवश्य कर लेनी चाहिए। नहीं तो साधन में प्रमाद हुआ ही माना जायेगा।

(851) जिस जीभ से श्रीभगवान् का नाम जप करे, उससे भूलकर भी कभी परनिन्दा, चुगली, झूँठ, व्यर्थ बात न करे। यह पथ्य है, तो फल तो प्राप्त होगा ही। यदि नही हैं, तो फल प्राप्त नहीं होगा (ता0 30–6–1975)

(852) शारीरिक–श्रम के साधन से इतना लाभ नहीं, जितना मन को इनमें लगाने से होता है। अपने साधन का बल न मान बैठे। (ता0 3–2–1977)

(853) साधन करना इतना कठिन नहीं, जितना साधन का पचा लेना कठिन है। साधन का फल तभी बच पाता है, जब किसी सन्त में गहरी श्रद्धा होती है। (ता0 11–2–1979)

(854) साधन ही साधक को बढ़ता है। साधन ही साधक को सुधारता है। साधन ही साधक को साध्य से मिलाता है। हाँ, साधन हो किसी सन्त का बताया हुआ। अपने मन से किया हुआ ऊँचे से ऊँचा साधन अहंकार बढ़ाकर और अधिक माया में फँसा देता है, संसार से छुड़ाकर साधक का उद्धार नहीं कर सकता है। (ता0 16–10–1983)

(855) पहले लक्ष्य दृढ़ बनावे, तब फिर साधन करे। अर्थात् साधन करने से पूर्व ही भगवान को समर्पण करके साधन करे, साधन में यही सावधानी रखनी है। तब कहीं जाकर उत्थान होगा। (ता0 2–9–1982)

(856) ऊँचा पद पाकर साधन नहीं हो पाता है, यह पथ बहुत ही सरल है तथा बहुत ही कठिन भी है। जो श्रीसद्गुरु के बताये हुए मार्ग से ही दृढ़–श्रद्धा पूर्वक चल रहे हैं,उनको तो अत्यन्त ही सरल है और जिनकी श्रद्धा शिथिल है तथा जो अपने मन से ही साधना कर रहे हैं, उनके लिए अत्यन्त ही कठिन है। (ता0 20–12–84)

(857) सन्त से सांसारिक वस्तु नहीं माँगनी चाहिए। क्यौंकि इनकी तो छाया में भी संसार नहीं होता। सन्त से सांसारिक वस्तु माँगना, डाहिन से पुत्र माँगना जैसा ही है।

(858) यदि सहनशीलता आ जाय, तो वह तो सन्त ही हो जाता है। (ता0 10–4–1974)

(859) सन्त वही जो शान्ती से प्रारब्ध भोग ले और अपनी वृत्ति को दिनों–दिन संसार से उपरत करके इनमें (प्रभु में)

लगाता जाय। कोई कुछ करे, कोई कुछ कहे, कभी भी दूसरे की ओर नहीं देखे, सदैव अपनी ओर ही देखे। संसार से कोई प्रयोजन ही नहीं। (ता0 10–8–1977)

(860)सन्त नये पाप नहीं बनने देते और पुराने पापों को भोगने की शक्ति प्रदान करते हैं। शरणागत जीव के पूर्वकृत पापों को भुगवाकर, नष्ट करके, उसको तन–मन वचन से निर्मल करके जीवनधन के प्रेम का अधिकारी बना देते हैं। (ता0 9–2–79)

(861) जब तक जीव में चाह है, कामना है, तब तक श्रीभगवान् से प्रार्थना होती है। चाह समाप्त होते ही जीव भाव मिट जाता है। (ता0 10–7–1975)

(862) श्रीभगवान से की गई प्रार्थना कभी भी व्यर्थ नहीं जाती है।

(863) भोग्य उपस्थित होने पर श्रीभगवान से आर्त होकर यही प्रार्थना करे कि, हे नाथ! मैं अपने प्रारब्ध के भोग शान्ति से भोग लूँ। मेरा भजन, चिन्तन और आपकी याद न छूटे, ऐसी शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करो। (ता0 4–1–1986)

(864) श्रीभगवान से रो रोकर प्रार्थना करे कि, हे मेरे प्रभुजी कभी मुझे भी इस माया से छुड़ाओगे ? मैं भी कभी आपका भजन कर पाऊँगा ? (ता0 13–3–1986)

(865) हे जीवनधन! जैसे–जैसे इस शरीर की आयु और दुर्बलता बढ़ती जाय, वैसे वैसे ही आपका स्मरण, चिन्तन और भजन भी बढ़ता जाय, ऐसी कृपा करो ?

(866) श्रीभगवान का प्रेम स्वयं श्रीभगवान नहीं दे सकते, यह तो किसी भगवत्प्रेमी महापुरुष की कृपा से ही मिलता है। (ता0 30–8–1984)

(867) श्रीभगवान तीन बातों में स्वतंत्र हैं–दर्शन देने में, कृपा करने में और अपनाने में। हाँ, हम अपनी ओर से श्रीभगवान का भजन निष्काम भाव से केवल श्रीभगवान के लिए ही करें, किसी कामना से नहीं करें, निरन्तर इनके लिए ही जीवन बनायें, पूरी सत्यता से इनकी चाह होते ही ये मिल जायँगे। (ता0 24–1– 74)

(868) अहंकार से बचना, तनिक भी अहंकार न हो जाय, नहीं तो माया फँसा लेगी। (ता0 25–2–1974)

(869) सत्संग से व्यक्ति को सरलता, विनम्रता, कोमलता, और निरहंकारिता, प्राप्त होते हैं। जो प्रभु–मिलन में परम सहायक सिद्ध होते हैं। (ता0 26–12–1974)

(870) कामना से बचे, बहुत ही सावधान रहे, कोई कामना न बन जाय, इस समय बड़ा ही दुस्तर समय चल रहा है। (ता0 16–12–1974)

(871) भजन के साथ–साथ श्रद्धा, संयम, सदाचार, निष्कामता तथा तत्परता अधिकाधिक बढ़ती ही रहे, यही कर्त्तव्य है। (ता0 18–8–1974)

(872) केवल प्रतिमा पूजन से ही कोई लाभ नहीं, यह तो बहुत ही सरल है। लाभ तो सन्त की आज्ञापालन से ही होता है। आज्ञा–पालन कठिन पड़ता है।(ता0 9–1–1975)

(873) जीवन पवित्रतम हो और निरन्तर श्रीभगवत् चिन्तन होता रहे, तो और कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं हैं सब इसी से सुलभ हो जायेगा। (ता0 25–1–75)

(874) अपनी चतुराई ने ही मनुष्य को संसार में नाना प्रकार की यौनि भोगने को विवश कर दिया है। यदि यही चतुराई श्रीभगवान से मिलने में लग जाती, तो कल्याण हो जाता। (ता0 14–6–1975)

(875) साधक केवल आज्ञा–पालन यथावत करे, तो तीन वर्ष में ही सिद्ध हो जाता है। (ता0 8–20–1975)

(876) स्त्री, धन और मान प्रतिष्ठा ये साधक के महाकाल हैं। (ता0 24–7–1975)

(877) सांसारिक कार्यों से अरुचि होने पर संसार धीरे–धीरे छूट जाता है। (ता0 25–2–1976)

(878) सहनशीलता और दयाभाव होने पर साधक सबसे मिलकर रह सकता है।

(879) भगवान् श्रीराम को रावण के मारने के लिए त्याग और तप करना पड़ा था, राज्य सुखों को छोड़कर वन–वन भटकना पड़ा था, तब कहीं जाकर रावण बध कर पाये। इसलिए साधक को भी इस भवसागर रूपी शत्रु को जीतने के लिए तप और त्याग की परमावश्यकता है। (ता0 26–4–1976)

(880) आज–कल साधु बनना आवश्यक नहीं है, वेष बदलने की आवश्यकता नहीं है, घर छोड़कर कहीं भी जाने की

आवश्यकता नहीं, सर्वत्र प्रपंच ही प्रपंच है। आवश्यकता है प्रपंच से सर्वथा बचकर भजन में लगने की। कोई भी क्षण व्यर्थ न खोने पाये। जहाँ भी कहीं रहें अपने को सतयुग में ही रखे। श्रीभगवत् प्रेम के अतिरिक्त कोई कामना छू न जाय। सुख, शान्ति, आनन्द अपने मन में हैं। सतत् सत्वगुण की बृद्धि, निष्कामता और भजन में बृद्धि, निष्प्रापंचिकता से ही होती है। सतत् श्रीभगवत्–प्रेम में ही मस्त रहे।

(ता0 23–5–1976)

(881) जीव को श्रीभगवत्–कृपा ही प्रेम–पथ में लगाती है। यह पथ बड़ा ही कठिन है। माया–राज्य से ऊपर उठना बड़ा ही दुस्तर है। श्रीसद्गुरु मिल जायँ, तो सब सुलभ हो जाता है, परन्तु जीव माया को छोड़ना ही नहीं चाहता है।

(ता0 3–20–75)

(882) लालसा संसार की और प्रयत्न श्रीभगवान् का, यह कैसे हो सकता है ? (ता0 18–3–1975)

(883) श्रीसुग्रीवजी को और श्रीबिभीषणजी को राज्य दिया, परन्तु श्रीहनुमानजी को कहीं भी एक गाँव तक भी भेंट में नहीं दिया। कारण कि, ये दोनों कामना लेकर शरण में आये थे और श्रीहनुमानजी पूर्ण निष्कामभाव से शरणागत हुए थे, इसीलिए इनको निरन्तर साथ रहकर सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन दोनों को वापिस घर भेज दिया। इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि, निष्कामी को ही यह दुर्लभ वस्तु प्राप्त होती है। आज जितने मन्दिर श्रीहनुमानजी के

हैं, उतने और किसी भी देवता के नहीं मिलेंगे।

(ता0 16–6–1976)

(884) संसार को सुधारने मे जो लगेगा, वह अपने आपको ही धोखा देगा। (ता0 5–8–1976)

(885) संसार में रहने के दो प्रकार हैं। एक तो हंस की भाँति नीर–क्षीर विवेकी और दूसरा कमल की भाँति जल में रहते हुए भी जल से निर्लेप। हंस की रहनी साधक की रहनी है। कमल की सिद्धावस्था है। (ता0 13–8–1977)

(886) उठने का क्रम है–सन्त का आश्रय, इनमें श्रद्धा, इनकी आज्ञानुसार साधन में लगना, इनके अनुसार रहनी, आचरण और स्वभाव का निर्माण, तब संसार से उपरति, तब भगवत्प्रेम की उत्कट लालसा,तब भाव, तत्पश्चात् प्रेम।

(887) भाव–तरल घी की भाँति है और प्रेम–जमे हुए ठोस घी की भाँति है। (ता0 21–7–77)

(888) एक–एक इन्द्रिय का अलग–अलग संयम करना बहुत ही कठिन पड़ता है। एक इन्द्रिय का पूर्णरूप से जीत पाना ही अशक्य है, तब फिर सभी पर बिजय पाना कितना कठिन होता होगा, यह तो वे ही जानें जिन्होंने इनको जीत लिया है, या फिर जो इनको जीतने में लगे हैं।

(889) जैसे घर में एक व्यक्ति के इसारे से सब चलें, तभी घर की उन्नति होती है। इसी प्रकार एक श्रीसद्‌गुरु की आज्ञानुसार ही समस्त इन्द्रियों को चलाने से सरलता पूर्वक समस्त इन्द्रिय–ग्राम वश में हो जाता है।

(890) समस्त दोष, दुर्गुण, विकारों के मिटाने का, समस्त इन्द्रियों पर विजय पाने का, एकमात्र उपाय है–श्रद्धा पूर्वक श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा–पालन करना। श्रीभागवत्जी की आज्ञा है कि–

"एतत् सर्वं गुरोर् भक्त्या पुरुषो ह्यंजसा जयेत्"।

(ता0 7–9–1973)

(891) श्रीभगवान् से कछु न माँगे। यदि माँगे बिना न रहा जाता हो तो केवल यही माँगे कि, हे प्राणेश! अब आप ऐसी कृपा करदो कि, मेरा मन आपको छोड़कर एक क्षण के लिए भी संसार की ओर न झाँखे। हे जीवनधन! मेरा जीवन अब केवल आपके लिए ही है। मैं भी देखता हूँ कि, तुम कब तक नहीं मिलते हो ? तुम्हारी शपथ! मैं भी तुम्हें पाकर ही रहुँगा। कितने भी भागो, पर अब तो मैं तुम्हारा पीछा ही नहीं छोडुँगा। (ता0 2–12–1976)

(892) सिद्धान्त है–शिष्य की अपने श्रीसद्गुरु में पूर्णश्रद्धा हो और वे अपनालें, तभी पूरा काम बनता है।

(893) संसारी लोग आते हैं, अपना कर्मफल भोगने और सन्त आते हैं, जगत के जीवों का उद्धार करने।

(ता0 25–6–1988)

(894) सोई पावन सोई सुभग शरीरा।
जो तनु पाइ भजइ रघुबीरा।।

(895) रोग के द्वारा बहुत से पाप कट जाते हैं। यदि रोग को श्रीभगवत्–कृपा ही मान ले, तो शोक, दुःख, चिन्ता का

कोई काम ही नहीं रह जायेगा।

(896) श्रीभगवान् के विधान सदैव मंगल कारक ही होते हैं। श्रीप्राणनाथ जीव के साथ कभी भी अमंगल कार्य नहीं करते। अब अपना परम कर्त्तव्य यह बनता है कि, किसी में भी मोह न होने पाये। किसी से भी बैर भाव न रहे।

"सबके प्रिय सबके हितकारी"।

(897) रोग के द्वारा बहुत से पाप कट जाते हैं। (18–4–1989)

(898) बहुत ही आवश्यक है एक बात कि, श्रीजीवनधन से कभी भी भूल से भी कुछ न माँग बैठे। केवल प्रेम ही चाहे, बस। (ता0 18–4–1989)

(899) अब सन्त नहीं बन पा रहे हैं। सब प्रचार में ही लग रहे हैं। ऊपरी बातें बहुत बढ़ि रही हैं। ठोस बातें उठती ही जा रही हैं। हम अपना ऊपरी फैलाव न होने दें, जितना भी हो सके आन्तरिक ही बढ़ायें।

(900) यदि श्रद्धा दृढ़ हो, तो पाप नहीं बन सकते। श्रद्धालु चाहते हुए भी पाप नहीं कर सकता।

(901) यदि पाप बन रहे हैं, तो श्रद्धा की कमी है। गुरु तो बहाना मात्र है। क्यौंकि गुरु कभी भी पाप करने के लिए नहीं कह सकते। इसलिए यह प्रमाणित होता है कि जो पाप किये जा रहे हैं वे स्वेच्छा से ही किये जा रहे हैं। यही बात इसकी पुष्टि करती है कि गुरु तो वहाने मात्र के लिए ही बनाये गए हैं। (ता0 9–2–1989)

(902) यदि हम किसी को कष्ट न दें, तो दुःख आयेगा ही

नहीं। (ता0 9–2–1989)

(903) पुनर्जन्म कामना से ही होता है। धन की, वैभव की, संसार की, कुटुम्ब की, मान प्रतिष्ठा की, सांसारिक सुख भोगों की कामनाओं को मन में स्थान न दे। जब जब कामना उठे, तब तब हटाता ही जाय तथा लक्ष्य–प्राप्ति के लिए सतत् पाठ, भजन, सत्संग में पूरा–पूरा लगा ही रहे। अपनी ओर से कमी न रखे। जो जहाँ है, वहीं श्रीसद्गुरु की आज्ञानुसार दृढ़ता से लगा रहे तो शेष कमी स्वयं श्रीभगवान् ही पूर्ति कर देंगे।

(904) साधन करे ऐसा मानकर कि, मैं तो कुछ भी करने के लायक ही नहीं हूँ। प्रभु जो करा लेते हैं वही कर पाता हूँ। इससे अहंकार नहीं हो पाता है। (ता0 1–3–1989)

(905) सिद्धान्त यह है कि, पाप और पुण्य दोनों का क्षय हुए बिना परम पद नहीं प्राप्त हो सकता है। (ता0 1–3–89)

(906) "**पाप**"–निन्दा, रोग, अपमान और अभाव, भोगकर नष्ट होते हैं और "**पुण्य**"–प्रसंसा, सुख, सुविधा, सम्मान और पूजा, प्रतिष्ठा से नष्ट होते हैं। जब ये दोनों नष्ट हो जाते हैं, जीव तभी परम पद का अधिकारी हो पाता है। (ता0 1–3–89)

(907) भक्त के समस्त कर्म केवल श्रीभगवत् प्रीत्यर्थ ही होते हैं। न उससे पाप ही बनते हैं और न वह पुण्य–प्राप्ति की भावना से ही कोई कर्म करता है।

(908) यदि थोड़े से भी पाप बनेंगे, तो दुःख अथवा नरक

भोगना ही पड़ेगा। और यदि पुण्य बनेंगे, तो उसके परिणाम स्वरूप सुख या स्वर्ग भोगने के लिए जाना ही पड़ेगा।

(909) कर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है, मिटाया नहीं जा सकता। उदाहरण दिया श्रीजगन्नाथपुरी के भक्त श्री माधवदासजी का। उनको अतिसार (पतले दस्त) हो गये थे। तब उनका मल प्रक्षालन करने ठाकुर श्रीजगन्नाथजी ही आते थे, तब उन्होंने एक दिन ठाकुरजी से पूछा कि, आपको मेरा मल प्रक्षालन करने में बड़ा ही आनन्द आता है। क्या आप मेरे दस्तों को बन्द नहीं कर सकते ? उत्तर में श्रीप्रभुजी बोले कि, भईया माधवदास! इस संसार में मेरे अतिरिक्त तेरा कोई भी नहीं है, यदि होता तो इस समय सेवा कर रहा होता। इसीलिए मैं तेरी सेवा कर रहा हूँ। परन्तु तेरा प्रारब्ध तो तुझे ही भोगना होगा। यदि तू कहे तो मैं अभी तेरे ये दस्त भी बन्द कर दूँगा, परन्तु इनको भोगने के लिए फिर तुझे एक जन्म और लेना पड़ेगा। प्रारब्ध किसी भी कीमत पर मिटेगा नही, भोगना तुझे ही पड़ेगा, चाहे अब भोगले, चाहे और जन्म लेकर भोगले। ठाकुरजी की इस बात से माधवदासजी को पूर्ण समाधान मिल गया।

(910) चमत्कार के चक्कर में न पड़े। अपने काम में ही लगा रहे। धाम का वास, श्रीसद्गुरु की प्राप्ति, श्रीसद्गुरु का दृढ़ आश्रय, यह सब अपने मन को समझा दे।

(911) इन्द्रियों का आहार है बिषय चिन्तन। इनको आहार न दे। इनको आहार देने से मन प्रबल बनता है और न देने

से दुर्बल हो जाता है। सात्विकी बुद्धि के द्वारा बार–बार समझाने से दुर्बल मन बहिर्मुख होने से रुकता है। मन का पूर्णतया रुकना तभी सम्भव है, जब किसी महापुरुष में पूर्ण श्रद्धा होगी।

(912) सदाचार का पूर्ण–पालन होगा, तो मन पवित्र बनेगा।

(913) मन के न लगने पर भी नियमित रूप से निरन्तर साधन करता ही रहे। कारण कि, जैसे भोजन करने के समय पर यदि मन कहीं भी भगता रहे, तो भी पेट तो भर ही जाता है। भूख भी बुझ जाती है। वैसे ही बिना मन लगे यदि भजन साधन किया जाय, तो एक न एक दिन मन की चंचलता मिटकर ही रहेगी। अचल–शान्ति मिलेगी ही। इसी कारण नित्य नियमित रूप से भजन करते ही रहना चाहिए, हतोत्साही न हो। एक दिन वह आयेगा, जब मन प्रेम में डूब जायेगा। आऩन्द की बाढ़ छा जायेगी।

(914) श्रद्धा–विश्वास दोनों साथ–साथ चलते रहेंगे तो लक्ष्य की प्राप्ति अति शीघ्र ही हो जायेगी। जैसे श्रीशबरीजी से श्रीमतंग ऋषिजी कह गये कि, बेटी तेरी इसी कुटिया में श्रीराम आयेंगे और तुझे दर्शन देंगे। अपने सद्‌गुरुदेव के इन्हीं महावाक्यों पर पूरा विश्वास करके पूरी श्रद्धा से अपने ठाकुर के आने की हजारों साल तक प्रतीक्षा करते हुए साधना करती रहीं। एकबार भी अविश्वास और निरासा की छाया तक भी नहीं आने दी। इसी का नाम है श्रद्धा और विश्वास। अपने इन्हीं गुरुजनों से हमें भी यह सीख लेना

चाहिए। जब हम इन्हीं की सन्तान हैं तो अपने में भी समस्त सदगुण इन्हीं के जैसे होने चाहिए। (8–3–79)

(915) अपना काम समय रहते बना ले। जीवन का कोई भरोसा नहीं। (ता0 14–3–79)

(916) गृहस्थ रहते हुए ही इन बातों का पालन करले, तो वह सन्यासी ही है तथा उसको घर बैठे ही श्रीभगवत्प्राप्ति हो जायेगी। यदि उसको घर बैठ ही कन्हैया न मिले, तो हमारी जवान जप्त। जी आवे जो करके देखले। बात हैं ये–नं0 (1) अपनी गाढ़े परिश्रम की कमाई से ही अपना और अपने आश्रित जनों का पालन पोषण करे।

नं0 (2) जिसका पाणि ग्रहण किया हो, पूरे संसार में वही अपने लिए स्त्री है, अर्थात् एक पत्नीव्रत का पूरी सत्यता से पालन हो।

नं0 (3) यथा शक्ति दीन, दुखी, रोगी, अभाव ग्रस्तों की सहायता अर्थात् परोपकार।

नं0 (4) परधन छू न जाय।

नं0 (6) पर स्त्री छू न जाय।

नं0 (7) किसी का भी अहित करना तो दूर, मन से भी चिन्तन न करे तथा न किसी को किसी का अहित करने की सलाह ही दे।

नं0 (8) किसी महापुरुष का दृढ़तम आश्रय हो, साथ ही इनकी आज्ञानुसार बन जाय तो कुछ थोड़ा सा भजन और गुरुजनों की सेवा और करले। यदि ये बातें सत्यता से

पालन हो जायँ, तो सहज ही में सब खेल बन जायेगा। अर्थात् घर बैठे ही कन्हैया मिल जायेगा। (ता0 14–3–1979)

(917) मुमुक्षु साधक को चाहिए कि, वह कोई भी काम बन्धन का नहीं करे। यदि ऐसा हुआ, तो संसार में फिर आना ही पड़ेगा। प्यासे को जल पिलादे, परन्तु प्याऊ न खोले। भूखे को रोटी खिला दे, परन्तु अन्न क्षेत्र न खोले। सतत् सावधान ही रहे। किसी सत्कर्म के वहाने से भी प्रपंच में न पड़े। (ता0 26–4–1978)

(918) अपने से कोई पाप बन जाय, तो श्रीभगवान् से दण्ड भोगने की प्रार्थना ही करे, क्षमा याचना न करे।

(ता0 29–6–1978)

(919) पूर्ण–समर्पण के साथ ही भाग्य विदा हो जाता है।

(920) जीव मुट्ठी बाँधकर आता है और खोलकर जाता है। इसका अर्थ है यह कि, कुछ पूँजी कमाकर लाया था, वह सब इस संसार में गमाकर ही जाता है। (ता0 18–11–1978)

(921) धामवास और श्रीसद्गुरु–प्राप्त करके भी लोग प्रपंच में ऐसे फँसे पड़े रहते हैं कि, जहाँ से चले थे, आज भी वहीं के वहीं पड़े हैं। एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं। इसका मुख्य कारण है– अपने मन बुद्धि से ही काम लेना। जबकि उचित यही है कि सद्गुरु की प्राप्ति के उपरान्त अपने मन बुद्धि को तोड़ मरोड़कर कुआ में पटकर श्रीसद्गुरुदेव की आज्ञा से ही जीवन की एक एक स्वाँस जियें।

(922) यदि अपना काम पूरा नहीं करोगे, तो अपराध तो

बनेंगे ही। अपना काम है भजन।

(923) जो काम करें, पूरी सत्यता से, पूरी तत्परता से ही करें। कामना वासना कोई छू न जाय तथा अपने मन बुद्धि से न करें। किसी महदाश्रय से, उनकी आज्ञानुसार ही करें। तभी उत्थान हो सकता है।

(924) माया से महदाश्रय ही बचा सकता है। माया सिद्धों तक पर हाथ मार देती है, इसीलिए निरन्तर साधन में ही लगा रहे, जिससे प्रपंच तथा व्यर्थत्व को अवकाश ही न रहे और ना ही अपने को सिद्ध ही जँचावे।

(925) जब अकेले एकान्त में रहे, तब श्रीभगवत् स्मरण (भजन) ही करे। जब दो चार बैठे हों, तब श्रीभगवद्–गुणगान करे। और जब किसी सन्त के समीप बैठे हों, तो श्रीभगवच्च्चर्चा ही सुने। रामहिं सुमिरिय गाइअ रामहिं।

सन्तत सुनिय राम गुन ग्रामहिं।।

बस फिर क्या है छूट गया संसार और हो गया भव से पार।

(926) रोवे तो इनके लिए, हँसे तो इनके लिए, प्यार करे तो इनसे, लड़े तो इनसे ही। मानों हमारे लिए संसार में इनके अतिरिक्त कहीं कुछ और है ही नहीं। (ता0 24–3–1979)

(927) मन जन्म–जन्म का बिगड़ा हुआ है। धीरे धीरे शान्त होगा। साधना सम्बन्धी सभी उपाय मन के निरोध के लिए ही तो हैं।

(928) अपने को पूर्ण मानकर आलसी न बन बैठे, मनमानी न करने लग जाय, साधन न छोड़ बैठे। मन को हठ से

नहीं, पुचकारके, समझाके ही मार्ग पर लाये।

(929) इन्द्रियाँ ही मन को बिषयों का आहार देकर चंचल और बहिर्मुख बनाती हैं। इसलिए सतत् सावधानी पूर्वक अपनी समस्त इन्द्रियों को संयमित ही रखे।

(930) कुसंग से बचकर पूरी के साथ अपनी सद्गुरु प्रदत्त साधना में ही लगा रहे, तो कुछ समय भलेही लगेगा परन्तु मन बस में होकर ही रहेगा। (ता0 30–4–1979)

(931) अपनी ही कमी है। कमी खोजे। पूरी सत्यता से इनको दूर करने की चेष्टा करे तो सफलता अवश्य ही मिलेगी। (ता0 30–4–1979)

(932) ठीक ठीक पार तो दो ही जा पाते हैं– एक तो वह जिसको संसार की तनिक भी हवा न लगी हो और दूसरा वह जो पूरी तरह संसार को डूबकर देख चुका हो।

(933) दृढ़ बन्धन के पश्चात् ही मुक्ति सम्भव है। अर्थात् जो पूरी तरह संसार में डूबकर, इससे ऊबकर भगवान की ओर चलता है वही सच्चाई से आगे बढ़ता पाता है और अति शीघ्र ही अपनी मंजिल पा जाता है। क्योंकि वह फिर ना तो पीछे मुड़कर ही देखता है और नाहीं पीछे लौटता ही है। (ता0 30–4–1979)

(934) अधिकतर महापुरुषों के नित्य सान्निध्य में रहने वाले साधक, महापुरुष की आध्यात्मिक सम्पदा से बंचित ही रह जाते हैं और दूर रहने वाले श्रद्धालु पूरा लाभ उठा ले जाते है। कारण कि ये लोग परस्पर में तेजोमय द्वेष, धन और

मान प्रतिष्ठा की शिकार होकर आपस में एक दूसरे की टाँग खींचने में ही लगे रह जाते हैं। साथ ही अति सामीप्य से महापुरुष के प्रति महत्व बुद्धि का भी अभाव हो जाता है। इसलिए सन्त के समीप में बड़ी ही सावधानी से रहने की आवश्यकता होती है। (ता0 12–9–1979)

(935) इस संसार से अपने आपको चुपके से बचाकर निकाल ले जाय। अकेले ही आये हैं और अकेले ही जाना है। इसलिए दूसरे की ओर न देखे। (ता0 24–10–1979)

(936) **ब्रजवास की रहनी**–किसी से भी क्रोध विरोध न करे, किसी की निन्दा स्तुति न करे, कोई पाप न बनने पाये। बार–बार अपने मन को संसार से हटाकर इनमें (श्रीप्रभु में) ही लगाये रखे । अर्थात् न संसार का चिन्तन और ना संसार की चर्चा ही। फिर देखो आनन्द की बाढ़ छा जायेगी। जो कुछ भी करे, पूरी सत्यता से ही करे। पूरी सत्यता से वृत्ति को इनमें ही लगाये रखे, साथ ही निरन्तर इनका नाम जप करते करते इनकी याद में तड़फ तड़फकर, रोता रहे, जैसे इनके मथुरा चले जाने के बाद ब्रजवाला एवं समस्त ब्रजवासी जन, इनके लिए तड़फ–तड़फकर, रो–रोकर जीये, वैसे ही जीवे, यही है ब्रजवास की रहनी। बिना रहनी के धाम का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता है।

(ता0 3–4–1980)

(937) जन्म–दिन अथवा किसी विशेष उत्सव, पर्व, त्यौहार के मनाने का यही उद्देश्य होना चाहिए कि, उस दिन से

श्रीजीवनधन का स्मरण चिन्तन पूर्व की अपेक्षा अधिक बढ़ते ही जाना चाहिए। (ता017–3–1980)

(938) संकल्प तो बनेंगे ही। भलेही संसार के लिए बनें अथवा इनके लिए (भगवान के लिए)। अब अपना परम कर्त्तव्य है यह कि, जब भी कोई संकल्प बनें तो "केवल और केवल" इनके लिए ही बनें।

(939) किसी प्रेमी भक्त का जीवन पढ़े तो उसको पढ़कर यही संकल्प बनावे कि, मैं भी कभी ऐसा प्रेमी बनूँगा क्या ? गोपीयों का विरह देखकर संकल्प बनावे कि, कभी मुझे भी ऐसा विरह प्राप्त होगा क्या ? यशोदा माँ से माँगे कि, आपकी कृपा से कभी मेरा भी कन्हैया में ऐसा प्रगाढ़ प्रेम होगा क्या? (ता0 10–9–1981)

(940) **पाँच पुरुषार्थ:**–दृढ़तम श्रद्धा। कामना नास। पवित्रतम जीवन (अपने को निरन्तर सत्‌युग में ही रखना)। सतत् साधन में ही जुटे रहना। लक्ष्य श्रीभगवत्–प्रेम प्राप्ति। इस पथ के यही पाँच पुरुषार्थ हैं। श्रीभगवान् ने कृपा करके यह अलभ्य वानिक (मानव शरीर में सद् बुद्धि, सद् विचार देकर श्रीसद्‌गुरुदेव से मिला दिया) बनाया है तो अब न चूकें। (ता0 31–1–1980)

(941) यह दोनों बात जीवन में उतर आनी चाहिए। लक्ष्य श्रीभगवत्–प्रेम प्राप्ति और यह सम्पूर्ण जीवन केवल श्रीभगवत् प्रेम के लिए ही समर्पित। (ता0 2–9–1982)

(942) दवा रोग की है, भोग की नहीं। भोग तो भोगने से ही

मिटेगा। (ता0 2–9–1982)

(943) श्रद्धा माँ है। जो माँ की गोद में खेलता रहता है, उसे किसी भी हिंसक जानवर कुत्ता, बन्दर आदिक से कोई भी भय नहीं रहता। हाँ, यदि माँ की गोद से कूदकर दूर जा बैठा, तो सभी भय आ जायेंगे। इसी प्रकार श्रद्धा माँ की गोद में खेलता रहेगा तो किसी भी विकार रूपी कुत्ते की सामर्थ्य नहीं कि चोट कर जाय।

(944) श्रद्धा दृढ़ रहते सब सद्‌गुण स्वतः ही आ जाते हैं। इस मार्ग में मुख्य है श्रद्धा। श्रद्धा ही मूल है, श्रद्धा ही साधन है–

(945) "श्रद्धया सत्य माप्यते" (वेद)।

अर्थात् श्रद्धा से "सत्य" श्रीभगवान प्राप्त होते हैं।

(946) "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः"।

(श्रीगीताजी)

अर्थात् श्रद्धावान को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और वही अपने कर्त्तव्य पालन में ठीक ठीक तत्पर रह पाता है तथा वही इन्द्रिय संयम कर पाता है।

(947) श्रद्धा से अहंकार का नाश होता है, साथ ही दैन्य की प्राप्ति होती है। उपासना में दैन्य ही प्रधान है।

(948) प्रेम छिपाने की वस्तु है, प्रकट करने की नहीं।

(ता0 12–4–1983)

(949) दूर रहकर चिन्तन करने से जितना भाव बढ़ता है, उतना समीप में रहने से नहीं। (ता015–5–1983)

(950) महात्मा गाँधी के जीवन में सत्य और अहिंसा की प्रधानता रही। इन दोनों बातों ने ही उनको इतना ऊँचा उठा दिया था। यही बात प्रेम–पथ में है। यहाँ भी सत्य और अहिंसा की परमावश्यकता है।

(951) तीन चार बातें हैं–इस पथ में लगे, तो पूरी सत्यता से ही लगे। किसी महापुरुष की आज्ञा से लगे, अपने मन से नहीं। जो कुछ करे, केवल इनके लिए ही करे, संसारी कामना से नहीं। बस इतने से ही काम बन जायेगा।

(ता0 19–5–1983)

(952) स्त्री, धन, मान–प्रतिष्ठा और अच्छे भोजन में ही जीव फँसकर रह जाता है। जब तक साधक इनसे ऊपर नहीं उठता, तब तक आगे नहीं बढ़ सकता।

(953) श्रीभगवान् सत्यरूप हैं। उनकी प्राप्ति के लिए सत्यरूप साधन की ही आवश्यकता है। श्रीभगवान पर किसी भी युग का कोई भी प्रभाव लागू नहीं होता। वे बदलते भी नहीं हैं। जो श्रीभगवान सत्युग में प्रह्लाद के लिए थे, वे ही आज भी हैं। हाँ, आवश्यकता है सच्ची चाह की। (ता0 16–6–1983)

(954) हम तो कर्म पर बहुत विश्वास करते हैं। जैसे अपने कर्म होंगे, वैसा ही फल भोगना पड़ेगा।

(955) चमड़ी और दमड़ी जीव को ऊपर से नीचे खींच रहे हैं। इनसे सर्वथा बचता रहे।

(956) संसारी कामना और अहंकार ही संसार में भ्रमण के मूल हैं। ये अपने को छू भी न जायँ। (ता0 30–6–1983)

(957) **प्रश्नः**—सभी सन्त और शास्त्र सर्वत्र श्रीभगवद्—दर्शन (श्रीभगवद्भाव) करने पर जोर देते हैं, किन्तु आपके श्रीमुख से यह बात कभी भी कहते नहीं सुनी गई।

उत्तरः—यह तो एक अवस्था है, जो करनी नहीं पड़ती, होती है। सर्वत्र श्री भगवद्भाव की प्राप्त हो, इसके लिए प्रारम्भिक साधन है—"मानिय सबहिं राम के नाते" अर्थात् सबके साथ भगवत् सम्बन्ध से ही व्यवहार करे और सबके प्रति आत्मवत् प्रेम, सेवा, सहानुभूति, हित चिन्तन तथा सुख की भावना, किसी के प्रति बैर, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और क्रोध न रहे तथा श्रीसद्गुरु भगवान की आज्ञानुसार पूरी—सत्यता, पूरी—तत्परता पूर्वक जीवन पवित्रतम बनाते हुए निष्काम भजन करता रहे तो कालान्तर में यह एक अवस्था आती है, जहाँ पहुँचकर स्वयमेव सर्वत्र श्रीभगवद्भाव दृढ़ हो जाता है, करना नहीं पड़ता है।

(958) **साधक के लिए परमावश्यक निर्देश**

जो नियम अभ्यास में आ गये हों, उनमें प्रमाद न होने पाये। प्रत्युत आगे बढ़ने का ही प्रयत्न रहे।

(959) जो नियम कष्ट साध्य प्रतीत होते हों, उनमें अधिक प्रयत्न करना। निराश नहीं होना।

(960) असाध्य तो प्रतीत होने ही न पायें, वस्तुतः असाध्य तो कुछ है ही नहीं। श्रीसद्गुरु कृपा, और श्रीप्राणनाथ की कृपा तथा अपना पूर्ण—प्रयत्न हो तो असाध्यता का अभाव ही हो जाता है। अर्थात् कठिनाई एकदम ही मिट जाती है।

(961) हाँ, सबसे कठिन, प्रत्युत असाध्य सम है– विचार। किन्तु यह भी अनुभव हुआ कि, प्रतिपक्ष भावना से थोड़ा सा जोर लगाते ही विचार धारा मुड़ पड़ती है।

(962) समझाने से तथा प्रतिपक्ष भावना से निकृष्ट विचार रुक जाते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसको विशेष रूप से देखता रहे।

(963) वास्तव में बात तो यही है कि, जिस क्षण पूर्ण प्रयत्न से वाणी, श्रवण तथा मन ये सबके सब भजन में लग जाते हैं। ठीक–ठीक भजन तो उसी क्षण होता है। अब हमें यही प्रयत्न बढ़ाना चाहिए कि, इस बिधि का भजन दिन में बिशेष मात्रा में होना चाहिए। बस केवल इसी बिधि के पालन से इन्द्रियों पर विजय तथा मनःसंयम यह दोनों आनुसंगिक होने लगेंगे। हाँ, परमाह्लाद् का लाभ होगा, सो ब्याज में।

(964) वास्तव में इन्द्रिय–संयम ही तो मनःसंयम है। यद्वा मनःसंयम का मूल है।

(965) श्रीसद्गुरु भगवान् का महा महावाक्य है कि–"जो लोग मन को तो संयमी बनाना चाहते हैं, किन्तु इन्द्रियों को मन माना छोड़ देते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं"।

(966) साधक को प्रतिक्षण, प्रति चेष्टा में सावधान रहना चाहिए। मन की गति पर निरन्तर दृष्टि रखनी चाहिए।

(967) समस्त क्रियायें संयम के अन्तर्गत ही होनीं चाहिए। आहार, चलना, फिरना, बोलना, संकेत करना, लिखना, एवं

विचार उठाना ये समस्त संयम के साथ ही बर्ते जायँ, सो भी सुतुदीर्घ काल तक। तब सत्वगुण स्थायी होता है, तदनन्तर क्रमशः उत्थान। (समय 12:16 रात्रौ)

(968) प्रथमावस्था में–इन्द्रियों के द्वारा श्रीभगवत् सबन्धी वस्तुओं का सादर ग्रहण करना श्रीभगवत् स्मरण में ही माना जाता है। यथा– जिह्वा से लय के साथ नाम–जप हो, साथ ही श्रवण सुनें तथा मन आनन्द का अनुभव करे। यह श्रीभगवत् स्मरण ही है। कारण कि–नाम और नामी एक ही वस्तु माने जाते हैं। स्थूल रूप में यदि हाथ श्री प्राणनाथ की सेवा में लगे हों तो यह श्रीभगवत्–स्मरण में ही माना जायेगा। यद्यपि हस्त कर्मेन्द्रिय हैं और इनका कार्य साधारण ही माना जाता है, तो भी श्रीभगवद् एक ऐसी विलक्षण वस्तु है, जहाँ साधारण भी प्रधान हो जाता है।

(969) श्रीनाम का श्रवण श्रीभगवत्–स्मरण से भी कुछ अधिक ही समझना चाहिए। लय के साथ श्रीनामोच्चारण तथा श्रवण से श्रवण, साथ ही मन में आह्लाद् हो, तो इस अवस्था को मैं समाधि के तुल्य ही मानता हूँ।

(970) देह तथा देह सम्बन्धी वस्तुओं को भूल जाना, मन में अपार आनन्दरस का प्रवाह बहना, यह श्रीप्राणनाथ के सान्निध्य के समान ही तो है। वस्तुतः सान्निध्य ही है।

(971) बुद्धि का निश्चय है कि, श्री नामाश्रय ही समस्त साधनों का चरम फल है। यही श्री प्राणनाथ की प्राप्ति है, मिलन है।

(972) समस्त साधनों का फल श्रीप्राणनाथ का सान्निध्य, सान्निध्य का फल विप्रयोग।

(973) साधक का परम कर्त्तव्य साधन, उसका फल सिद्धि–श्री भगवत्–प्राप्ति। उसका भी फल विप्रयोग (वियोग)।

(974) साधक की कर्त्तव्यता साधन में, सिद्धि का चरम फल सान्निध्य। सिद्धि परवर के लिए–विप्रयोग।

(975) इस तत्व के जानकारों ने सबका चरम फल विरह माना है।

(976) सन्त श्रीकबीरदासजी के शब्दों में:—–

दो0:–विरहा विरहा मत कहौ, विरहा है सुलतान।
जा घट विरह न संचरै, सो घट जान मशान।।

(977) श्रीप्राणनाथ की अन्तिम देन है अपना विरह।

(978) **हम लोगों का धनतेरस उत्सव**–भजन हो जाना, नियम पालन हो जाना, संयम की अखण्ड पूर्णता हो जाना, तदनन्तर श्री प्राणवल्लभ की ओर अन्तर्वृत्ति। तदनन्तर– श्रीप्राणनाथ का सान्निध्य। प्रेमालाप। संसार विस्मृति। प्रेमपूर्वक सेवा। तब विरह।

(979) दो0:–कब दुखदाई होयगो, मोकूँ विरह अपार।
सघन कुंज बन धाइहौं, कहि कहि नन्द कुमार।

इस दोहा की एक माला जप नित्य ही कर लेनी चाहिए।

(980) हमारे पूर्वजों ने इस बात पर बहुत ही जोर दिया है कि, यदि नाम, रूप, लीला तथा धाम, इन चारों में से किसी एक में भी मन लग जाय, तो जीवन की सफलता मान लेनी

चाहिए। किसी परम भग्यवान का यदि चारों में लगने लगा हो तो कहना ही क्या ?

(981) नाम और नामी के अभेद से श्रीनाम का निरन्तर जिह्वा पर विराजना, सान्निध्य ही है,। हमें इसी का विशेष अभ्यास बढ़ाना चाहिए तथा यही विश्वास भी रखना चाहिए कि इसी में जीवन की सफलता है।

(982) नाम में अनुराग होने लगे, सान्निध्य की इच्छा होने लगे, तो बहुत ही अच्छी बात है। यह अवस्था भी श्रीनाम की कृपा से ही प्राप्त होती है। इनमें कोन छोटा है, कोन बड़ा है, इस चक्र से हमें बचना चाहिए।

"को बड़ छोट कहत अपराधू"।

(983) सबके लिए भी यही तथ्य है, यह तो नहीं कह सकते, परन्तु अपने लिए तो हमें यही बात तथ्य की जँचती है कि, श्रीब्रजभूमि में निवास रहे। सन्त महात्मओं में पूज्य भाव रहे। श्रीब्रजरज में भाव रहे। जहाँ तक हो सके, इन्द्रियों को कुपथ में गिरने से बचाता रहे तथा प्रयत्न करता रहे, मन के संशोधन का और सर्वतोभाव से दृढ़ता के साथ पूर्ण आश्रय रहे श्रीहरिनाम का। विश्वास रहै कि, इसके आगे जो कुछ भी होगा, वह परम कल्याणप्रद ही होगा। हाँ मनुआँ नहीं मानें, दुलारे कन्हैया से अटकता ही रहे, तो सौभाग्य ही समझना चाहिए।

(984) स्मृति तथा सान्निध्य ये अन्योन्याश्रित हैं। हमारा परम–कर्त्तव्य है–स्मृति। जिस क्षण प्राणप्यारे दुलारे कन्हैया

से कुछ बतरा लेता है, विनोद कर लेता है, उस क्षण तो ऐसा जान पड़ता है कि—परमानन्द में डूबकर मन कुछ हलका सा हो गया हो।

(985) सर्वतोभाव से हमारे विचार, नियम, साधन तथा क्रियायें सब ठीक ही हैं। यह तो श्रीसद्गुरु भगवान्—बूढ़े बाबा जानें अथवा हमारा छोटा सा मुनमुनियाँ, श्रीनन्दबाबा के आँगन में ठुमुक—ठुमुक नाँचता हुआ, माता श्रीयशोदाजी की आँखों का तारा, दुलारा ही जानें। ये दोनों मुझे जहाँ अटका देते हैं, मैं तो वहीं अटका रहता हूँ।

(986) **प्रश्नः**—श्रीभगवत् सान्निध्य का स्वरूप क्या है?

उत्तरः—श्रीप्राण—प्रियतम हमारे सम्मुख विराजि रहे हैं। भावुक अपनी भावना से यही कल्पना करे? समक्ष में खड़े हैं अथवा उच्चासन पर आसीन हैं। उस समय श्रीजीवनधन के श्रीमंगल विग्रह के दर्शन करे। दास—भाव में सर्वप्रथम तथा विशेषतया श्रीचरणारविन्दों के दर्शन। और वात्सल्य—भाव में प्रथम तथा विशेषतया श्रीमुखारविन्द के दर्शन। तदनन्तर समस्त भाव वालों को क्रमशः समस्त श्रीअंगों के दर्शन। श्री हस्त कमल एवं वस्त्राभूषण आदिकों के दर्शन। भावुक अपने को इनके सम्मुख की भावना करे। ये समस्त कार्य केवल मन के ही हैं—मन ही कल्पना करता है, मन ही देखता है, मन ही छूता है, मन ही सेवा करता है, मन ही बतराता है, मन ही समीप का अनुभव करता है तथा मन ही विप्रयोग की कल्पना करता है। यह कल्पना—राज्य है। सब
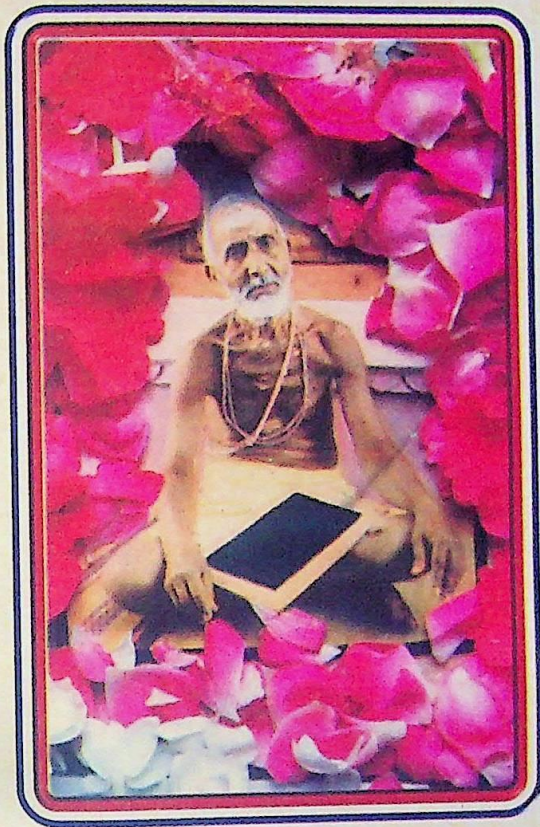
पूज्यपाद श्री पंडित जी मौन मुद्रा में

कुछ कल्पना करनी पड़ती है। मानो ऐसा हो रहा है। प्रदक्षिणा में जब हम मानसी प्रदक्षिणा करते हैं, तब मन के द्वारा कल्पना ही तो करनी पड़ती है। सभी स्थानों के दर्शन ज्यौं की त्यौं होने लगते हैं। इसी प्रकार से कभी कभी हम किसी के विषय में सोचने लगते हैं, वह हम में बड़ी श्रद्धा करता है। वह हम से मिलता तो है, किन्तु उसके काम दिखाऊ मात्र हैं। वह हमारी पीछे से निन्दा करता है। वह हम से द्वेष करता है इत्यादि। भिक्षा में–हम आज जहाँ जायेंगे ,उनका घर, उनके घर के मध्य में हम जिस स्थान पर बैठेंगे। वे ऐसा आसन विछायेंगे। पत्तल इस ढंग से परोसेंगे। साग ऐसे बने हैं। रोटी ऐसी बनी हैं–वे इस ढंग से कह–कहकर बड़े आग्रह से एक–एक वस्तु देते हैं। वे धीरे से बड़े आदर से परोसते हैं। वे ऊपर से बड़े जोर से पटक देते हैं। उनका भाव उत्तम है। वे करते तो हैं, किन्तु परन्तु, लेकिन आदि–आदि–यही सान्निध्य है। जब हम किसी स्थान के विषय में सोचने–विचारने लगते हैं, तब वह स्थान तथा उसकी सभी वस्तुएँ हमारे समक्ष में ही आ जाती हैं। यद्यपि न हम वहाँ गये और न वह स्थान हम पर उठकर आवे। केवल कल्पना ही तो है। जब हम किसी व्यक्ति के विषय में कुछ सोचने लगते हैं, तब वह व्यक्ति ज्यौं की त्यौं दीखने लग जाता है। उसकी प्रकृति, मुद्रा, तथा वस्त्रादिक सभी की कल्पना मनुआँ करने लग जाता है। (987) किसी विषय के चिन्तन से अन्तःकरण उसकी ओर

बहने लगता है। उसका हित चाहने लगता है, यह राग है।

(988) किसी का स्मरण आते ही मनुआँ मुँह फेर लेता है। बोलना बतराना ही नहीं अपितु देखना भी नहीं चाहता है। उस समय अन्तःकरण कठोर होने लगता है। यदि उस समय दर्पण में देखें, तो अपना मुख उदास, फीका तथा कुछ कठोरता लिये दीखेगा, यही घृणा है।

(989) किसी के स्मरण आते ही चित्त क्षुब्ध हो जाता हो। उसकी ओर देखना बुरा लगता हो, उसका अनिष्ट सोचने लगता हो, उसकी प्रशंसा सहन नहीं होती हो। प्रत्युत उसकी निन्दा एवम् संकटकालीन अवस्था से नींच मनुआँ कुछ प्रसन्नता मनाने लगता हो—इत्यादि यही द्वेष है।

(990) वास्तव में हमारे समीप इनमें से कोई है नहीं, वह अपने स्थान में है और हम अपने स्थान में हैं। तो भी मनुआँ सब एकत्रित कर लेता है—यही तो सान्निध्य है। हमें चाहिए कि, इसी कल्पना को केवल अपने श्रीजीवन सर्वस्व में करने लगें।

(991) **प्रश्नः**—सान्निध्य अनुभव के समय साधक की कैसी स्थिति रहती है ?

उत्तरः—इसका ठीक—ठीक उत्तर तो यही है कि, सान्निध्य प्राप्त करके देख लो। अथवा कम से कम उस स्थिति का अंश मात्र भी अनुभव करके देख लो, फिर देखना अपने अन्तःकरण की स्थिति, कैसी हो जाती है ? समस्त खेल ही परिवर्तित हो जाता है। न यह सृष्टि ही रहती है और न ये

हम ही रहते हैं। नयी सृष्टि, नयी रचना, नयी उमंग, नया उत्साह, सब कुछ नवीन ही नवीन हो जाता है। हम भी नूतन ही बन जाते हैं। जब तक हमारा सम्बन्ध प्रकृति महारानी से रहता है, तब तक सुख–दुख, मान–अपमान, हानि लाभ एवं संयोग–वियोग, आदिक प्रकृति के पदार्थों और द्वन्दों का अनुभव होता है। प्रायः अशान्ति ही रहती है। यदि कदाचित शान्ति का आभास मात्र भी यत्किंचित प्रतीत होता है, तो वह केवल अशान्ति की स्थिरता की दृढ़ता के लिए ही होता है। वस्तुतः प्रकृति राज्य में कहीं भी, कैसे भी, कभी भी, शान्ति का नामोनिशान है ही नहीं। सर्वथा, सर्वदा उद्वेग, प्रपंच, क्रूरता, द्वेष, हिंसा तथा अपराध आदिक ही हाथ लगते हैं। इनके विस्तार की आवश्यकता ही नहीं, कारण कि, ये तो विश्व में दशों दिशाओं में व्याप्त हो ही रहे हैं। अब रही श्रीप्राण–प्रियतम के सान्निध्य के अनुभव समय की स्थिति। तो कौन कहे ? कौन सुने ? कौन मनन करे ? और कौन इस आनन्द को भोगे ? तथा कौन भाग्यशाली मेरे दुलारे का दुलारा इसके वियोग में जल मरे ? यह केवल अनुभवगम्य ही है–मेरे ऊधमी की देन है। मेरे प्राणधार का प्रसाद है। मेरे खिलोना का खेल है। भोगना समय आने पर। रोना भरपेट और क्या रखा है यहाँ ?

श्रीगरुड़ भगवान के प्रश्न के उत्तर में मेरे खिलोना के खिलौना, (श्री कागभुसुण्डिजी) कहने लगे–

सुनहु तात यह अकथ कहानी।

समुझत बनइ न जात बखानी।।

हाँ, इतना तो जान ही लेना चाहिए, जिससे भविष्य में उत्साह सम्बर्द्धन हो कि, इस स्थिति में परम शान्ति, परम सुख, परमानन्द तथा परमोद्वेग होता है।

दो०:–तन थिर मन थिर बचन थिर, और सुरति थिर होय।
कह कबीर ता पलक कूँ, कलप न पावै कोय।।

बस कभी इस स्थिति का लाभ उठाने की प्रबल उत्कण्ठा जगावे, लालसा की तीव्रता करे, अप्राप्ति की असह्यता बढ़े, कहो तो सच्ची बात कह दूँ ? अपनी पूरी कमायी खर्च कर डालो। सारी अण्टी खाली कर डालो। हाँ, तब कहीं इस हठीले की (कन्हैया की) हठ हटेगी। यह बड़ा हठीला है, पूरा ऊधमी है, यह कभी मत भूलना ? एकान्त स्थल, केवल एकाकी, नीरवता, मस्तिष्क चिन्ता रहित, मन में अधिकाधिक उत्साह होना चाहिए।

इस स्थिति के लाभ के लिए शान्ती से शनैः शनैः अपने मन को श्री गोकुल ग्राम में श्रीनन्दबाबा के आँगन में पहुँचाओ। यह बात मत भूल जाना, इस ग्राम की शोभा भी देखते चलना ? यहाँ के निवासीयों के दर्शन लाभ से भी मत चूकना। इस घर की शोभा भी निहारते चलना। अब आया आँगन। बस वहीं खेलता हुआ छोटा सा खिलौना।

रुचि के अनुसार सान्निध्य अनुभव के अनेकों प्रकार हो सकते हैं। कल्पना करो कि, श्रीजीवनधन के मिलन की आशा दीर्घकाल से लगाये हुए चलते आ रहे हैं। साधन के

द्वारा इस आशा लता को सिंचन करते आ रहे हैं।

अँसुअन जल सींचि–सींचि प्रेम बेलि बोई।

किन्तु– अब तो बेलि फैलि गई जाने सब कोई।

(पगली मीरा)

क्रमशः यह आशा बाढ़ में आने लगी, उत्कण्ठा प्रबल हुई, मिले बिना, देखे बिना। तब अन्तःकरण तथा सौभाग्यशाली नेत्रों में प्रबल ज्वाला बढ़ने लगी।

त्रुटिर्युगायते त्वा मपश्यताम्–

"तुम्हें देखे बिना युग के युग बीत गये नन्दलाल"।

अधीरता बढ़ी–श्रीप्राण प्रियतम खिंचे हुए चले आये। पधारे, श्रीचरणारविन्दों के नूँपुरों की ध्वनि सुनाई पड़ी। प्रेमी अधीर होकर श्रीचरणारविन्दों में गिरि पड़ा। आँसुओं की धारा बह चली। श्रीप्राण प्रियतम ने उठाकर चिपका लिया छाती से, आँसू पोंछे। पागल, अनिमेष नेत्रों से दर्शन कर रहा है। बहुत दिनों की भूखी अँखियाँ निहार रही हैं–अपने दुलारे को। एक उच्चासन पर विराजि रहे हैं, मैं सेवा कर रहा हूँ इत्यादि।

यह प्रसिद्ध है ही कि, कमल का मुख बन्द रहता है, किन्तु अपने परम प्रियतम श्रीसूर्य भगवान के दर्शन करते ही विकसित हो उठता है। प्रफुल्लित हो जाता है। कुमुदिनी श्रीचन्द्रभगवान के दर्शन से खिल उठती है। पाषाण के समान कठोर शीतकाल का घृत अग्नि के सान्निध्य में पिघलिकर बहने लगता है। कठोरता त्यागकर द्रव हो

जाता है, रूप बदल जाता है, स्थिति भी परिवर्तित हो जाती है। पतिव्रता! चिरविरहिणी अबला! अपने श्रीप्राणनाथ के आगमन मात्र से विरहाग्नि से मुक्त हो जाती है। अन्तःकरण कमल सा खिल उठता है। दर्शन करके, सेवा करके, तथा बोल बतराके कैसी हो जाती है ? अनुभव करने के योग्य हैं ये स्थितियाँ।

(992) **प्रश्नः**—अनुभव कैसे प्राप्त होता है ? अथवा कैसे किया जाता है ?

उत्तरः—माली वृक्षारोपण करता है। सिंचन करता है। सर्व प्रथम वृक्ष के योग्य भूमि तैयार करता है, खाद देता है। दीमक, बकरी तथा भैंस आदिकों से वृक्ष के मूल,पत्र तथा समस्त अंगों की रक्षा करता है। उष्णकाल में तथा शीतकाल में सब प्रकार का बचाव करता रहता है। मालाकार के ये उपाय कार्य हैं। अब वृक्ष का सम्बर्द्धन, पल्लवित होना, पुष्पित हाना तथा फल से सुशोभित होना, ये सब स्वतः ही समय पाकर होते हैं। ये कार्य मालाकार के बस की बात नहीं। हाँ, यही आशा उस विचारे को अपने कर्त्तव्य में लगाये रखती है। प्रमाद का अवसर ही नहीं आने देती है।

एवमेव —मालाकार = साधक।
वृक्षारोपण = साधन का प्रारम्भ।
भूमि संशोधन = गुरुजन सेवा, पुण्य दान, तथा परोपकार आदिक।
सिंचन = सत्संग, स्वाध्याय।

खाद = सात्विक विचार।
दीमक = अश्रद्धा और तर्क।
बकरी = विषय भोग यद्वा विषय चिन्तन।
भैंस = महदपराध।

रक्षा= स्त्री आदिकों से सर्वथा बचाव। प्रपंचों से पृथक रहना। व्यर्थत्व का निराकरण आदिक। ये कर्त्तव्य हैं साधक के–प्राणपण से प्रमाद रहित होकर अपने परम–कर्त्तव्य (साधन) में निरन्तर जुटा ही रहे।

बृक्ष सम्बर्द्धन = साधन का दीर्घकाल पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्साह पूर्वक होते रहना।

पल्लवित होना = साधन में रुचि, उत्साह, तथा सुख का अनुभव।

पुष्पित होना =भाव–राज्य में शनैः शनैः प्रवेश–यह मेरे इष्ट हैं, पूज्य हैं, माननीय हैं, आराध्य हैं, सर्वस्व हैं, प्राणनाथ हैं, प्राण प्रियतम हैं एवं प्राणप्यारे दुलारे हैं, अपने ही हैं।

फल से सुशोभित होना=अन्तःकरण में इनके मिलन की चटपटी, यदा–कदा आह्लाद्, खिन्नता, अन्तःकरण का इनकी ओर तीव्र बहाव। यदा–कदा झलक मात्र। ध्यान, स्मरण, चिन्तन। स्वप्न में दर्शन मिलन का आभास। समीप में ही विराज रहे हैं आदि आदि। जो बात होने की हैं, वे तो समय पर ही होंगी। साधक को तो अपने करने की बात में ही लगे रहना चाहिए। "पाय समय जिमि सुकृत सुहाये"।

तब ही ठीक–ठीक सारे प्रश्नों का उत्तर मिल जायेगा। जो काम श्रीप्राणवल्लभ के करने का है, उसको ये जानें, साधक तो मालाकार को आदर्श बनाकर यथाशक्ति–यथामति साधन, नियम–पालन, उत्साह, पूर्णआशा तथा शनैः शनैः अन्तःकरण के लगाने में ही जुटा रहे। वास्तव में यह अवस्था लक्ष्य में है। अपना विचार तो सर्वथा यही रहे कि–(कर्त्तव्य पालन में तत्परता) अर्थात् प्रमाद न होने पाये। इसी से अन्तःकरण उठने लगता है। अग्रिम समस्त स्थितियाँ क्रमशः स्वतः ही उपस्थित होती हैं। साधक का परम कर्त्तव्य केवल साधन।

(993) प्रस्तुत विषय है सान्निध्य का। यह स्मरण रहे कि, ये क्रमशः पालन करने पड़ेंगे, तभी ठीक बैठ सकेंगे।

(1) व्रत–भूमिका (सावधानता)।

(2)व्रत–इन्द्रिय संयम (उनमें भी विशेषता दृष्टि–संयम की)।

(3) व्रत–विषय सम्बन्धी व्यर्थ संकल्प न उठने पायें तथा अन्य व्यक्ति के विषय में भी कोई संकल्प न बनने पाये।

(4) व्रत–बुद्धि सदा मन को सँभालती रहे।

ये समस्त कार्य क्रमशः होंगे, जैसे सीढ़ी चढ़ना। तब यह अवस्था आयेगी 5 वें व्रत की।

(5) वें व्रत में–अपने सम्मुख अपने श्रीप्राणधार के विराजने की कल्पना तथा अपने भावानुसार अपने को श्रीप्राणप्रियतम के सान्निध्य में कल्पना करनी तथा भावानुसार सेवा तथा प्रेमालाप बढ़ाना।

(994) ठहरो मत जाओ, इसके दो अर्थ हैं। ठहरो मत, जाओ। अर्थात् कोई सत्कार्य हो तो ठहरो मत, जाओ अर्थात् रुको मत, आगे बढ़ो और उसे तुरन्त कर डालो।

और यदि कोई दुष्कर्म है तो ठहरो, मत जाओ। अर्थात् रुको, सोचो, समझो और मत करो।

(995) साधक शास्त्रों के जाल से भी बचे। इनमें वाक्य अधिकारी भेद से हैं। यदि कोई वाक्य ऐसा पढ़ने में आ गया कि, जिससे अपने श्रीसद्गुरु आदेश का खण्डन होता हो, तो अपनी निष्ठा के लिए घातक बन जायेगा। यदि अपनी निष्ठा मजबूत रही, तब तो हानि की आसंका कुछ कम रहेगी, परन्तु यदि निष्ठा प्रारम्भिक रही तो तुम्हें तुम्हारे मार्ग से उखाड़कर कोशों दूर फैंक देगी। इसलिए साधक को साधना काल में अधिक ग्रन्थ पढ़ने से बचना चाहिए। शास्त्र निष्ठ की अपेक्षा सद्गुरु निष्ठ ही बनना चाहिए।

(996) चंचलता तो वास्तव में तभी मिटेगी, जब श्रीजीवन सर्वस्व सम्मुख होंगे। विषयी की चंचलता विषयों से। साधक की चंचलता–साधन बाहुल्य से। प्रेमी की चंचलता इनके न मिलने से।

(997) इन्द्रियों पर (सबसे अधिक दृष्टि पर) पूरा अधिकार रहे। धीरे–धीरे मन को सँभालता रहे और बहुत धीरे–धीरे अभ्यास करे सान्निध्य का। यथा–धरती पर सिर रखकर अनुभव किया कि, श्रीप्राणनाथ के छोटे छोटे श्रीचरण कमलों में सिर रखा है। अपने दोनों हाथों से श्रीचरणारविन्द पकड़

रखे हैं–ये है सान्निध्य। कोई वस्तु भोज्य पदार्थ हाथ में लिया और साथ ही भावना करो कि, श्रीलाढ़िली लाल उठाकर पा रहे हैं–ये है सान्निध्य। प्रसादी समझकर वही वस्तु अपने मुख में दे दी ये है आनन्द।

(998) सारे सगुण उपासक–आचार्य तथा भक्तों का एक ही सिद्धान्त है–नाम रूप लीला और धाम–इन चारों में से किसी एक का दृढ़ आश्रय कर लेना, बस इसी से सब सिद्ध हो जाता है। अपने विचार से अपनी सामर्थ्य देखते हुए श्री नाम का दृढ़ आश्रय लेना ही सुगम, अच्छा एवं रुचिकर प्रतीत होता है। श्रीब्रज का वास भी अभीष्ट है। इस प्रकार से दोनों का आश्रय तो दृढ़ता से होना ही चाहिए। अर्थात् निरन्तर श्रीनाम भगवान जिह्वा पर विराजते रहें तथा भौतिक शरीर श्रीब्रजरज में पड़ा रहे। अब अन्तर्मुखता के लिए स्वरूप का ध्यान, स्मरण, सान्निध्य, प्रेमालाप, परमाह्लाद, प्रणाम तथा सेवा आदिक साथ ही अपने भाव के अनुसार लीलाओं का चिन्तन। दृढ़ता के साथ इन दोनों को पकड़े रहे, एक तो श्रीनाम और दूसरे श्रीधाम। इनमें पूर्ण–प्रयत्न के साथ नियम–पालन होना चाहिए। शेष दो (लीला और रूप) तो आसन्न सिद्धावस्था में ही होते हैं। रूप तो एक प्रकार से फल है। श्रीनाम और श्रीधाम का निरन्तर आश्रय तथा रूप का यथावसर चिन्तन एवं सान्निध्य का प्रयत्न करना ही उचित है।

(999) श्रीमहदाश्रय, श्रीनामजप, श्रीब्रजधामवास, श्रीप्राणनाथ

का सान्निध्य तथा प्रेमालाप की निरन्तर अनुभूति।

(1000) सतत् स्मरण रखें कि, संकल्प, इच्छा तथा विचार आदिक सभी परम संयम के अन्तर्गत ही हों।

(1001) **प्रश्नः**–"दास" भाव में हँसना, खेलना कैसे?

उत्तर:–अन्तःकरण के अव्यक्त भाव का व्यक्तिकरण ही शब्द है। इस न्याय के अनुसार मेरे शब्दों में प्रायः वात्सल्य की झलक ही रहती है। मुख्य बात तो यही है कि–

"सब कर फल हरि भगति भवानी"

यहाँ श्री शंकरजी के "हरि भगति" वाक्य से अनुरागात्मिका भक्ति का ही निर्देश है। प्रारम्भ में वैधी भक्ति का अनुष्ठान किया जाता है। वैधी का अर्थ है–विधि सहित। यह करना, यह नहीं करना, यह बिधि निषेध है। जैसे कि, हम लोग कर रहे हैं। किन्तु आगे बढ़ने पर यही भक्ति अनुरागात्मिका हो जाती है, जो सबका फल है। अर्थात् अपने इष्ट में अनुराग–प्रेम उत्पन्न होने लगता है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

वैधी भक्ति = साधन,

और अनुरागात्मिका भक्ति= परिणाम (फल)।

वास्तव में सभी साधन–नियम आदिकों का कठोर पालन इसी अवस्था के लिए है। मेरा कुछ व्यक्तिगत विचार ऐसा है, इसमें सत्यता कहाँ तक है, यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु मेरी मान्यता कुछ ऐसी ही है कि, दासभाव में भी आगें चलकर घनिष्टता हो जाने पर हँसना–खेलना सम्भव हो जाता हो। हाँ, यह बात अवश्य है कि, वात्सल्यभाव के

हँसने, खेलने, पुचकारने, दुलारने में और दासभाव के हँसने, खेलने दुलारने में कछु अन्तर तो अवश्य ही रहता है। किन्तु मैं तो दासभाव की परिपक्वावस्था को ही वात्सल्य मानता हूँ। अन्तःकरण के निःसंकोच होने से अत्यन्त घनिष्टता (आत्मीयता) होना स्वाभाविक है। इसी अवस्था में यह सब हो ही जाता है। यह विषय स्वसंवेद्य (अपने अनुभव करने का ही) है। इसमें विशेष शब्दाडम्बर काम नहीं देता।

(1002) **प्रश्नः**– अनिवार्य श्रुति को कैसे रोका जाय ?

उत्तरः– ऐसे अवसर पर उस स्थान से शीघ्रता से हट जांय। अवसर हो तो जोर–जोर से श्रीभगवन्नाम उच्चारण करने लगे। अपनी वृत्ति को श्रीभगवत्–नाम के रस लेने में लगा दे। सुना अनसुना कर दे, फिर उसका स्मरण ही न होने पावे। सच्ची बात तो यह है, जो इस समय थोड़े से संयम के पालन से अनुभव में आई है कि, इन्द्रियाँ बेचारी कोई वस्तु हैं ही नहीं। इनकी कोई पृथक सत्ता है ही नहीं। मुख्य तो मन है। इसी की प्रेरणा इन्द्रियों में स्फुरित होती है। प्रमाण हैः–छोटे–छोटे बच्चे भी उसी बात को सुनते हैं, जिसको हम लोग सुनते हैं। किन्तु वे उसका मनन नहीं करते। ये बच्चे चाहे जो अश्लील से अश्लील शब्द कह डालें, चाहे जो कुछ सुनलें, किन्तु इनके मन पर उसका कोई भी प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं देता। इसका कारण है कि,ये उसे तत्काल भूल जाते हैं। इतर प्राणी इन्हीं अश्लीलों का मनन करता रहता है। मन इनको पकड़कर बैठ जाता

है। यही बात सिद्ध पुरुषों में पाई जाती है। वे महापुरुष भी इन्द्रियों के अर्थ ग्रहण करने पर भी उसको मनन नहीं करते। उसे पकड़कर नहीं बैठते। यह बात तो बहुत आगे की है। प्रारम्भिक साधनकाल में तो यही उचित है कि, ऐसे अवसर पर अपने को सर्वथा बचा ही ले। तात्पर्य तो मन के रोकने से है। अभ्यास यही करना है कि, अपने मन को (वास्तव में अपना मानकरं) केवल तीन स्थलों में ही डाटे। अन्यत्र भागने से रोके।

"मनः स्व बुद्धयाऽमलया नियम्य"

तथाच–

होय बुद्धि जौं परम सयानी।
तिन्ह तन चितव न अनहित जानी।।

एक अपने साधन में– यथा, श्रीहरिनामोच्चारण करते समय मन से उसका आनन्द भोगना। दूसरे नियमों के पालन में–जो नियम इस समय चल रहे हैं, उनका पालन हम कितना कर रहे हैं ? तीसरे इनके फलस्वरूप में–श्री प्राणाधार का चिन्तन, अद्यावधि इनकी कृपा, इनकी सँभाल, इनका वात्सल्य, इनका रूप, इनकी लीला, इनसे आत्मीयता का भाव। फिर इनसे घुल मिलकर बातें करनी आदि–आदिक। इन तीन स्थलों से जब मन अन्यत्र उछल–कूद करे, तब इसको वहाँ से लौटाकर इन्हीं तीन स्थलों पर रोकना–इसी का नाम अभ्यास है। ऐसा करने लग जाय, तो श्रुति आदिकों के विषय से सर्वथा छुट्टी मिलने लग जायेगी।

(1003) यदि हम सावधानता का अभ्यास करें तो हमारे अभिलषित समस्त कार्य अत्यन्त सरलता से पूर्ण हो सकते हैं। एक श्रीनामजप के साथ–साथ श्रवण। दूसरे नियमित कार्यों में सफलता (सदैव विजय)। तीसरे श्रीप्राणाधार का सान्निध्य। ये तीनों कार्य एक सावधानता पर ही निर्भर हैं। अतएव हमें सबसे अधिक एक ही अभ्यास बढ़ाना चाहिए। "अनुवेलं सावधानता व्रत"। इस व्रत का पालन करें। बड़े भाग्य से ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है। इसको बहुत ही सँभालकर रखें। प्रत्येक विषय में अति संयम की आवश्यकता है। अब हमारा परम कर्त्तव्य है यह कि, हम भी पूर्ण–उत्साह एवं संयम के साथ अपने साधन में लगें, तो श्रीसद्गुरु भगवान् सब सँभाल ही लेंगे।

(1004) सम्प्रति (आजकल) परम कारुणीक, भक्त–वत्सल, सहज उदार मेरे श्रीप्राणधार ने सब प्रकार के सुभीते (सुविधायें) हम लोगों के लिए प्रदान कर ही रखे हैं। अतः हमारे लिए उचित यही है कि, ऐसे सुअवसर का एक–एक क्षण बहुत ही सावधानता के साथ व्यतीत करें। इस समय अपना परम–कर्त्तव्य है कि, श्रीनाम–जप के आनन्द में डूबते रहें। प्रायः एकान्त में ही वास करें। नेत्र, कर्ण, हस्त, पादादि, इन्द्रियों के संयम में कैसे भी प्रमाद न होने पावे। बहुत ही सावधानता रहे मन के सँभालने में।

शनैः शनैः रुपरमेद् बुद्ध्या धृति गृहीतया।
आत्म संस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्। (श्रीगीताजी)।

तथा च–

"मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य"। श्रीमद्भागवत्‌जी)।
इन महावाक्यों से पूर्ण लाभ उठावें। स्त्री जाति, हृदय की संकीर्णता, दुराग्रह, किसी भी प्रकार का अहंकार, राग–द्वेष, लोकरंजन, दंभ, विलासिता, अकर्मण्यता, घृणा, आचारविहीनता, असूया तथा प्रतिष्ठा लोभ–ये सब साधक के नाश कारक हैं। अतएव हमें इन सभी से बहुत ही बचते रहना चाहिए। प्रायः आत्म–निरीक्षण करते रहें। बड़ी गहराई के साथ अत्यन्त सात्विकी बुद्धि से खोज करते रहें। नियम–पालन कितनी सावधानी से कर रहे हैं ? एक भी क्षण व्यर्थ तो नहीं खो रहे हैं? अपने प्राणप्यारे दुलारे से मिलने के लिए अंतः करण के किसी कोने में कुछ स्फुरण उठता है या नहीं ?

(1005) उद्योग करने पर सफलता प्राप्त होती है, यह भ्रम है। सफलता तो नित्य सिद्ध वस्तु है। उद्योग रूपी तप में जितना अपने को तपाकर शुद्ध करते चले जायेंगे, उतने ही सफलता रूपी परमनिधि के ग्रहण करने के योग्य बनते चले जायँगे। (सम्बत् 2011 दीपावली, समय प्रातः 5/25)

(1006) सर्वव्यापक श्रीभगवान् के दर्शन करने के लिए साध ान रूपी तप में अपने नेत्रों को तपाकर शुद्ध और योग्य बनायें, तभी श्रीभगवद्–दर्शन होने लगेंगे।

(1007) आज अमावस्या है, घोर अन्धकार सर्वत्र फैल जाता है। किन्तु अनेकों दीपकों के प्रज्ज्वलित होते ही विचारा अन्धकार अपने प्राण बचाकर भाग जाता है। प्रमाद है–

अन्धकार विकट। उद्योगशीलता है – प्रकाशाधिक्य।।

(सम्वत् 2011 दीपावली प्रातः 5 बजकर 34 मि0)

(1008) कितना विकट परिश्रम किया था श्रीबिष्णु भगवान् ने, श्रीलक्ष्मी जी की प्राप्ति के लिए ? अब तो श्रीभगवान् सोते रहते हैं और वेचारी श्रीलक्ष्मीजी इनके श्रीचरणों को पलोटती रहती हैं। इससे शिक्षा मिलती है–उद्योगशील के सोने पर भी सिद्धि उसका साथ नहीं छोड़ती है।

(6 बजकर 28 मि0)

(1009) कहने में संकोच होता है, भय लगता है, किन्तु बात सर्वथा सत्य है। सिद्धि तो साधक की चेरी है। अनुभव– (श्रीविष्णु भगवान् का श्रीलक्ष्मीजी प्राप्त करना)।

(6 बजकर 30 मि0)

(1010) साधक, साधन, साध्य। इन तीनों के मध्य में है साधन। अर्थात् "साधक और साध्य" दोनों के बीच में है "साधन"। यही दोनों को मिलाने में समर्थ है। (6.33 मि0)

(1011) शान्त चित्त होकर पूर्ण रूप से किसी भी साधन में लग जाय। संशय न रखे। "संशयात्मा विनश्यति"।

(1012) बहुत झमेलों में अपने को न डाले। जो करे, उसी को समझे, विचारे, मनन करे, पूर्ण–प्रयत्न करे, मर मिटे। किन्तु इतना सारा वानिक तभी बन पायेगा, जब किसी मनुष्य रूपधारी सन्त में भगवाद् भाव से पूर्ण श्रद्धा होगी।

(1013) श्रीप्राण–प्रियतम के श्रीमुख के बड़े ही रहस्य पूर्ण महावाक्य हैं–"यह नियम है कि, जब तक साधक के पुण्य

रहते हैं, तब तक उसको इस लोक में स्वर्गीय सुख प्राप्त होते रहते हैं। यदा–कदा स्वर्ग भी जाना पड़ जाता है तथा जब तक पाप रहते हैं, तब तक उसे इस लोक में दुख, चिन्ता, शोक, अपमान, निद्रा आदिक घेरे रहते हैं। जो जीते जी नरक होते हैं।"

(1014) अब जीव का कल्याण कैसे हो ? इसके निराकरण के लिए यह महा–महा वाक्य है कि, जिन साधकों को मेरी प्राप्ति की इच्छा हो, वे अनासक्त भाव से भोगों को भोग डालें, जिससे सारे पुण्य क्षीण हो जायेंगे। स्वर्ग का मार्ग बन्द। अब शेष रहे पाप–इनके लिए सदैव सदाचार–परायण, सुशील, महापुरुष के समान आचरण करने वाला बने। इससे पाप नष्ट हो जायेंगे। जब ये दोनो नष्ट हो जायेंगे, तभी मेरी प्राप्ति हो जायेगी। आशय यह है कि, ऐसे उच्च कोटि के महापुरुषों के आचरण जन्म से ही लोक से भिन्न होते हैं। उदाहरणः– श्रीउद्धवजी जिस समय 5 वर्ष के थे, बच्चों के साथ खेल रहे थे। माता कलेवा के लिए बुलाने आई, किन्तु "तन्नैच्छद्"– (कलेवा की इच्छा ही नहीं हुई) कारण कि, अपने समवयस्क बच्चों के संग श्रीप्राणधन की सेवा का विधान कर रहे थे। उस समय कलेवा की सुध कहाँ ? पाँच वर्ष के बालक में इतना अनुराग ? यदि इस प्रसंग की व्याख्या करके कथा कहने का अवसर मिले, तो मैं एक जन्म में भी पूरी नहीं कर सकता हूँ।

(1015) उत्तम साधक का यही श्रेयष्कर है कि–इच्छाओं को

मिटावे। कर्त्तव्य का पालन प्राणपन से करे। इच्छा होते ही मन की शान्ति मारी जाती है। मन चंचल एवं उद्विग्न हो जाता है, जो साधक के लिए सर्वथा अहितकर है। इच्छा, वासना तो रहने ही न पावे। इनको निर्मूल करना साधक का परम कर्त्तव्य है।

(1016) साधक जैसे–जैसे आगे बढ़ता है, वैसे–वैसे ही कठिनता का साम्मुख्य प्राप्त होता है। परीक्षाओं में यथा–प्रथमा से मध्यमा कठिन। मध्यमा से शास्त्री कठिन और शास्त्री से आचार्य कठिन। किन्तु यदि छात्र प्रथमा में ही लघु कौमुदी ठीक–ठीक समझकर अध्ययन करले, तो आगे की परीक्षायें कठिन होते हुए भी कठिन प्रतीत नहीं होती हैं। तद्वत् साधक–

(1017)परिभाषाः–इच्छा= अभाव वस्तु की चाह।

रुचि= जो वस्तु मन को सुहाये।।

जैसे–रहउ जहाँ रुचि होय तुम्हारी।

वैसे तो रुचि और इच्छा में बहुत ही कम भिन्नता सी प्रतीत होती है, परन्तु अवान्तर भेद तो है ही।

जो इच्छा करिहहु मन माहीं।
हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।

कहीं कहीं इच्छा शब्द का प्रयोग संकल्प में होता है। यथा–

"हरि इच्छा भावी बलवाना"

किन्तु विशेष करके इच्छा की परिभाषा यही ठीक जँचती है जैसे– इच्छित फल बिनु शिव अवराधे।

लहिय न कोटि जोग जप साधे।।

(1018) जिस साधक को भजन में रस नहीं मिलता, वही वेचारा यत्र–तत्र भटकता फिरता है। यह एक परिचय है। जैसे–जैसे आनन्द आता जाता है, वैसे–वैसे ही रस की उत्पत्ति होती जाती है। किन्तु रस का बोध साधक को बहुत आगे चलकर होता है। यही आसन्न सिद्धावस्था है। ऐसा साधक भजन छोड़ नहीं सकता। अब भजन ने इसको पकड़ लिया है।

(1019) "आनन्द" से "रस" अति सूक्ष्म है। आनन्द का अनुभव तो कितने ही साधकों को यत्किंचित् होने लगता है, यद्वा वह मान बैठते हैं। किन्तु रसोत्पत्ति तो किसी विरले साधक को ही उपलब्ध होती है। रस–अदृष्ट (न दीखने वाला), अनुभव गम्य (अनुभव से ही समझ में आने वाला) तथा स्वसंवेद्य (जिसको मिलने लगता है वही समझ पाता है) है।

(1020) एक बात से बड़ी ही प्रसन्नता हुई तथा बड़ा ही आश्वासन मिला कि–यदि बुद्धि सावधानता से देखती रहे, तो इन्द्रिय तथा मन स्वतः ही संयमी बन जाते हैं। इसी से सब काम बन जाते हैं। यही करना, यही विचारना, यही धारणा में लाना तथा इसी विषय की युक्तियाँ सोचनीं।

(1021) आज श्रीगुरुवार है। आज यह निश्चय हो गया कि, इन्द्रिय तथा मन का संयम कष्ट साध्य है, असाध्य नहीं। अर्थात् सर्वथा सुसाध्य है। इसमें हमारी ही शिथिलता है

"मनः स्वबुद्धयाऽमलयानियम्य"

तथा च– "होय बुद्धि जौ परम सयानी"।

निष्कर्ष यह है कि, हमें सदैव बुद्धि बलवती बनाये रखनी चाहिए। (कार्तिक कृष्णा 1, श्रीगुरुवार)

(1022) बात यही जान पड़ती है कि, मन को विषयों में विशेष रस मिलता है। कारण यह भी है कि, जन्म–जन्मान्तर से जब जब,जिस जिस यौनि में जीव पहुँचता रहा है, विशेषतया विषयों का ही शिकार होता रहा है। देवयौनि हम लोगों से बहुत ऊँची मानी जाती हैं, किन्तु वे तो मनुष्यों से कई गुने अधिक विषयों के गुलाम बने बैठे हैं। यही कारण है कि, मन बार–बार रोकने पर भी उधर में ही भटकता रहता है। येन केन प्रकारेण अपना काम बना ही लेता है। प्रकृति ने दोनों प्रकार की वस्तुएँ रची हैं। जैसे–अग्नि दाहक है–तो इसके शमन के लिए जल इत्यादि। यहाँ मन को रसान्तर में लाने के लिए श्रीप्राणनाथ की स्मृति ही परमौषधि है।

(1023) यह अनुभूति है कि–जिस क्षण श्रीप्राणप्रियतम का स्मरण कैसे भी होने लगता है, उस क्षण अन्तःकरण में कोई भी विकार ठहर ही नहीं पाता है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि–"मनः स्वबुद्धयाऽमलया नियम्य"। बार–बार श्रीप्राण वल्लभ की स्मृति और लय के साथ श्रीनामोच्चारण तथा श्रवणों से श्रवण। साथ ही इसमें आनन्द का अनुभव करना। बार–बार विषयों के दोषों का चिन्तन। रावण,

कीचक, दुर्योधन आदिक की घटनाओं के दुष्परिणामों का चिन्तन। वर्तमान मे भी अनेकों उदाहरण प्रस्तुत हैं। हाँ, एक बात परम सन्तोष की है कि—समझाने से मन समझ जाता है। बहुत पुराना रोग है। धीरे—धीरे कटेग चिन्ता न करें।
(1024) यदि चाहे और पूर्ण—प्रयत्न करे तो—सदाचारी, निरोग तथा भगवद्भक्त सभी बन सकते हैं।
(1025) **श्रद्धा**—गुरुजनों के वाक्य अथवा स्वनिर्मित नियमों का दृढ़ता से पालन। (अर्थात् नियम परिवर्तन नहीं करना)।
तप है— नियम के पालन में जो कष्ट सहना पड़े उसे प्रसन्नता से सहले और मन में यही माने कि, यह सब श्री प्राणनाथ की कृपा है, जो सहन करा रही है। अन्यथा मैं क्षुद्र जन्तु कष्ट कैसे सह लेता ?
संयम है—आहार—विहार तथा नियम—पालन में यथा तथ्य वर्ताव।
सत्य—नियम—पालन तथा आत्मनिरीक्षण में। **उच्चविचार** तथा **उच्चतम क्रिया**—ये पाँचो परमावश्यक हैं।
(1026) ज्ञान—मार्ग में वैराग्य की प्रधानता है। अतएव मनोनिग्रह करना पड़ता है। किन्तु भावराज्य में मनोलय की विशेषता है। महा हठी, महाचंचल मन इस स्थिति में (श्रीजीवनधन के सान्निध्य अनुभव के आनन्द में) ऐसा डूब जाता है कि, न वहाँ मन का पता लगता है, न बिचारी इन्द्रियाँ ही कुछ जान पड़ती हैं, विषय की तो गन्ध भी नहीं रहती। यह विषय स्वसंम्वेद्य (अपने अनुभव में आने से ही

पता चलने वाला) है। स्थिति बहुत ऊँची है। सबका संचालक तथा जानने वाला मन ही जब महानन्द में डूब गया, तब कौन वहाँ की स्थिति का वर्णन करे ? आवश्यकता है, बड़े धैर्य के साथ इस अवस्था में प्रवेश करने की। अति–कठिन होते हुए भी दुर्लभ नहीं। यह चशका यदि लगने लगे तो अर्न्तमुखी वृत्ति स्वतः होने लगेगी। समस्त प्रपंच, समस्त विषय ऐसे साधक को स्वतः त्यागने लगते हैं। न त्याग की आवश्यकता पड़ती है और न वैराग्ञ की खोज ही करनी पड़ती है।

(1027) काम के विषय में समस्त सन्तों ने अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं। सभी ने इससे बचने की ही सम्मति दी है। सभी सद्ग्रंथों में इसकी घोर निन्दा की गयी है। सूकर तो महानीच स्वपच आदिक ही अपने यहाँ पालते हैं। द्विजों के द्वार पर तो गौ माता ही दिखाई देती है। यह सब प्रकार से साधक की हानि ही करता है। यदि साधक ने इसको अजेय यद्वा दुर्जय मान लिया, तब तो इसकी खूब चढ़ बनती है। और तब तो यह घोर आक्रमण करता है। और यदि कदाचित् साधक भ्रान्ति से कहीं यह मान बैठा कि, मैने काम पर विजय पा ली है। मैं चाहे जहाँ रहूँ, स्त्री आदिकों के सम्पर्क में भी, तो भी मुझे कभी भी विकार की गन्ध नहीं उठ सकती। न जाने वे कैसे दुर्बल साधक हैं, जो सदैव इससे भयभीत रहते हैं ? यह है ही कितनी गिनती में इत्यादि–तब तो समझ ले कि, यह महाशत्रु धोखा देकर

समय पाकर बिचारे विजयम्मन्य प्राणी को बुरे ढँग से नरक कुण्ड में पटककर पतन कराके ही छोड़ेगा। साधक को इस नीच से सदैव सावधान रहना चाहिए। सदैव विषय सम्बन्धी वस्तुओं से दूर ही रहना चाहिए। इन्द्रियों को पूर्णतः अपने वश में रखे। मन को धीरे–धीरे समझाता रहे। मन की प्रगति पर दृष्टि रखे। सत्व गुण को बढ़ाता ही रहे। श्रीप्रियतम में प्रेम करने की लालसा तथा पूर्ण प्रयत्न करता रहे। इसके शमन करने के लिए श्रीशंकर भगवान् की आराधना करनी उचित जान पड़ती है। क्रमशः पूर्ण–प्रतिज्ञा हो, विषय से बचने की। विकार भाव से कभी न देखे, न सुने, न छूवे, न पढ़े। विषयों से दूर ही रहे। विषय बर्द्धक कोई भी वस्तु अपने समीप न रखे। विषय चिन्तन करने से मन को बचावे। इसके दुष्परिणामों को मन के समक्ष रखता रहे। श्रीप्राण प्रियतम का चिन्तन बढ़ाता चले।

(1028) जीव जिस समय–चिन्ता, शोक, क्रोधादिकों, के वेग से आक्रान्त रहता है। उस समय भी भोजन तो कर ही लेता है, किन्तु उसका स्वाद नहीं आता। ऐसा आहार शरीर में लाभ नहीं पहुँचाता, प्रत्युत विष ही बढ़ाता है। ठीक यही दशा विकार युक्त जप की है। शोक, चिन्ता, क्रोधादिकों से युक्त भजन अन्तःकरण में सत्व नहीं बढ़ा पाता, प्रत्युत भोग ही उपस्थित कर देता है।

(1029) मन है तो हमारा ही सेवक। हमारी असावधानी से यह हम पर शासन करने लगा है। पुनः सावधानता स्वीकार

करते ही यह दास हो जायेगा।

(1030) हम तो प्रतिक्षण लय ही चाहते हैं।

(1031)जीते जी यहीं सब उपासनिक सुख भोग लें, मरने पर किसने देखा है ?

(1032)अखण्ड मौन के समान अपना हितकर कोई व्रत नहीं।

(1033) साधन तथा नियम पालन श्रीगिरिराजजी के सान्निध्य में ही पूर्णतया पालन होते हैं।

(1034) विरह का विशेष महत्व इस कारण से है कि, विरह की अग्नि में सारे शुभाशुभ कर्मफल नष्ट हो जाते हैं। सबसे कठिन है–राग–द्वेष। सो सर्वथा विदा हो जाता है। कठिन है संसार की विस्मृति, सो स्वप्न में भी नहीं उठती। निरन्तर अविच्छिन्न तैल धारावत् अन्तःकरण की वृत्ति अपने श्रीप्राण प्रियतम में ही अटकी रहती है। कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रत्युत हटाने का प्रयत्न करे, तो भी वह वृत्ति नहीं पाती हटती।

(1035) अपने श्रीसद्गुरु भगवान के इस महा महावाक्य को अपने अन्तिम दिनों में नित्यप्रति, दिन में कई कई बार सुना करते थे–मैं चार बात सबका बतलाता हूँ–(1) सहनशीलता। (2) निरहंकारिता। (3) निरन्तर श्रीनामजप। (4) श्रीभगवान् अवश्य मिलेंगे, ऐसा दृढ़–विश्वास।

(1036) माया का प्रधान काम है जीव को लक्ष्य से भ्रष्ट करना। (ता0 23–8–1981)

(1037) श्रीसद्गुरु, सन्त और इष्ट में प्रगाढ़–आत्मीयता ही इस पथ की कुंजी है। इससे यह पथ अति सुगम, सरस और मधुर बन जाता है तथा शीध्र–प्रेम प्राप्ति में सहायक होता है। अन्त में यही प्रेम बन जाता है। ये तो मेरे हैं हीं और मैं आया हूँ केवल इनके लिए ही।(ता0 24–8–1981)

(1038) ब्रज के एक सुप्रसिद्ध, परम तपस्वी, महात्यागी, परम वीतराग सन्तजी को बृद्धावस्था में रोगग्रस्त स्थिति में देखने को कलकत्ता के एक सुप्रसिद्ध वैद्य आये। श्रीसन्तजी की स्थिति को देखकर वैद्यजी ने बताया कि, "बाबा को ऐसा कोई रोग नहीं है कि, जिसका उपचार किया जा सके। वैराग्य के कारण इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गई हैं। अब काम करना बन्द कर दिया है"।

हमें ऐसे वैराग्य की आवश्यकता नहीं हैं। त्याग, वैराग्य को उतने ही अंश में स्वीकारना हैं, जितना साधनोपयोगी जीवन में सहायक हो। साधनोपयोगी खूब खालें, पीलें, सोलें। शरीर को कम, मन को ही अधिक कसें, जिससे बृद्धावस्था में भी शरीर भजन–साधन करता रहे। ऐसे बहुत देखे, जिन्होंने शरीर को अधिक कसा, उनको बृद्धावस्था में आकर शरीर ने धोखा दे दिया। उद्देश्य है, जीवन की अन्तिम स्वाँस तक भजन साधन करते करते जीना और भजन साधन करते करते मरना। इस कारण साधनोपयोगी आहार–बिहार में कमी न रखे। युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टषु कर्मषु। (ता0 26–8–1981)

(1039) यह संसार प्रियतम की स्वयं की अपनी रचना है। अपने कर कमलों से इन्होंने रचा है। इसमें हमें गन्दगी करने का कोई भी अधिकार नहीं हैं। गन्दगी कैसी ? लड़ाई, क्रोध, विरोध, अशान्ति, राग–द्वेष, आसक्ति आदि। इसमें मछली की भाँति जीवन व्यतीत करना है। सूअर की भाँति नहीं। मछली जहाँ कहीं रहती है, वहाँ शुद्ध जल में ही रहती है तथा अशुद्ध को शुद्ध बनाकर ही रहती है। और सूअर जब तक उसमें कीच नहीं उठा लेता है, तब तक उसको आनन्द ही नहीं आता है। ऐसे ही सन्त–जन जहाँ रहते हैं, वहाँ के बातावरण को सतयुगी बनाकर ही रहते हैं। स्वयं भी आनन्द में रहते हैं और आस–पास के जीवों को भी आनन्द में ही रखतें हैं। (ता0 28–8–1981)

(1040)–
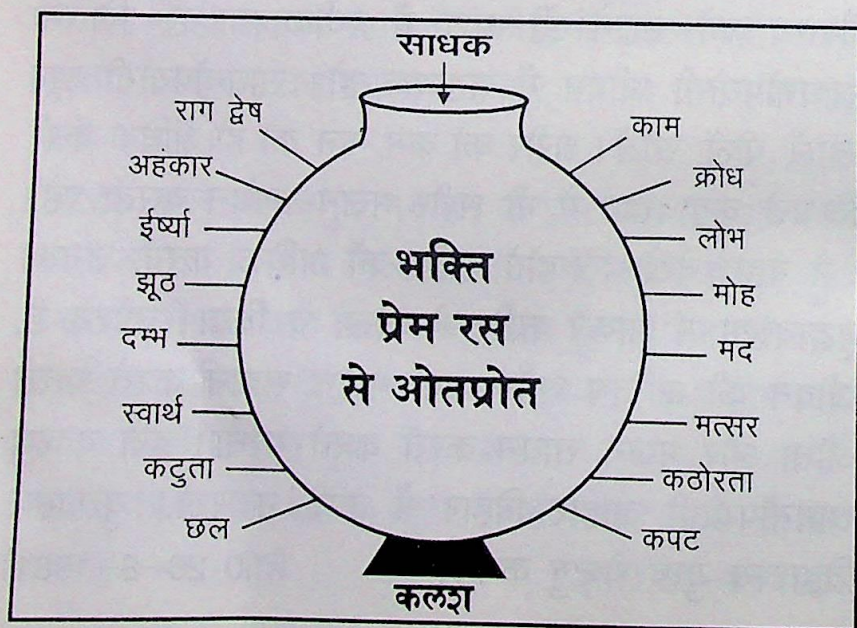
ऊपर बने चित्र में श्री भगवत् प्रेमरस या आत्मबोध से भरा हुआ एक घट उपस्थित है। जो मानो साधक का हृदय ही है। जब साधक इसको अपने श्रीसद्गुरु भगवान् में दृढ़तम श्रीभगवत्–भाव बनाकर, उनकी आज्ञा से, पूरी प्रीति, प्रतीति और सुरीति से, एकनिष्ठ होकर, अपने जीवन सर्वस्व श्रीप्रभु के नाम और चिन्तन से निरन्तर भरने लगता है, तब समस्त विकार साधक के इस हृदय रूपी घट को सब ओर से फोरने की ताक में घेर लेते हैं। जिस क्षण साधक अपने को स्वतंत्र मान बैठता है, अथवा अपनी साधना का अहंकार कर बैठता है, उसी क्षण इन समस्त विकार रूपी डाकूँओं को अवसर मिल जाता है और चरों ओर से एक साथ इस पर धावा बोल देते हैं और हृदय रूपी घट को सब ओर से छिद्र करके, भीतर भरे हुए अमूल्य प्रेमरस को मल–मूत्र (संसारी विषय वासना) में मिला देते हैं। जिससे हृदय फिर किसी भी काम का नहीं रहता। अर्थात् साधक की समस्त आध्यात्मिक पूँजी को लूट ले जाते हैं और उसको कंगाल बना देते हैं। इसलिए साधक को प्रतिक्षण यह देखते रहना चाहिए कि, अपने महदाश्रय में कमी तो नहीं आ रही। अध्यात्म हृदय की वस्तु है, जितना हृदय कोमल और पवित्र होगा, उतना ही साधक प्रियतम के समीप होगा। मल मूत्र और बिकारों से निर्मित इस मानव देह में केवल हृदय ही तो एक ऐसी वस्तु है, जो प्रियतम के काम आ सकती है तथा इनको भेंट की जा सकती है। इसी कारण

साधक का परम कर्तव्य होता है कि, भलेही प्राण चले जायँ, परन्तु प्रियतम की इस वस्तु पर आँच न आय जाय। कोई माया राज्य की वस्तु इसका स्पर्श भी न कर जाय। अर्थात् कोई विकार वासना इसकी छाया का भी स्पर्श न कर जाय। केवल अपने जीवन सर्वस्व को सौंपकर ही, तब चैन की साँस ले। यही अर्थ है–सन्त श्रीकबीरदासजी की इस पंक्ति का कि–

"दास कबीर जतनसे ओढ़ी ज्यौं की त्यौं धरि दीनी चदरिया"।

उपर्युक्त समस्त विवेचना का सार यही है कि, हृदय रूपी अमूल्य धरोहर की किसी भी प्रकार से विकृति न होने पावे और साथ ही अपने श्रीसद्गुरु–भगवान् के आज्ञारूपी ब्रह्मास्त्र के द्वारा विकारों से रक्षा करके, अपने श्रीप्राण–प्रियतम को सौंप दे। तभी अपनी ईमानदारी मानी जायेगी। अन्यथा तो पक्के वेईमान ही माने जायेंगे।

(1041) प्रसंग चला श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी पर–ये प्रभु की शरण में आये–कामना लेकर। एक को राजतिलक कर दिया और एक को राज दे ही दिया। अब समुद्र पार करके सुवेल शिखर पर पौढ़े हैं। श्रीचरणों में हैं श्रीअंगदजी और श्रीहनुमानजी। एकओर बैठे हैं श्रीसुग्रीवजी और दूसरी ओर हैं श्रीविभीषणजी। विचार कर रहे हैं कि, कल से युद्ध होना है। इनकी परीक्षा तो ले ली जाय? तब चन्द्रमा की श्यामता से वहाँ प्रभु नें सबकी परीक्षा ली। जब श्रीअयोध्या जी आकर राजगद्दी के बाद सबकी विदाई की, तब एक

को भी अपने पास नहीं रखा। नित्य सेवा हाथ पड़ी, तो केवल श्रीहनुमानजी महाराज के। क्योंकि कोई कामना लेकर शरण में नहीं आये थे। इनके अन्तःकरण में श्रीप्राणनाथ का ही नित्य निवास रहता है। जगज्जननी श्रीजानकीजी तो इनको अपना जेष्ठ पुत्र ही मानती हैं।

(1042) याद रखो—यदि हमारे अन्तःकरण में इनके अतिरिक्त और कोई कामना छिपी है, तो हम इनकी सेवा और इनका सान्निध्य पाने के अधिकारी नही हैं।

(1043) दूसरा प्रसंग है राजा प्रतापभानु का—

"करइ जो धरम करम मन वानी।
वासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी"।।

यहाँ तक बात है कि, राजा जो कुछ भी करता था, केवल प्रभु के लिए ही करता था। किन्तु पोल खुली तब, जब वन में कपटी मुनि सें भेंट हुई। अन्तर में छुपी हुई कामना अवसर पाकर उभर आई और माँग बैठे कि—

"एक छत्र रिपु हीन महि राज कलप सत होउ"।

परिणाम का हुआ कि, राक्षस होना पड़ा। यदि अन्तर में कुछ और बाहर कुछ और, तो याद रखो कि— कामना एक न एकदिन अवसर पाकर तुम्हें धोखा देगी, ऐसा पटकेगी कि, तुम्हारे जन्म—जन्मान्तर, लोक परलोक सब स्वाहाः हो जायेंगे। किसी भी काम के नहीं रहोगे। श्रीभगवान् जब किसी को दर्शन देते हैं, तो कहते हैं कि, बरंब्रूहि! तब पता चलता है कि, यह कितने पानी में हैं ? उस समय सब छुपी

हुई वस्तु सामने आ जाती है। प्रभु तो जरैला हैं। भक्त के हृदय में अपने अतिरिक्त किसी भी दूसरे को देख नहीं सकते हैं। ज्ञान, वैराग तक को भी इनके सामने हाथ जोड़ देना पड़ता है, इनके सामने। ये देखते हैं कि, जीव क्या चाहता है ? मुझे चाहता है, या मेरे अतिरिक्त कुछ और चाहता है। ऐसे प्रभु को श्रीप्रह्लादजी के सम्मुख ठोड़ी में हाथ डालकर कहना पड़ा कि, मेरी लाज रख दे। कुछ माँग ले। उस समय श्रीप्रह्लादजी के शब्द हैं कि, बड़े दानी बन रहे हो। नहीं मानो तो दे दो कि–"मेरे मन में, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी जन्म में, कभी भी कोई कामना का अंकुर तक न उठने पाये और दूसरी बात–मेरे पिता का उद्धार हो जाय। कितनी यातना सहीं ? कितने कष्ट सहे ? परन्तु कभी भी क्रोध नहीं किया, किसी से भी विरोध नहीं किया। ये है सार इस पथ का। इसी का परिणाम था कि, भक्तों की गणना में शिरोमणी की पदवी प्राप्त हुई।

याद रखो–जब–जब मन में कामना उठे, तभी तभी रोओ, व्रत करो, मचलो कि–आपके अतिरिक्त मेरे हृदय में ये आई क्यों ? आई कैसे ? और फिर सावधान रहो कि, कोई कामना आने ही न पाये। श्रीवाल्मीकजी ने भगवान श्री रामजी के पूछने पर 14 स्थान, उनके निवास के योग्य सुझाये हैं। 13 में तो ये कही है कि, तुम यहाँ रहो। परन्तु 14 वे में कही है कि–

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।

वसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेहु।।
यहाँ निरन्तर शब्द का प्रयोग किया है "अर्थात् प्रभु का निरन्तर निवास वहाँ ही रहता है, जहाँ कोई कामना नहीं होती है। अर्थात् अकाम प्रिय हैं, अकामिनां स्वधामदम् हैं।
(1044) श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने भी श्रीभारद्वाजजी से कही है कि–"शुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त विकार"। शुचि सेवक कब? जब रहित समस्त विकार हो तब।

याद रखो–यदि इनके अतिरिक्त स्त्री, धन, मान प्रतिष्ठा आदि अन्तर में छिपे हैं, तो प्रभु बहुत ही दूर हैं। इसका सार यही है कि, अपने शरीर और समस्त इन्द्रियों को प्रियतम के देश जाने के योग्य पवित्र बनाने में ही लगा रहे। कामना शून्यता ही प्रियतम के पकड़ने का मंत्र है।

(भाद्रकृष्णा अमा, ता0 29–8–1981 शनि,रात्रि 8 बजे)

(1045)इस पथ में तत्वांश है, मर्म है–चिन्तन। यह कैसे हो? श्रीरामचरितमानस में आया है कि–

बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरे शरीर शान्त रसु जैसें।।
भगवान् श्रीशंकरजी ऐसे बैठे हैं, मानो शान्त रस ही शरीर धरकर बैठा हो। यह कैसे बना ? काम रिपु को समूल नष्ट करके, हृदय को एकदम खाली कर लिया, तब बैठ पाये। जब तक हृदय खाली नहीं है, नाना प्रकार की कामनायें भरी पड़ी हैं, तब तक मन शान्त नहीं बैठ सकता। संसारी लोगों को स्त्री, धन, पुत्र, बैभव, मान प्रतिष्ठा आदि की कामना होती हैं। उनका लक्ष्य इनकी पूर्ति करना ही होता

है। ऐसे ही हमारा लक्ष्य है–"श्री प्राणनाथ का प्रेम प्राप्त करना।" संसारी लोग जब तक कामना पूर्ति नहीं कर लेते, तब तक शान्त नहीं बैठते। और हमें चलना है इनसे सर्वथा उल्टा। हमारे यहाँ कामनाओं का सर्वथा समूल नाश करना ही परम कर्तव्य है। जब कामना नाश हो गई और लक्ष्य है प्राणनाथ का प्रेम, तो चिन्तन तो स्वयंमेव होगा ही। क्योंकि लक्ष्य हमारा भगवत् प्रेम है।

अब चिन्तन इस प्रकार करें कि– बोलें तो प्रेम के लिए। सुनें तो प्रेम के लिए। देखें तो प्रेम के लिए। विचारें तो प्रेम के लिए। चिन्तन ही शीघ्रति शीघ्र प्रेम करा देता है और इस पथ में प्रधान है भी चिन्तन ही। यदि कामना कोई लौकिक रही, तो एक न एक दिन मरना ही पड़ेगा। अर्थात् कोई न कोई बन्धन फट से पकड़ ही लेगा। इसलिए कामनाओं को ढूँढ़–ढूँढ़कर निकाल फैंको।

(भाद्र शुक्ला 1, ता0 30–8–1981 रवि0 प्रातः 7 बजे)

(1046) जीव जब इनकी ओर चलने लगता है, और चलता है सत्यता से, तो आगे के बन्धन स्वयं ही टूटते जाते हैं। अपने उद्देश्य में दृढ़ता और सत्यता है, तो आगे का मार्ग स्वतः ही खुलता जायेगा। सब वानिक स्वतः ही बनते चले जायँगे और सहायक भी मिलते ही चले जायेंगे। जैसें श्रीलक्ष्मणजी के भाव में दृढ़ता और सत्यता रही, तो "पुत्रवती जुवती जग सोई" से लेकर "रति होउ अविरल अमल सिय रघुवीर पद नित–नित नई" तक क्रमशः देखो तो कैसा

पूज्यपाद श्री पंडित जी अपने मस्त भाव में
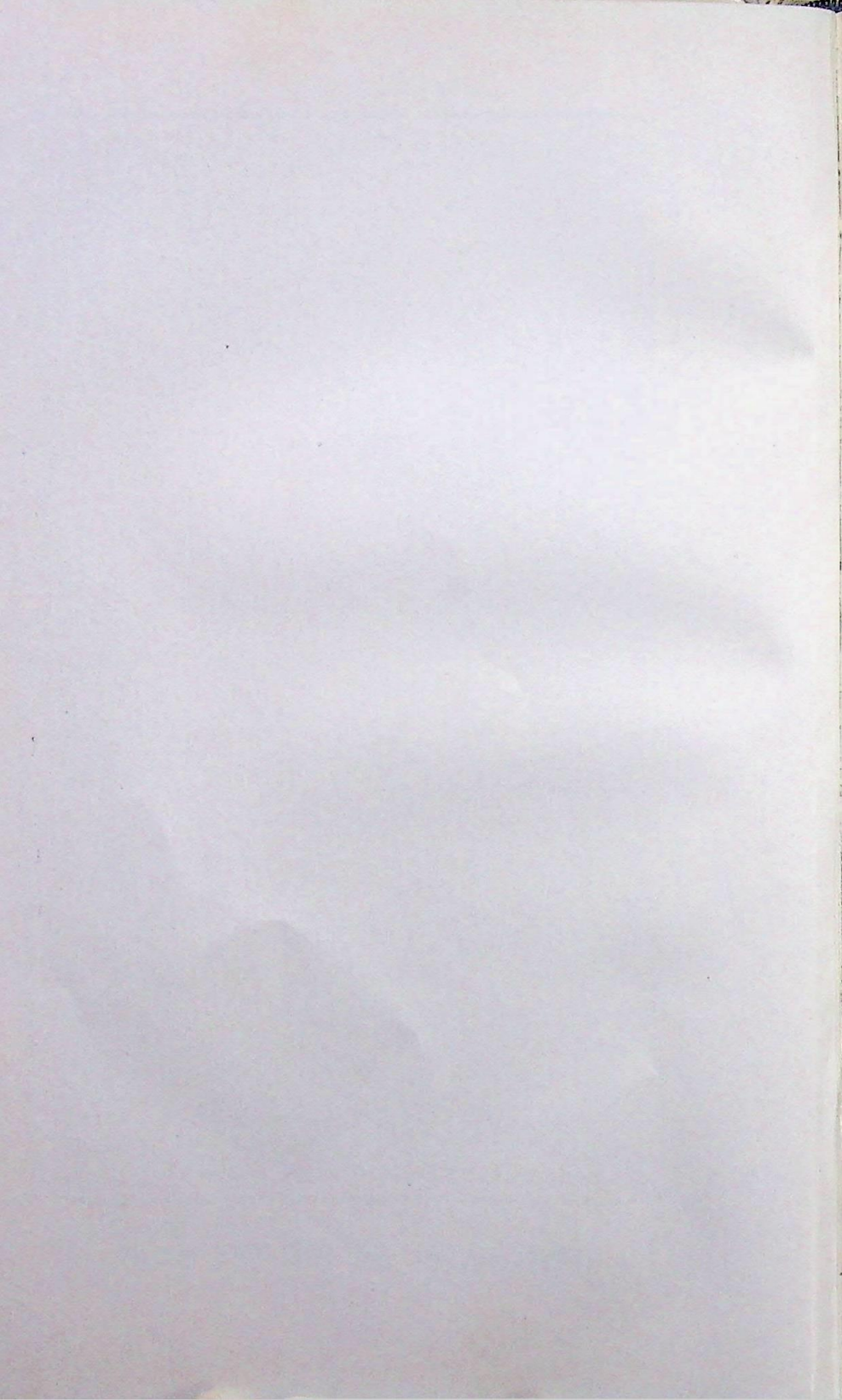
बनता चला गया। यहाँ मुख्य था श्रीलक्ष्मणजी का दृढ़ और सत्य भाव। (ता0 30–8–1981 रविवार समय 12.30 पर)

(1047) **प्रश्नः**– क्या श्रीनरसीजी जैसा प्रेम एक ही जन्म में हो सकता है ?

उत्तरः– हाँ, क्यौं नहीं, अवश्य हो सकता है, यदि श्रीसद्गुरु प्राप्त हो जायँ और उनमें हमारी श्रद्धा हो जाय तथा वे हमें अपना लें तो। श्रीसद्गुरु उसीको प्राप्त होते हैं, जो प्राणनाथ से मिलवे के लिए तड़फता है रोता है। उसको स्वयं प्राणप्रियतम ही श्रीसद्गुरु बनकर मिल जाते हैं। श्री प्रियतम का प्रेम संसार के चमत्कार की वस्तु नहीं हैं, यह तो पीने की वस्तु है। लोग पीछे चलकर चमत्कारों में फँस जाते हैं। इससे उनका पतन हो जाता है। वस्तु अलभ्य है, गूँगे का स्वाद है। वस्तु प्राप्त होने पर हर समय बस यही रहे कि, श्रीप्राणनाथ कब मिलेंगे ? कौन सा दिन ऐसा होगा कि, जब मैं संसार को भूल जाऊँगा, हृदय में श्रीप्रियतम के लिए टीस बनी ही रहेगी। (ता0 30–8–81 सायं 8.बजे)

(1048) 24 घन्टे में एक भी सैकिण्ड अपने लिए नहीं। पाठ हो, श्रीनामजप हो, चिन्तन हो, यदि बोलना भी पड़े तो इनके लिए ही। बात–चीत करना, यह सबसे बाहरी वस्तु है। सर्वप्रथम इसीसे प्रारम्भ हो इनके लिए। "यह भी इनके लिए ही हो। अपने लिए कुछ न रह जाय, यह है त्याग। सब कुछ इनके ही लिए हो, यह है भक्ति (प्रेम)। कामना वासना, इच्छा, लालसा शून्य हृदय हो अर्थात् अन्तःकरण

एकदम खाली, यह है वैराग्य। अपना स्वार्थ तनिक भी न छू जाय। (भाद्र शु0 2, ता0 31–8–1981 सोम)

(1049) श्रीसद्‌गुरु कृपा सिंह है और माया बकरी। सिंह और सिंह के बच्चे को देखते ही बकरी जिस प्रकार चुपके से खड़ी–खड़ी सूख जाती है, उसी प्रकार श्रीसद्‌गुरु भगवान् के दुलारे जीव को देखकर माया बेचारी दूर ही खड़ी–खड़ी सूख जाती है। उसके ऊपर अपना प्रभाव नहीं जमा पाती। यह पथ तो श्रीसद्‌गुरु–भगवान् के बिना हाथ आ ही नहीं सकता। साधक अपने मन से ऊँचे से ऊँचा साधन करके कितनी भी ऊँची स्थिति प्राप्त क्यौं न करले, किन्तु अन्त में उसको गिरना ही पड़ेगा। उदाहरण दिया कि:–एक साधक ने श्रीहनुमानजी का अनुष्ठान किया। श्रीहनुमानजी आये, किन्तु रहे पींठ के पीछे ही। पीछे से ही बात करते रहे। तब साधक ने पूछा कि, महाराज! जब आप कृपा करके पधारे ही हो, तो फिर सम्मुख क्यों नहीं आ जाते ? मेरे सम्मुख तो आओ, जिससे मैं आपका दर्शन करलूँ ? तब श्रीहनुमानजी बोले कि, तुमने खूब तप किया है। तप के साथ अनुष्ठान भी किया है। किन्तु किया है सब अपने मन से ही। श्रीसद्‌गुरु भगवान् की आज्ञा से नहीं किया है। पहले तुम श्रीसद्‌गुरु भगवान् की कृपा प्राप्त करो, तब हम तुम्हारे सम्मुख आयेंगे। बिना श्रीसद्‌गुरु भगवान् का आश्रय लिए, इस पथमें चलना, अपने को धोखा देना है।

(भा0 कृ0 30,शनि 29–8–81दिन के 2 से 2.30 तक)

(1050) दो बातें परमावश्यक हैं और दोनों ही नहीं बन पाती हैं। एक तो लौकिक मे रोगी के लिए पथ्य और दूसरे अध्यात्म में साधक की रहनी। छल कपट, दंभ, पाखण्ड, राग द्वेष, क्रोध, विरोध, छू न जाय। और फिर हो किसी सन्त का दृढ़तम् आश्रय। और फिर बने भजन। तो एक ही जन्म में बेड़ा पार। रहनी बनाने में वही लगेगा, जिसको श्रीभगवान् की आवश्यकता होगी। अध्यात्म में प्रधान हैं सदाचार। ये ही आध्यात्म की नींव है। आहार वह–जो पेट को सुपाच्य हो। जीभ के लिए जो खाया जाय, वह तो विष ही है। हमारे यहाँ प्रधानता है रहनी की।

(भाद्र शु0 2, ता0 31–8–1981 रात्रि 8बजे)

(1051) श्रीप्रभु के अतिरिक्त और कुछ चाहना ही माया है।

(1052) दो बात हमें बहुत प्रिय हैं। सन्तों की कृपा और भक्तों से मैत्री। इनके लिए तो हम भूखे ही बैठे रहते हैं कि, कब मिलें ? (भाद्रशु0 4, बुध0 ता0 27–9–1981 रात्रि 7.40)

(1053) एक अपने साथ घटी हुई घटना सुनाऊँ–इनको (मेरे श्रीसद्गुरु भगवान) को चार वर्ष पीछे पता चल पाई कि, पण्डितजी मुझे गुरु मानते हैं। यहाँ हमारे एक गुरुभाई श्रीगनेशीलाल जी आये और कह रहे कि, बाबा ने मुझे यह साधना दी, वह दी। तब मैने कहा कि, मुझे नहीं खबर कि, मैने कभी सम्मुख पड़कर कुछ पूछा भी हो। पूज्य श्रीबाबा वहाँ और मैं यहाँ। मैने तो सब कुछ यहीं पा लिया। श्रद्धा की जितनी परिभाषायें हैं, उनमें सर्वोत्तम परिभाषा है कि,

अपने श्रीसद्गुरुदेव हमसे जो चाहते हों? जिसके करने में प्रसन्न और जिसके करने में अप्रसन्न होते हों। जो इनको रुचता हो, वही करना और न रुचता हो, वह प्राण रहते नहीं करना। इनकी आज्ञा–पालन में अपने को पूर्णरूपेण झौंक दे, यही है समर्पण और यही है श्रद्धा। आगे जो होना होगा, सो हो जायेगा, हमें तो आज्ञा पालन से प्रयोजन।

(भाद्र शुक्ला 5,ता0 3–9–1981,श्रीगुरुवार)

(1054) हम जब हाथरस रहते तब एकादशी व्रत करते। एकदिन बुद्धि नें सुझाया कि, आज व्रत है। परनिन्दा परचर्चा, राजनीति, व्यर्थ–भाषण, कटु–भाषण क्या ये सब व्रत में हैं ? उसी दिन से नियम बन गया कि, यातो मौन ही रहेंगे अथवा किसी के आकर बैठते ही श्रीभगवच्चर्चा प्रारम्भ कर दिया करेंगे। जब तक वह बैठा रहेगा तब तक बकते ही रहा करेंगे।

(1055) एक वाक्य मिला–तुमने जो लक्ष्य बनाया है, क्या वह दृढ़तम है ? यदि हाँ, तो जितने कार्य करोगे सब साधना ही माने जायेंगे।

(1056) किसी ने भगवान बुद्ध की परीक्षा लेनी चाही। वह एक बिल्ली और चूहा पकड़कर लाया और छोड़ दिये इनके सामने। बिल्ली ने चूहे को उठाकर छाती से लगा लिया। ये है सत्यता से श्रीप्राणनाथ के लगे हुए प्रेमी की पहिचान।

(1057) यदि हमारा श्रीप्राणनाथ के साथ प्रेम हो गया है, तो संसार की सभी वस्तुओं के साथ प्रेम होगा ही। समस्त

संसार हमें प्रेममय दिखाई देने लगेगा ही।

(1058) एक ही बात हाथ पड़ी कि–इतने स्वार्थी बनो कि, अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ सूझे ही नहीं। अपना स्वार्थ है भजन करना। जैसे संसारी लोग आपस में उसी से मिलते हैं,उसी के पास बैठते हैं, जिससे अपना कोई मतलव हल होता हो। इसी प्रकार हमें भी अपना समय वहाँ ही खर्च करना चाहिए जहाँ से भजन में बृद्धि होती हो। भजन के बाधकों से सर्वथा दूर ही रहे।

(1059) यद्यपि यह पथ सबसे निराला है, तथापि अपने को सबसे कुछ न कुछ सीखने को मिलता है। चाहे वह सकामी हो, चाहे निष्कामी। इस पथ में कर्त्तव्य पालन ही मुख्य है। अपने काम शौच, स्नान, भोजन, शयन, सब जब चाहे तब प्रेम से हो जाते हैं। किन्तु इनके (श्रीभगवान के) कार्य सब इनकी कृपा पर ही छोड़ दिये जाते हैं। हम जिस दरबार के हैं, वहाँ यह बात नहीं मानी जाती है। वहाँ तो सतत् कर्त्तव्य पालन पर ही ज़ोर दिया जाता है। हमें ही सब कुछ करना होगा। चाहे अब करलें, चाहे करोड़ों जन्मों के बाद। करना सब हमको ही होगा। कृपा पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना, वहाँ नहीं माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि, कृपा को भूल जायँ। साधक इनकी कृपा को न भूले। जो कुछ मेरे द्वारा हो रहा है, वह सब आपकी कृपा ही तो करा रही है। इस प्रकार अपने को अहंकार की शिकार होने से बचाता रहे। यदि कहीं अभिमान कर बैठा कि, मैं त्यागी हूँ, वैरागी

हूँ, तपस्वी हूँ, तो याद रखो कि, आई हुई कृपा फट् से लौट जायगी।

(1060) जहाँ तक संसारी लोगों से सम्पर्क है, अशान्ति–खेद तो रहेंगे ही।

(1061) जीव की परिभाषा है फैलाव। अर्थात् असन्तोष।

(1062) असन्तोष और अशान्ति दोनों आपस में दम्पति हैं, जहाँ पति होगा वहीं पत्नी होगी। इसी प्रकार सन्तोष और शान्ति भी आपस में पति पत्नी हैं। जहाँ सन्तोष होगा वहीं उसकी पत्नी शान्ती होगी। इनमें से जिस पुरुष को हम पकड़े रहेंगे उसी की पत्नी हमारे आँगन में नाँचती रहेगी।

(1063) संसार के किसी भी अच्छे बुरे काम को करने में जीव को किंचित भी लज्जा, शर्म, संकोच नहीं होता। बिना किसी की ओर देखे सहज़ता से कर लेता है परन्तु जब श्री भगवद् की ओर बढ़ने लगता है,तब सारे लज्जा,शर्म, संकोच उसके ऊपर चढ़ बैठते हैं। यही जीव के अनर्थ का कारण है।

(1064) ईश्वर में तो कोई कामना है नहीं। जब जीव भी कामना रहित बनेगा, तभी मिलन सम्भव है। यह जीव के वस की बात नहीं, इतना बन जाना। यह तो किसी महापरुष की कृपा से ही सम्भव है।

(1065) अपने आप जितना वैराग्य का स्वाँग सजेंगे, उतने ही फँसेंगे। स्वाँग का अर्थ दिखावा करना।

(1066) अपने–अपने बिचार हैं। हमारे बिचार से हृदय

इनके लिए यह प्रथमावस्था है। जो वस्तु प्रभु से बचा ली जायेगी उसको माया पकड़ लेगी। (श्रीराधाष्टमी,6–9–81)

(1067) यह देह किसी को दुखद न बने–यह उपाय है देहाध्यास छुड़ाने का। किसी का अपमान न करे। नहीं तो प्रेत बनना पड़ेगा। प्रेत का सुभाव होता है–दूसरे का अपमान करना, दुख देना।

(1068) यदि किसी के सुख को देखकर आँखों में प्रसन्नता के आँसू आ जायँ, तो देव बन जाओगे।

(1069) श्रीभगवत्–कृपा कोई वस्तु है। सब कुछ करते हुए अवलम्ब केवल श्रीभगवत्–कृपा का ही रहे। अर्थात् सब कुछ करते हुए अन्तर में भाव रहे कि, सब आपकी कृपा ही तो है, मैं क्या करने के लायक हूँ ? तथापि अपने करने में किंचित भी प्रमाद नहीं। (ता0 6–9–81 रवि0सायं 7 बजे)

(1070) प्रेमी का एक ही काम है, इनसे दृढ़–सम्बन्ध, दृढ़ संकल्प, दृढ़–सान्निध्य, बनाये रखना और इनका एक ही काम है, उनको पूर्ण करना। परन्तु सावधान! इतर संकल्प न उठने पायें।

(1071) प्रेम–पथ में प्रधान है–चिन्तन। इसकी बड़ी ही आवश्यकता है। साधक का परम–कर्तव्य है सबसे मैत्री। हृदय मृदु। रूक्षता न होने पाये।

(भाद्र शुक्ला 9 वीं, ता0 7–9–1981 सोमवार)

(1072) आज एक बात याद आई। है तो आत्मश्लाघा ही, पर है बड़े ही काम की। हम जहाँ पढ़े, जहाँ नौकरी की,

हाथरस में जहाँ रहे, प्रारम्भ में यहाँ भी श्रीमिर्ची महाराजा की तिवारी पर रहे। और यहाँ भी अब यह बल्लभकुली मन्दिर में रह रहे हैं। जहाँ–जहाँ भी रहे, वहाँ वहाँ के ही लोग चाहते रहे कि, पण्डितजी सदैव हमारे यहाँ ही रहें। अपने इस अनुभव के आधार पर ही हमारा तुमसे कहना है कि, अपनी रहनी ऐसी बनालें कि, जहाँ भी रहें वहाँ के ही लोग अपने से प्रसन्न ही रहें। सबका प्रिय बनकर ही रहे। "सबके प्रिय सबके हितकारी" इसकी बड़ी ही आवश्यकता है और इससे बहुत ही लाभ भी होता है। हमें इससे बहुत ही लाभ मिला है। इसीलिए हम तुम सभी से यह कह रहे हैं। (भाद्र शुक्ला10वीं, ता0 8–9–1981 मंगलवार)

(1073) स्वयं को निर्दोष समझने, से बड़ा कोई पाप नहीं।

(1074) **गृहस्थ की रहनी**–माता–पिता और श्रीसद्गुरु में में पूरी श्रद्धा है, तो चाहे जहाँ रहैं, वहीं भजन बन जायेगा। कुसंग से बचे, कामना कोई हो न। पवित्रतम–जीवन हो, पत्नी के लिए पति ही ईश्वर हो। पतिव्रत–धर्म का पालन हो। पति के लिए एकपत्नी व्रत–पालन हो। सतोगुणी (सात्विकी) आहार हो, श्रीरामायणजी का पाठ हो। भजन कीर्तन हो, साधु–सेवा हो। छोटे–बड़ों का सम्मान करें, बड़े छोटों पर प्यार करें। यह सब किसी सन्त की आज्ञा से ही हो, अपने मन से नहीं। उनके श्रीचरणों में पूर्ण–श्रद्धा हो। कलह, क्रोध, विरोध किसी से भी हो न। जो कुछ परिस्थिति आवे उसको श्री भगवत्कृपा मानकर सहलें। एक दूसरे से

प्रेम हो, ऐसा मानकर कि, यह मेरे बाबा का, या (श्रीभगवान् का) है। इतना करलोगे, तो सुख, शान्ति, आनन्द इतना आयेगा कि, उकता जाओगे, झेल नहीं पाओगे। यह तुम कर सकते हो। वह घर वैकुण्ठ बन जायेगा। यह रहनी एक नव विवाहिता दम्पत्ति को आशीर्वाद के रूप में गृहस्थ में प्रवेश करने से पूर्व आदेश की।

(ता0 8–9–1981 समय लगभग 11 बजे)

(1075) श्रीगोविन्ददासजी ने कही कि, बाबा अब आपके पीछें कोई ऐसा मार्ग–दर्शक नहीं रह जायेगा, जो सही–सही मार्ग दर्शन कर सके। इनकी बात सुनकर उत्तर में उनसे तो कुछ भी नहीं बोले, परन्तु अपने निकट बैठे हुए एक बालक से बोले कि, सुन रहे हो? ये क्या कह रहे हैं ? सावधान! समय बहुत ही दुस्तर है, कारण कि,साधक पहलें तो चलता है श्रीसद्गुरु के अवलम्ब से। परन्तु पीछें चलकर अपने त्याग वैराग का बल हो जाता है। श्रीसद्गुरु का अवलम्ब ही एक इस पथ का आधार है। वह छूटा औंर माया को अवसर मिला। वह तो अवसर देखती ही रहती है। फिर तो जो कुछ होता है, वह सब देखते ही बनता है। इसलिए दृढ़ श्रद्धा! दृढ़ अवलम्ब!! मृत्यु की अन्तिम स्वाँस तक अवलम्ब न छूटने पाये। फिर तो यह पथ अति सरल सुगम हो जाता है। यह खवर ही नहीं चल पाती कि, मंजिल कब पूरी हो गयी। इतना सरल हो जाता है यह पथ, यदि किसी सन्त का दृढ–अवलम्ब हो तो। पर यह

बन नहीं पाता। इसलिए आज की बात ध्यान रखना। सावधान! सतत् सावधान्!! हमें तुम से पूरी–पूरी आशा है। जैसे किसी के पुत्र को देखकर लोग उसके पिता की याद कर लेते हैं कि, बेटा तू उनका है क्या रे! ऐसे ही तुम्हें देखकर लोग हमारी याद कर लिया करें कि, तुम पण्डितजी के लाडिले हो क्या? ऐसी रहनी से रहना।

(क्वार बदी1,ता015–9–1981 मंगलवार समय 10.30 परं)

(1076) कलियुग का इन तीनों पर पूरा हाथ है–साधु, ब्राह्मण और स्त्री। वह कहता है कि, तुम चाहे जो कुछ करो, मुझे कोई आपत्ति नहीं। परन्तु तनिक दंभ को स्थान दिये रहना। और इनका (प्रभुका) स्वभाव है, दंभ का चौरे में भण्डा फोड़ना। उदाहरण दिया–राजा भर्तृहरि के राज्य में एक ब्राह्मण शिव–भक्त का। जिसको शिवजी ने फल दिया था कि, इसको जो खायेगा, वह अमर हो जायेगा। ब्राह्मण के मन में आई कि, मेरा अमर होकर क्या होगा ? यदि हमारा राजा अमर हो जाय तो अच्छा रहेगा, क्यौंकि वह बड़ा धर्मात्मा है। ऐसा विचारकर, उस ब्राह्मण नें वह फल अपने राजा को जा दिया। राजा की आसक्ति रही अपनी रानी में, उसने वह फल अपनी रानी को जा दिया। रानी का गुप–चुप प्रेम सम्बन्ध था सेनाध्यक्ष से। उसने वह फल उसको दे दिया। सेनापति का सम्बन्ध था नगर की एक वेश्या से,उसने वह फल उसको जा दिया। वैश्या ने विचार किया कि, हमारा राजा बहुत ही धर्मात्मा है। यदि वह

इसको खालेगा तो सदा सदा को अमर हो जायेगा और पूरे देश में धर्म का साम्राज्य छाया रहेगा। ऐसा बिचारकर वेश्या ने वह फल राजा को जा दिया। जब लौटकर वह फल पुनः राजा के पास पहुँचा, तब पोल खुली कि, जिस रानी पर मुझे इतना विश्वास और प्रेम है, वह भी धोखेबाज है ? तब राजा को वैराग्य हो गया और सन्यास ले लिया। यदि इस समय कुछ प्राप्त करना है, तो दंभ न रहने पाये। भजन भलेही कम हो, पर दंभ न रहने पाये। दंभ करना पड़ता है तब, जब पुजवाने की लालसा होती है। यह न होने पाये। सावधान! इस पथ के पथिक को विशेष आवश्यकता है, इससे बचने की। जो हो पूरी सत्यता से हो।

"जानहि राम कुटिल करि मोही"।
लोग कहहु गुरु साहिब द्रोही।।
परन्तु "सीता राम चरन रति मोरे"।
अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे।।

ऐसी रहनी हो कि, बस हम जानें या हमारे प्रियतम जानें। जो कुछ हो प्रियतम के लिए ही हो।

(अश्विन कृ0 6, ता019–9–1981 शनि,शाम 4.30 बजे)

(1077) आज से लाखों वर्ष पूर्व जीव को ईश्वर से विमुख कराने की तीन बातें निश्चिन्त कर ली गयीं। द्रव्य, स्त्री, और पुजवाने की लालसा। ये ही मूल हैं। जब तक संसारी लोगों से सम्पर्क रहेगा, अशान्ति तो रहेगी ही।

(1078) एक महा महावाक्य मिला–कोई निन्दा करे अथवा

प्रशंसा, ऐसा समझे कि, चिरैया चीं–चीं कर रही हों। दोनों की उपेक्षा ही रहे। दोनों को मत सुनों। कोई निन्दा करेगा, किस की ? शरीर की। कोई प्रसंसा करेगा, किस की ? शरीर की। मैं तो शरीर हूँ नहीं। फिर ये दोनों बातें मेरे ऊपर कैसे लागू हो सकती हैं ? मैं तो अपने प्रियतम का हूँ। विशेष ध्यान रहे, अपने लक्ष्य का।

(आश्वि. कृ. 9वीं,ता0 21–9–1981 प्रातः7.45 बजे मंगलवार)

(1079) संसारी लोगों के द्रव्य में, संग में, सेवा में रोग होता है। वह उनके सम्पर्क से साधक के जिम्मे पड़ जाता है। जितनी चिकित्सा होती है उतना ही बढ़ता है। क्योंकि चिकित्सा होती है उन्हीं के पैसे से ही। इसलिए इनका सम्पर्क न बनने पाये। जितनी बने तितिक्षा ही हो।

(ता0 21–9–1981)

(1080) सुनैं न काहू की कही, कहै न अपनी बात।
नारायण वा रूप में, मगन रहै दिन रात।।

(1081) कलियुग का पूरा हाथ–महद् अपराध करा देना। सतयुग का पूरा हाथ–श्रद्धा करा देना।

(1082) इस समय जो कृपा हो रही है,उसकी पूरी सँभाल में लगे रहें जीवनभर। जीवन की अन्तिम स्वाँस तक अपराध न बनने पायें। अपराध क्या है ? अश्रद्धा। प्रथम श्रद्धा ही ढ़ीली पड़ती है। फिर दोष दुर्गुण दीखने लगते हैं। बस पतन प्रारम्भ हो गया। सावधान्! जो आज्ञा हो जाय, उसको पूरे श्रद्धा, विस्वास और आत्मीयता से, जीवन की अन्तिम

स्वाँस तक पालन करते रहना। तभी बच पाओगे। सावधान अपने मन बुद्धि से काम मत लेना। अपने लिए कुछ भी बचाकर मत रखना। बस फिर तो आगे की हमारी जिम्मेदारी।

(1083) महापुरुष तो कृपा कर देते हैं, परन्तु पात्रता न होने के कारण उसकी सँभाल नहीं हो पाती है। देखने में एक पर पूरी कृपा दीख रही है और दूसरे पर नहीं। किन्तु उसकी सँभाल नहीं है, तो वह काम नहीं कर पायेगी। तथा कुछ लाभ भी नहीं मिल पायेगा। परन्तु जिस पर कृपा नहीं दीख रही है और उसकी पूरी श्रद्धा है, पूरी आत्मीयता है तथा जो कुछ कृपा है उसकी पूरी सँभाल है, तो कृपा स्वतः ही मिलती चली जायेगी। उसका परिणाम भी अति सुन्दर ही रहेगा।

(1084) सावधान्! एकमात्र आश्रय श्रद्धा का ही रहे। जब तक अपने तप, त्याग, वैराग और साधन का तनिक भी अहंकार रहेगा, तब तक कृपा ठहर ही नहीं सकती।

(1085) इनके (सन्त के) सामने सदैव शिशुवत ही बना रहे। सदैव विनम्रता, दीनता, सरलता में ही चूर रहे। जिस किसी ने भी आजतक कुछ पाया है, वह शिशु बनकर ही पाया है।

(1086) इनकी ओर न देखे कि, ये मुझ पर कितनी कृपा कर रहे हैं ? अथवा कितने प्रसन्न हैं ? यही सोचे कि, हम इनकी ओर कितने झुके हैं? हमारा जीवन इनके लिए कितना समर्पित है?

(1087) यही बात सन्त के विषय में भी है, सन्त और

श्रीभगवान् ये दो कब हैं ? ये तो एक ही हैं। सदैव अपनी पात्रता की ओर ही देखे। अपने को पात्र बनावे। श्रद्धा–दृढ़ करे। कृपा में कमी नहीं हैं। इसमें तनिक भी सन्देह न रहे। कदाचित यह प्रतीति हो कि, मेरे ऊपर कृपा की कुछ कमी है, तो यही समझे कि, परीक्षा ले रहे हैं और तपाकर, पात्र बना रहे हैं। इनके यहाँ कृपा में कंजूसी कहाँ ?

कनकहिं बानि चढ़इ जिमि दाहें।
तिमि प्रियतम पद नेम निवाहें।।

ये पात्र बना रहे हैं। इसी से कृपा में विलम्ब है।

(1088) अपने में निरहंकारिता लाना ही अपने को पात्र बनाना है।

(1089) कृपा की वर्षा तो सर्वत्र हो ही रही है, किन्तु ये कृपारूपी जल, निरहंकारता (दैन्य) रूपी गड़्ढ़े में ही रुक पाता है। आश्चर्य यह है कि, कृपा दीखती ही नहीं है। कृपा ही कृपा है, किन्तु कमी है अपनी। इनके यहाँ तो चूक है ही नहीं। (आश्विन् कृ०11,23–9–1981 श्री गुरुवार)

(1090) जब तक चित्त में कोई लौकिक चाह आसन जमाये हुए बैठी है तब तक चाहे सन्त के पास रहलो। चाहे सेवा करलो। चाहे सत्संग करलो, चाहे सुनलो, किन्तु संसार से पिण्ड नहीं छूट सकता, क्योंकि वह कामना ही सारी साधना को खाती रहेगी। हम इतना अनर्गल बक जाते हैं, किसी को सुनाने के लिए नहीं। हम तो अपना पाठ याद करते (दुहराते) हैं। उसमें से किसी को कुछ मिल जाय, वह पकड़

ले, तो यह हमारी सेवा हो गई और उसका सौभाग्य।

(1091) बड़े सन्त महापुरुष, जो आज्ञा दें, उसका प्राणपण से पालन बने। उनके चरित्रों में से कुछ का अनुकरण भी किया जा सकता है, सबका नहीं। क्योंकि वे सिद्ध हैं। साधक को आज्ञा–पालन ही सब कुछ है।

(1092) साधक की एक ही परिभाषा, एक ही लक्षण, एक ही स्वरूप है–जो आज्ञा महत् से प्राप्त हुई हो, उसका जीवनभर सच्चाई से पालन। स्वतन्त्र चलेगा, तो साधक का पतन हो जायेगा। इसलिए अपने मन से न चले, केवल आज्ञा पालन, बस। यही श्रीभगवत्–प्राप्ति और परम–पद प्राप्ति का परम सूत्र है और अपने मन बुद्धि से चलना, पतन और विपत्तियों का आवाहन करना है।

(1093) प्राण खो दे, पर सद्गुरु आज्ञा के विरुद्ध कोई काम न होने पाये। तब तुम श्रीभगवान को मत ढूँढ़ो, श्रीभगवान तुम्हें स्वयं ढूँढ़ लेंगे।

(1094) साधक में एक ही बात सबसे ऊँची होती है कि, इनके बिना (श्रीभगवान के बिना) उसकी एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जाती है। (ता0 26–9–1981 शनि प्रातः10.30बजे।)

(1095) श्रीरामायणजी एवं श्रीभागवतजी इष्ट स्वरूप ही हैं। एक महा–महा बाक्य है कि–श्रीरामायणजी सुनना, पाठ करना, श्रीरघुनाथजी के समीप बैठना है और श्रीभागवतजी का पाठ सुनना अथवा करना, श्रीकृष्ण के समीप बैठना है।

(आश्विन कृष्णा 13, ता0 26–9–1981)

(1096) मर जाय, परन्तु प्राण रहते पाप न बने।

(1097) गुरुजनों का सामना न कर बैठे, सहले, कुछ हो, पर आँख न उठे। यदि आँख उठी तो पतन शुरू।

(1098) क्रोध न करे, जो जाय सो जाय, रहे सो रहे, पर किसी भी वहाने से क्रोध न करे।

(1099) अपमान सहले, किन्तु दूसरे का अपमान न करे।

(1100) स्त्री से सम्पर्क कैसे भी न बने ?

(1101) अपनी ओर से अखण्ड–ब्रह्मचर्य का पालन करे। (रोग बिवशता की बात अलग है)।

(1102) सत्यता का पूरा पालन बने।

(1103) कटुता, रूक्षता, ईर्ष्या, ये न होने पायें।

(1104) दंभ, कपट, छल, छू न जाय।

(1105) हमारी तो दृढ़ धारणा है कि, यदि एक ही जीवन में पार होना चाहे तो–सरल उपाय है–24 घन्टा केवल इनके लिए। एक भी क्षण व्यर्थ न जाय। खाले, पी ले, सो ले, किन्तु अन्य समय केवल इनके ही लिए हो।

(1106) जो विचार बार बार सुना जाता है, कहा जाता है, पढ़ा जाता है, वह कालान्तर में स्वभाव बन जाता है। इसलिए एक नियम बन जाय, प्रतिज्ञा करले कि–जो बोलेंगे इनके लिए। जो सुनेगें इनके लिए। जो सोचेंगे इनके लिए। जो छूयेंगे इनके लिए। जो करेंगे इनके लिए। "केवल और केवल" इनके लिए ही, व्यर्थ नहीं। संसार के विषय राग–द्वेष, परचर्चा, परनिन्दा आदि प्रतिज्ञा पूर्वक नहीं।

(1107) अध्यात्म पथ के पथिक का परम–कर्तव्य है कि, वह सदैव ख्याल रखे कि, हम इस समय क्या कर रहे हैं ? किसके लिए कर रहे हैं ? अपने लिए या इनके लिए। श्रीहनुमानजी ने लंका जलाई, किसके लिए ? इनके लिए। जो हो केवल इनके लिए ही हो।

(ता0 27–9–1981 रविवार समय 11.30 से 12.15 तक)

(1108) **प्रश्नः**– महत्ता कार्य की है या लक्ष्य की ?

उत्तरः– वास्तव में महत्ता तो लक्ष्य की ही है। लक्ष्य यदि दृढ़ हो, तो कार्य तो स्वतः होगा ही। प्रधान तो लक्ष्य ही है। ये लक्ष्य ही पुनर्जन्म का कारण बना हुआ है। यही पीछे चलकर वासना बन जाता है। (ता0 28–9–1981)

(1109) मन्दिर में दो साधुओं को परस्पर लड़ते देखकर निज जनों से बोले कि–ये दोनों यहाँ आये ब्रजवास के लिए और आपस में ऐसे लड़े कि, यदि एक दूसरे के पास आ जाता, तो एक दूसरे को चबा ही जाता। इनको देखकर शयन के समय कहा कि, लिख लेना। भजन–साधन भले ही कम बने तो कोई बात नही, पर यह नहीं होने पाये। सावधान! क्रोध विरोध को अवसर न दें।

(आश्विन शु0 5,ता03–10–1981 रवि)

(1110) सारी त्रुटि एक साथ अध्यात्म में ही प्रवेश कर गई हैं। सत्यता, श्रद्धा, तत्परता में से एक भी नहीं हैं।

(1111) आज के दिन तीन बात पकड़नी हैं–नं0(1) 24 घन्टे केवल इनके लिए अर्थात् अपना पूरा समय केवल इनके

लिए ही। नं0(2) जीभ चले, श्रीभगवत्‌नाम के लिए, पाठ के लिए, सेवा के लिए। नं0(3) श्रवण–सत्संग सुनने के लिए, पाठ सुनने के लिए अर्थात् सुनना, बोलना सब इनके लिए ही हो। अपने लिए नहीं हो।

(1112) दो बात कभी मत भूलो–कृपा का आभार और कृपा की सँभार। (आश्विन शु0 11, ता0 9–10–1981 शुक्रवार)

(1113) एक बात जीवनभर ध्यान रहे ? बड़े गुरुजन कुछ बात कह जायँ, तो उसको मान ले। नहीं तो परिणाम ऐसा होगा, जैसा एक सतपथ बिमुख का होता है।

(1114) गृहस्थ संसारी लोग, यदि कुछ न कर पायें, तो सम्भव है ईश्वर–ध्यान न दे, किन्तु जिनकी खाने, पीने, रहने, पहनने की सारी व्यवस्था प्रभु ने कर रखी हो और श्रीसद्‌गुरु से भी मिला दिया हो। फिर यदि वे चूके और समय का पूरा लाभ नहीं उठाया तो ईश्वर उनको क्षमा नहीं करेगा ? सावधान! अब चूक न बने। अवसर को पूर्णरूप से सँभाल लो। (आश्वि शु0 द्वादशी, ता0 10–10–1981 शनिवार)

(1115) जो जहाँ है, वहाँ का कर्तव्य–पालन पूरा करले, तो आगे का मार्ग स्वतः सुलभ बन जायेगा। पर यह बन नहीं पाता है।

(1116) कहीं प्रेमियों की चर्चा हो, तो मन ललचे कि, मैं भी ऐसा बनूँ। यही है सबका सार। इसी के लिए पूरा प्रयत्न।

(1117) अब तक जो संकल्प बनाते आये वही पाते आये। अब संकल्प बनें केवल इनके (प्रभुके) लिए ही।

(कार्तिक कृष्णा 9 वीं ता0 21–10–81 बुधवार)

(1118) राग–द्वेष से बचने का एक ही सर्वोत्तम उपाय है। सतत् अपने साधन में जुटा रहे।

(1119) जीवन "केवल और केवल" इनके रिझाने के लिए ही बने। और ठीक ठीक सत्यता से बनें। दंभ न हो। संसार को धोखा न दें, तो एक ही जन्म में बेड़ा पार।

(1120) साधन किया और ऊँची स्फुरणा न उठीं, तो जान ले कि, साधन ठीक नहीं बन रहा है। कहीं कोई त्रुटि है,साधन ही आगे का मार्ग सुझा देता है।

(1121) प्रेमदेव में एक बड़ी गम्भीर बात है कि–प्रेम के अतिरिक्त और कोई कामना ही न उठने पाये।

(1122) प्रेमपथ में हठ नहीं है। यहाँ तक कि, इनको बुलाने की भी कामना नहीं करे। अनुत्ताप हो केवल एक कि–हाय! हाय! इन्होंने कितनी कृपा की,किन्तु मैं कुछ नहीं कर पाया।

(1123) जिस हृदय में संकीर्णता है, उसमें श्रीभगवान का क्या काम ? वहाँ तो कलियुग का ही निवास होगा।

(1124) श्रीभागवतजी के एक श्लोक का भाव है कि–तुम्हारा मन ही कह देता है कि, तुम कहाँ से आये हो और कहाँ जाओगे ? यह अपने मन से ही पूछलो ?

(1125) पतिब्रता यदि भूल से भी, घूँघट की ओट से भी, परपुरुष को देख ले, तो पातिव्रत नष्ट हो जाता है। ऐसे ही साधक को चाहिये कि, भूल से भी माया की याद न बने, विषय–विकारों में चित्त न जाय। यही है अध्यात्म। सब कुछ

श्रीभगवान के लिए। जब तक ऐसा नहीं बनेगा तब तक उपासना करतें हुए भी कल्प के कल्प बीत जायेंगे। फिर भी कल्याणकारी कोई वस्तु हाथ नहीं लग सकेगी।

(1126) दो0:–जिमि तिरिया पीहर बसे,सुरति रहे पिय माँहि।
ऐसे जन जग में रहे, हरि कों बिसरत नाँहि।।

जैसे पतिव्रता का मन अपनी माँ के घर पर रहते हुए भी निरन्तर अपने पति के पास ही रहता है, ऐसे ही अपनी वृत्ति भी निरन्तर अविच्छिन्न तैलधारावत् इनमें ही लगी रहे, यही उपासना है। यही करना पड़ेगा।

(1127) यह जो सत्संग है न? मात्र समय बिताने के लिए ही नहीं हैं, कुछ लेने के लिए भी है। "सत्संगति संसृति कर अन्ता", इतना महत्व है इसका।

(1128) जिसने पूरे मन से पूरी सत्यता से भजन किया है, उसी को भजन न बनने पर दुःख होता है।

(1129) सन्त श्रीकबीरदासजी सत्य के ग्राहक रहे। वे ऊपरी बातों में सन्तोष नहीं मानते। उनका सिद्धान्त है कि–जो कुछ भी हो इनके लिए और इनके समक्ष ही हो।

(1130) आराधना ही जीवन बन जाय, यही परम–कर्तव्य है। यह तभी बन पायेगा, जब जीवन पवित्रतम होगा। यदि जीवन पवित्रतम नहीं है, तो यह बन नहीं पायेगा।

(1131) **प्रश्नः**–व्यर्थ चिन्तन न हो, इसका कोई उपाय है ?

उत्तरः– दो बातें हैं–अपना साधन इतना बढ़ा दे कि, व्यर्थ चिन्तन के लिए समय ही न बचे। अर्थात् साधन के पश्चात्

निरन्तर साधन की ही चिन्ता लगी रहे कि, उन साधकों जैसा साधन कैसे बने, जो संसार में रहते हुए भी संसार से कोसों दूर ही रहते हैं ? दूसरी बात है यह कि–इनके प्रेम में डूब जाय। तो यह तो अपने वस की बात ही नहीं। कारण कि, यह तो किसी चीज का फल है। अर्थात् यह करने की बात नहीं, होने की बात है। करने की बात है पहली। उसमें कमी न रह जाय तो विस्वास है कि, उसके फल में एक न एक दिन यह भी होकर ही रहेगा।

(1132) तीन बाते हैं–साधन, साधनोपयोगी जीवन और साध्य। इनमें साधनोपयोगी जीवन आवश्यक है।

(1133) इस पथ में 2 बातों की बड़ी सावधानी रखे– जो इनकी ओर चल रहा हो, उसकी तन–मन–धन से सहायता करदे और जो इनकी ओर लगा हुआ हो, उसको इनसे अलग करने में निमित्त न बनें।

(1134) दीनता–(अमानिना मानिदेन, तृणादपि सुनीचेन), आत्म–चिन्तन (मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है, मैं क्या कर रहा हूँ आदि आदि) और श्रीसद्गुरु सेवा–इन तीनों को जो कर लेगा, उसको कोई रोक नहीं सकता पार होने से। यमराज भी उसको दूर से ही हाथ जोड़कर प्रणाम कर देगा।

(अगहन वदी पंचमी, ता0 16–11–1981 सोमवार)

(1135) साधक केवल साधन में जुट जाय और कोई संकल्प न बनावे, तो माया का भय नहीं रहता। साधन में अपूर्व–शक्ति

है। (अगहन वदी पंचमी, ता0 16–11–1981 सोमवार)

(1136) साधन ही साधन को बढ़ाता है, साधन ही साधक को सँभालता है और साधन ही साध्य से मिलाता है।

(1137) एक भी क्षण साधन से अवकाश न मिले, यह है साधन की सँभाल।

(1138) साधन की इतनी व्यस्तता हो जाय कि, शरीर के काम भी विवश होकर ही करने पडें, तब फिर माया की पेश नहीं खाती और तभी हाथ नहीं मार पाती। क्यौंकि, उसके लिए अवकाश ही नहीं है।

(1139) इच्छा एक ही बने कि, साधन ठीक बन जाय।

(1140) रुग्णावस्था के कारण यदि भजन में बाधा आये तो औषधि ले ले।

(1141) साधन के लिए आहार की सँभाल करनी ही पड़ेगी।

(1142) योग्य शिष्य–शरण में आने पर संकल्प बने कि, यह इसी जन्ममें पार हो जाय। यही श्रीसद्गुरु की विशेषता है।

(1143) सरलता, विनम्रता, उदारता, क्षमाशीलता ये साधुता के भूषण हैं। इनको धारण कर लिया तो एकही जन्ममें बेड़ा पार और बड़े–बड़ों की कृपा भी स्वतः ही प्राप्त हो जायेगी।

(1144) यदि सुख भोगने की, आराम की, सुविधा की कामना बनी तो माया फँसा लेगी। यदि कुछ कामना है, तो अवश्य ही फँसेगा। जहाँ कामना होती है,माया वहीं हाथ मारती है।

(1145) प्रारम्भ में जितना ऊपरी त्याग–वैराग होता है, पीछे चलकर उतना ही भोग्य बढ़ जाता है। जैसें ज्वर उतर

जाने के बाद आहार अधिक करना पड़ता है। ठीक यही दशा ऊपरी त्याग–वैराग की होती है। इससे बचने का केवल एक ही उपाय है। जिसको अंग्रेजी में कहते हैं "ओनली"। किसी सन्त का दृढ आश्रय। फिर अपने मन से कुछ न करे।

(1146) सदैव अपने में ही देखे कि, हमारा मन क्या चाह रहा है ? हमारी कामना क्या है ? माया से बचने का उपाय है केवल एक। प्रतिज्ञा बन जाय कि–जो करे, जो कहे, जो सुने, जो देखे, जो बिचारे, सब कुछ इनके लिए ही हो।

(1147) यदि साधन केवल इनके लिए ही है। तो माया हाथ नहीं मारेगी। कामना न होने पर ही मायाराज्य से निकल सकता है। यदि कहीं कठिनाई आयेगी तो जिसका दृढ़ आश्रय है, वह सँभाल लेगा, बचा लेगा।

"रीझत राम सनेह निसोते"।

(1148) इस पथ में अपने किसी सुख के लिए इन पर (भगवान पर) भी दबाब डालना नहीं होता है। अपितु इनका भजन केवल इनके लिए ही करना होता है। इनके लिए भी, इन पर दबाव नहीं। केवल कर्तव्य–पालन! कर्तव्य पालन पर ही जोर दिया गया है।

(1149) इनके यहाँ चूक नहीं है, हमारे हित की बात ये हमसे बहुत ही अधिक जानते हैं। इन्हें हम न सुझावें। न सन्त पर दबाव डालें, न श्रीभगवान पर। अपने कर्तव्य–पालन पर ही पूरा ध्यान रखें।

(1150) "स्वधर्म निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः"। जीव का केवल इतना ही अधिकार है कि, वह अपना कर्तव्य–पालन करे। सन्त की जीवनी से सीख कि, ये कैसे रहे। इनसे रहनी सीखे। प्रेम–पथ में दबाव नहीं हैं। याचना नहीं हैं।

(1151) सबका सार है एक–किसी सन्त का दृढ़–आश्रय। न अपने मन से यह, न अपने मन से वह। जैसे सन्त चलावें क्रमशः वैसे ही चलता जाय। वस खेल–खेल में ही बन गया सब काम।

(1152) चलते–चलते..ठीक चलते–चलते हुए भी जो रुक जाते हैं, उसमें कारण है यह कि, यातो श्रीसद्गुरु नहीं मिले अथवा श्रद्धा नहीं हुई। श्रद्धा शिथिल होने पर ही साधक रुक जाता है।

(1153) प्रथम–प्रथम सन्तों में भाव बने, तब आगे का मार्ग सुलभ।

(1154) मोह के मिटाने का एक ही उपाय है, इनमें प्रेम बने। इसका दृढ़ संकल्प। ज्यौं–ज्यौं प्रेम बढ़ता जायेगा, मोह मिटता जायेगा, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

(1155) यहाँ श्रीकुम्भनदासजी के पुत्र की मृत्यु का उदाहरण दिया और कही कि, जिस वन में सिंह रहता है, वहाँ कोई नहीं रह सकता। ऐसे ही जिस अन्तःकरण में प्रेम--देवता विराजे रहेंगे, उसमें मोह आदिक टिक ही नहीं सकेंगे।

(1156) सुग्रीवजी के द्वारा कही हुई ये दो चौपाई बड़े ही काम की हैं– नारि नयन सर जाहि न लागा।

घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ पास जेहि गर न बँधाया।
सो नर तुम समान रघुराया।।

इनका भाव स्पष्ट है कि, यदि काम, क्रोध, लोभ, इन तीनों से बच जाय, तो जीव ही ईश्वर बन जाता है। इनसे प्रतिज्ञा कर करके बचे तो एकही जन्म मे बेड़ा पार।

(1157) संकल्प कोई न उठे। यदि उठे ही, तो "केवल और केवल" इनके लिए ही उठे। जब तक संकल्प बन्द नहीं होंगे, तब तक आवागमन भी बन्द नहीं होगा। ये विश्व केवल संकल्प ही तो है। जो–जो संकल्प बनते गये, वे ही सब आज साकार हो रहे हैं। यदि इनका संकल्प बनता, तो ये भी मिलते। (अगहन बदी 12, ता0 23–11–1981 सोमवार)

(1158) शास्त्र बिहित ऐसा कोई सद्‌गुण न हो, जो प्रेमपथ के पथिक में नहीं हो। अर्थात् समस्त सद्‌गुण प्रेमी में कूट कूटकर भरे हुए होने चाहिए।

(1159) बुलाकर घटना सुनाई–बोले कि–केवल सुनने के लिए ही नहीं हैं, वल्कि अपने सीखने के लिए है। एक बहुरूपिया राजा के दरबार में पहुँचा। राजा ने उससे कही कि, तुम हमें भुलावा में डालकर अपना नाटक करो, तब तो हम जानें। बहुरूपिया हँसता हुआ सिर झुकाकर चला गया। कुछ दिन पश्चात् एक दिव्य सन्यासी का रूप रखकर सहसा राज–दरवार में उपस्थित हो गया। सन्यासी सन्त को देखकर राजा ने तुरन्त सिंहासन से उतरकर सन्त का

अभिवादन किया। दण्डवत प्रणाम करके राजसिंघासन पर विराजमान किया। विधिवत् पूजन किया। भोजन कराके बहुत सा धन दक्षिणा स्वरूप श्रीचरणों में अर्पित किया। सन्यासी महाराज ने वह धन लेना तो दूर, स्पर्श तक भी नहीं किया। और ऐसे ही उठकर चले गये। वेष उतारकर बहुरूपिया पुनः राजदरवार में उपस्थित हुआ और राजा से बोला कि, महाराज! लाओ मेरा पुरुष्कार। राजा ने पूछी, किस बात का ? बहुरूपिया बोला कि, मेरे सच्चे नाटक का, जो आपसे पूर्व में तय हुआ था। आपने कहा था कि, तुम हमको भुलावा में डाल दो, तब तो हम जानें। वह सन्यासी मैं ही तो था, जो आपने राजसिंघासन पर बैठालकर पूजा अर्चन किया था। आप मेरे झूँठे नाटक को सच्चा मान बैठे। किंचित भी नहीं पहचान पाये। बहुरूपिया की बात सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ और साथ ही बहुत प्रभावित भी हुआ। राजा ने बहुरूपिया से पूछा कि, अब तुम हम से पुरुष्कार माँग रहे हो, उसी समय क्यों नहीं ले लिया था। हमने तो बहुत सा धन तुम्हारे चरणों में अर्पित किया था ? उत्तर में बहुरूपिया बोला कि, महाराज! मैं उस समय सन्यासी था। सन्यासी का धर्म और मर्यादा–पालन करने की मेरी पूरी जिम्मेदारी बनती थी। सन्यासी वेष इतना पावन है कि, जिसका स्मरण करने मात्र से ही, अन्तःकरण में पवित्रता का संचार होने लग जाता है। विकार कोसों दूर भाग जाते हैं। ऐसे परम–पावन वेष की आन–मान मर्यादा

को मैं कैसे तोड़ सकता था। इसी कारण मैंने उस समय आपका दिया हुआ धन स्पर्श भी नहीं किया था। बहुरूपिया की बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और जो धन संन्यासी में बहुरूपिया को अर्पित किया था, वह सबका सब उसको देकर विदा कर दिया।

अब यहाँ सीखने की बात है यह कि–जब इस देश के बहुरूपिया तक भी इस वेष की आन–मान मर्यादा की रक्षा करते हैं, तो हम लोगों का कितना उत्तरदायित्व बनता है, अपने इस वेष की रक्षा के लिए। अर्थात् हमारा पूरा–पूरा उत्तरदायित्व है। (ता0 27–12–1981 रविवार)

(1160) इस पथ में दो बातें परम आवश्यक है– एक तो प्रेमी का संग और दूसरे सतोगुणी आहार। यदि ये प्राप्त हैं, तो उत्थान शीघ्र हो जायेगा।

(1161) यदि उत्थान चाहे, तो अपने सिर पर कोई भार न रखे, ताकि उसका चिन्तन करना पड़े।

(1162) एकै साधे सबु सधै, सबु साधे सबु जाय।
जौ तू सींचै मूल कूँ, फूलै फलै अघाय।।

अर्थात् साधक यत्र तत्र भटकना छोड़कर किसी एक का सच्चाई से आश्रय लेकर अपने साधन में ही जुटा रहे तो उसकी साधना पूरी तरह परिणाम तक पहुँच जाती है।

(1163) अहंकार, क्रोध, अपमान, ईर्ष्या। ये पतन के कारण हैं। आज ये ही रह गये हैं। हम इनसे सावधान रहें। अपने जीवन में ये न रहने पायें। भजन भलेही कम बने, तो कोई

बात नहीं, किन्तु अपने जीवन में ये न रहने पायें। आज गुरु–भक्ति के वहाने से अन्य सब सन्तों का भरपेट अपमान किया जाता है, हमारे द्वारा यह न होने पावे। हमारे लिए तो सभी पूज्य हैं। वेषधारी मात्र हमारे पूज्य हैं। उसी का यह फल है कि, आज भारत भर के सन्तों की कृपा प्राप्त है।

(माघ वदी एकम् ता0 10–01–1982 प्रातः 10 बजे)

(1164) "जग हित निरुपधि साधु लोग से"। साधु की शोभा और कल्याण साधुता और रहनी में ही है। कुछ तो इस अभाव में उलझे पड़े हैं कि, आज कहाँ खायेंगे। कहाँ पीयेंगे। और जो कुछ बड़े हैं, वे सम्मान और धन बटोरने में तथा आश्रम बनाने में अटके हुए हैं। हम सावधान रहें कि, मात्र साधु वेष में ही न रह जायँ। आजकल ईर्ष्या, अहंकार बढ़ रहे हैं। हम में ये न होने पावें। साधु से सबका हित ही होता है। किसी का अहित हो ही नहीं सकता।

(1165) कितना ऊँचा वाक्य है कि–"नहिं कछु भय न दीनता आई"। श्रीलोमसजी ने शाप दे दिया, किन्तु (निर्भरता इष्ट के मंगलमय विधान पर) तनिक भी भय नहीं, दीनता नहीं, क्योंकि, मैं कौआ बना हूँ, किसके लिए? श्रीराम के लिए। कितनी छाती है इनकी ? कितना साहस है इनका? सार है यह–कि, अपने इष्ट में इतनी प्रगाढ़ आत्मीयता होनी चाहिए।

(1166) थानेदार के पास खडे रहें तो साहस नहीं किसी का, चाहें वह कितना भी प्रबल–शत्रु क्यों न हो कि, तुम पर

प्रहार करदे। ऐसे ही हम सतत् अपने प्रियतम के पास बने रहें, तो किसी विकार का साहस नहीं कि, वह हम पर धावा बोलदे और हमारा पतन करा दे।

(1167) श्रीभगवान् वशिष्ठ कह रहे हैं कि "सौंपेहु राज राम के आये" राजमाता कौशल्याजी ने तो यहाँ तक कह दिया था कि, वेटा भरत! यदि तुम राज–काज सँभाल लोगे, तो मैं यही जान लुँगी कि, मेरा राम ही राजा हो गया है। मेरे और समस्त प्रजा के सब दुख दूर हो जायेंगे। सभी पुरवासी और मन्त्रियों ने भी इसी का अनुमोदन किया, किन्तु श्रीभरतजी कह रहे हैं कि, "जाऊँ राम पहिं आयसु देहू" इतना बड़ा साम्राज्य। उसको भी ठुकरा दिया श्रीराम के लिए। तब श्री रामजी को कहना पड़ गया कि–

सुनहु लखन भल भरत सरीखा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीखा।।

और "सुचि सुबन्धु नहि भरत समाना" तथा "भयउ न भुअन भरत सम भाई"। यह बात कब बनी, जब अपना सर्वस्व श्रीराम के लिए त्याग दिया।

(1168) साधक वहाँ रहे, जहाँ भोग्य पदार्थों का बाहुल्य न हो। तप, त्याग, पूर्ण–वैराग्य से रहे। कामना कोई हो न। पूर्ण–श्रद्धा हो। फिर कहीं प्राप्त हो जाय सन्त सेवा, बस, हो गया एक ही जन्म में वेड़ा पार।

(1169) श्रीअक्रूरजी जब ब्रज में आये, तब जो–जो संकल्प मार्ग में करते आये, वे–वे ही ब्रज में आकर प्राप्त हुए। ऐसे

ही साधक की रहनी में केवल वहाँ के ही संकल्प होने चाहिये, जहाँ जाना है। अन्त में वे ही प्राप्त होंगे। जैसे अक्रूरजी को प्राप्त हुए। पीछे चलकर श्रीशुकदेवजी ने यह भी कह दिया है कि, हे राजन्! जो प्रभु में ही लगे रहते हैं, तत्पर रहते हैं, उनके तो इतर संकल्प बनते हीं नहीं हैं।

(1170) हम अपने को प्रेमपथ का पथिक मानते हैं, तो हमारी रहनी में प्रेम ही प्रेम होना चाहिए। किसी को देखें–तो प्रेम से। किसी को छूयें–तो प्रेम से। किसी को बोलें तो प्रेम से। कटुता, कठोरता, रूक्षता, छू न जाय। प्रेम ही प्रेम हो, तो शीध्र ही प्रेम–प्राप्त हो जायेगा। (शिवरात्रि,ता0 22–02–1982)

(1171) आज माह–पूर्ण, वर्ष–पूर्ण हो गया। तो हम भी आज से अभ्यास बनायें कि, हमारे जो काम हों, वे सब पूरे मन से, पूरे हों। अपने मन बुद्धि की एक भी न सुनें।

(1172) एक रहस्य की बात है, हमारा लक्ष्य है प्रेम। जो इसमें सहायक हों, वे सब पकड़ने हैं। बाधक हों उनको छोड़ना हमारा परम–कर्तव्य है। सतत् अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते चलना। साधन श्रीसद्‌गुरु निर्दिष्ट हो। तथा–एतत् सतत युक्तानाम् भजतां प्रीति पूर्वकम् हो। और हो केवल इनके लिए ही, तो कोई रोक नहीं सकता, एक ही जन्म में बेड़ा पार। (होली, ता0 9–3–1982 मंगलवार)

(1173) इन चार सद्‌गुणों के पालन कर लेने पर ब्राह्मण का ब्रह्मत्व ठीक–ठीक सिद्ध हो जाता है। **विद्या**–अपने अध्ययन से प्राप्त की हुई हो। **तप**–प्रकृति के व्यवहार को

सहन कर लेता हो। **त्याग**–किसी भी वस्तु का संग्रह न होने देता हो। **संयम**–वाणी, नेत्र, कर्ण और समस्त इन्द्रियों का। बोलना, देखना, सुनना, खाना, पीना आदि–आदि सबका पूर्ण–संयम हो तो ब्रह्मत्व सफल।

(1174) श्रीलक्ष्मणजी ने भगवान श्रीरामजी से वैराग्य की परिभाषा पूछी, तो उन्होंने उनको भगवान श्रीशंकरजी के पास भेज दिया कि, जाओ, उनसे पूछकर आओ कि, वैराग्य क्या वस्तु है ? श्रीलखनलालजी वहाँ पहुँचे, तो क्या देखा ? कि, भगवान श्रीशंकरजी अपनी जिह्वा और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) को पकड़कर नृत्य कर रहे हैं। इस दृश्य को देखकर श्री लखनलालजी बिना कुछ कहे–सुने ही उल्टे पावँ वापिस लौट आये। महाप्रभु श्रीरामभद्र ने उनके ग्लानियुक्त श्रीमुख को देखकर उनसे पूछा कि, भैया लखन! क्या बात है ? ऐसा और तरह का सा मुख क्यों बना रहे हो ? क्या तुम्हारे प्रश्न का उत्तर आसुतोष ने नहीं दिया ? तुम ऐसे खिन्न मन क्यों हो रहे हो ? उत्तर में श्रीलखनलालजी ने सारा आँखों देखा हाल ज्यों की त्यों सुना दिया। सुनकर प्रभु जी बोले कि, यही तो उत्तर है तुम्हारे प्रश्न का। जिसने अपनी जिह्वा और उपस्थ को संयमित कर लिया, वही तो सच्चा वैरागी है।

(1175) जो उपस्थ को वस में करना चाहते हों और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हों, वे पहले अपनी जिह्वा का संयम अवश्य ही करें। बिना जिह्वा संयम के उपस्थ का

संयम सम्भव ही नहीं।

(1176) तेल, गुड़, खटाई, लाल–मिर्च, हींग, गर्म मसाले, लहसुन, प्याज एवं अन्य सभी गर्म उत्तेजक और मादक पदार्थ सदाचार के महान–घातक हैं। शरीर में धातु को तरल बना देते हैं। जिनको बाल्यकाल से ही इन वस्तुओं का सेवन कराया जाता है, उनके ब्रंह्मचर्य की दुर्दशा हो जाती है। इसलिए सबका संयम ठीक तथा सब काम नपे तुले होने चाहिए।

(1177) आजकल एक नई प्रथा प्रारम्भ हो गई है, सिद्ध और सन्त बनने की। जो मिला सो खा लिया, जो मिला सो पहन लिया, जो मन में आई सो बोल दिया। साधक तो कोई हैं हीं नहीं, सभी सिद्ध हैं। अपने जीवन में यह न होने पावे। सावधान! सतत सावधान रहकर अपने को ही देखते रहें।

(ता0 7–8–1982 प्रातः 7.45 बजे)

(1178) बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। कलियुग की पूरी चाल है इस पथ पर। आजकल सुख, आराम, वैभव आदि सभी की तैयारी यहीं के लिए ही है। निन्दा नहीं कर रहा हूँ, क्या छोटे, क्या बड़े, सभी यहाँ की तैयारी में ही लगे हैं, कोई भी वहाँ की तैयारी में लगता हुआ दिखाई नहीं दे रहा है जहाँ जाना है। ऐसे ही धीरे–धीरे देहाध्यास बढ़ जाता है। (ता0 7–8–1982 प्रातः 7.50 बजे)

(1179) तत्व की बात है एक–अन्तःकरण एकदम इनके लिए खाली । जैसे कन्हैया की वंशी। (रवि0 2–1–1983)

(1182) करें धाम वास और सोचें बाहर की। कैसी विडम्बना है। कैसा दुर्भाग्य है इस जीव का ? (रवि0 2–1–1983)

(1183) जो अपने कर्तव्य–पालन में दृढ़ हैं, प्रमाद नहीं, उपेक्षा नहीं, पूर्ण–सत्यता है, पूर्ण–तत्परता है, तो ये प्रचार आदिक जो भी करें, तो भी कुछ लाभ हो सकता है।

(1184) साधन में प्रमाद न हो, उपेक्षा न हो, आलस्य न हो, पूरी सत्यता एवं पूरी–तत्परता हो और भगवान के लिए हो, कामना कुछ हो न और किसी सन्त के द्वारा दिया हुआ हो। तब तो चाहे कहीं भी रहो, आगे का, अब का, लोक, परलोक, सब स्वतः सँभल जायेगा। यह अपना अनुभव है।

(1185) खूब खाले, सोले, पर ध्यान रहे–जब भजन में बैठें, तब नींद नहीं आनी चाहिए। उस समय पूर्णसत्व की बाढ़ और प्राणनाथ का सान्निध्य होना चाहिए।

(1186) भजन के समय मन में जो कामना होती है, वही पूरी हो जाती है। इसलिए विशेष सावधानी की आवश्यकता है कि, साधन काल में कोई भी संसारी कामना न बनने पाये।

(1187) उपासना ही इसी का नाम है कि, अपना सब कुछ इनके लिए ही हो। अपने लिए एक स्वास भी नहीं।

(1188) इस पथ में आदर्श है पतिव्रता। जैसे उसका सर्वस्व अपने पति के लिए ही होता है। ठीक इसी प्रकार अपना भी सब कुछ अपने प्रियतम के लिए ही हो, यही है प्रेम।

(1189) अपने लिए कुछ नहीं, यही है त्याग। अपने लिए कोई कामना नहीं, यही है वैराग्य। अपने लिए केवल एक ये

(भगवान्) ही रह जायँ, यही है भक्ति।

(1190) बड़ी सावधानी से यह देखता रहे कि, अपना सब कुछ इनके लिए है भी या नहीं।

(1191) जिस किसी ने भी कुछ पाया है, वह अपने को सर्वथा खोकर ही पाया है। एक के पीछे लग जाय, बस।

(1192) मन को सँभाले। जैसे एक श्यानी (जवान) कन्या को माँ किसी से बात करती देख लेती है, तो फटकारती है कि, तू कैसे उससे बोली ? क्यों गई वहाँ ? वैसे ही जब अपना मन अन्य चिन्तन करे, तो इसे भी हम फटकारें कि, तू अपने प्रियतम को छोड़कर संसार में गया क्यों ? और फिर इसे वहाँ से हटाकर एकमात्र अपने जीवन–सर्वस्व (अपने इष्ट) में ही लगायें। मन को संसार में से बार बार पकड़ पकड़कर भगवान में लगाने की क्रिया का नाम ही तो साधना है। और इस क्रिया के करने वाले का नाम ही साधक है।

(ता013–01–1983 प्रातः10 बजे)

(1193) साधक ही वही, जो सतत् इनमें ही लगा रहे।

(1194) यदि सत्यता से प्रपंच रहित भजन बन जाय, तो सब स्वतः ही सँभल जायेगा। (ता013–01–83 प्रातः10 बजे)

(1195) हमारे श्रीसद्गुरु भगवान् ने एकदिन हाथरस में हम से कही कि, पण्डितजी! "राग–द्वेष से बचते रहना"। इसी महा महावाक्य के पालन का ही परिणाम है कि, आज जो कुछ पाना था, पा लिया।

(1196) चिन्तन का मूल है, राग–द्वेष। मन को त्याग–वैराग

और अभ्यास से इन शत्रुओं से बचाकर अपने प्रियतम में लगाने का पूरा प्रयास करे। फिर तो, सब अपने आप ही सँभल जायेगा। चिन्तन करे कि, जैसा प्रारम्भ में अपना उत्साह और वैराग्य था, वैसा ही आज है अथवा नहीं। यदि पूर्व की अपेक्षा कमी आ रही हो, तो उसे सतत् बढ़ाने का ही प्रयास करे। इस पथ में मूल है चिन्तन। (ता0 13–01–83)

(1197) जीव यदि अपने काम में पूरी सत्यता बर्ते, जो काम हो पूरी सत्यता, पूरी लगन से पूर्ण हो, तो कुछ ही दिनों में इनके पाने का अधिकारी बन जाता है। किन्तु जीव के काम सब अधूरे ही होते हैं। अभ्यास करे, जो काम उठावे उसको सत्यता के साथ पूर्ण करे। यह सब तभी बनेगा, जब प्रेम प्राप्ति की उत्कट लालसा होगी। उत्कट लालसा तब बनेगी, जब किसी प्रेमी सन्त का संग और सेवा निष्काम भाव से बनेगी। (संक्रान्ति, ता0 14–01–1983)

(1198) **प्रश्नः**–नामजप की कौन सी बिधि है, जो शीघ्र ही अपने श्रीजीवनधन से मिला देती हो ?

उत्तरः–प्रथम श्रीनामजप हो, ध्वनि के साथ। श्रवण सुनें, साथ ही इनका चिन्तन हो, संसार का चिन्तन न हो, संसारी कामना कुछ न हो, यदि कामना हो, तो केवल एक कि, हे जीवनधन! कब ऐसा दिन आयेगा, जब मैं आपके प्रेम में डूब जाऊँगा ? प्रथम अभ्यास करे इस प्रकार। निरन्तर यह क्रम चले, तो फिर प्राप्त होती है, वह स्थिति, जो अंतिम है।

"पुलकगात हिय सिय रघुवीरु।

जीह नामजप लोचन नीरु"।। (ता0 20–01–1983)

(1199)**दया है**=किसी को दुखी देखकर हृदय सहन ही न कर सके अर्थात् हृदय का पिघल जाना।

कृपा है= उसको सेवा के लिए अपने पास उठा लाना।

अनुग्रह है=अपनी भाँति उसकी सार सँभाल करना।

आत्मीयता है =उसको अपने में ही मिला लेना।

(ता0 23–01–83)

(1200) जो बात कही जाय, वह स्वभाव बन जाय। स्वभाव सौम्य और शहनशील बने। अहंकार न होने पाये। अहंकार होता है, अपने त्याग वैराग से। भड़क न उठे। यदि क्रोध कर बैठा तो किया कराया सब साफ हो जायेगा। इसलिए शान्त! सौम्य!! शहनशील !!! (ता0 23–01–1983)

(1201) यदि संसार को रिझाने की कामना बनी, तो कोई न कोई बन्धन फट् से आकर लग जायेगा।

(1202) यहाँ के और वहाँ के दोनों न्यायालयों से बचे। बचेगा तभी जब प्रत्येक काम इनके (भगवान के) सम्मुख होगा। (ता0 23–01–1983)

(1203) करोड़पति बनना चाहे और दुकान खोले परचूनियाँ की। यह कैसे सम्भव है। ऐसे ही रहनी दुर्बल और ओच्छे बिचारों में ही अटके रहें और चाहें परम पद। तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इस प्रकार तो वस्तु हाथ नहीं पड़ेगी।

(1204) आज एकादशी है, सदैव ऊँचे विचार, ऊँची क्रिया,

ऊँची रहनी। ऊँची, ऊँची, ऊँची। (माघ शु011,ता0 25–01–83)

(1205) श्रद्धा में वह शक्ति है कि, प्रियतम और प्रेमदेव तक को भी खींचकर ले आती है। इसलिए मरण–पर्यन्त श्रद्धा का दृढ़ आश्रय ही बना रहे। तभी वस्तु हाथ पड़ेगी, जब कहीं गहरी श्रद्धा होगी। (ता0 25–1–83)

(1206) एक बात बड़े ही काम की है, चाहो तो आज की मिती में लिखकर रख लेना। अहंकार न उपजने पाये। यदि ये आया, तो असूया, ईर्ष्या, घृणा, तथा राग–द्वेष आदिक समस्त विकार अनायास ही आ जायेंगे। दोनों लोक स्वहाः हो जायेंगे। इसलिए इससे सावधान ही रहे। जीवनभर ध्यान रहे। जीवन में दंभ छू न जाय।

(फा0 कृ0 2,ता0 2–2–83)

(1207) जब–जब एकान्त में बैठें, तब ही तब यह देखें कि, हम क्या चिन्तन करते हैं, हमारा मन क्या चाहता है। यह तत्व है, मर्म है अध्यात्म का। (ता01–2–1983 प्रातः)

(1208) वह वासना कैसी, जो पाप न करादे और वह उपासना कैसी, जो श्रीभगवान् से न मिलादे ?

(1209) विषय चिन्तन से हटाकर, सन्त और श्रीभगवान के चिन्तन में लगाने से ही मन शुद्ध होता है।

(1210) हित, मित, सत्य और मधुर भाषण से तथा हरि गुणगान करने से वाणी शुद्ध होती है।

(1211) प्रतिगृह (दान) न लेने से तथा शुभकर्म करने से, हाथ शुद्ध होते हैं।

(1212) सरल और निष्कपट व्यवहार करने से, चित्त शुद्ध होता है।

(1213) बैर और वासना, जीव को उपासना से विमुख करते हैं तथा ये उपासना से ही मिटते हैं। इसके अलावा और कोई उपाय ही नहीं।

(1214) अपनी बुद्धि को तोड़—मरोड़कर कूआ में डाल दे।

(1215) यदि आसक्ति किये बिना न रहा जाता हो, तो आसक्ति करे केवल श्रीभगवान और किसी श्रीसन्त में।

(1216) उपासना में प्रधान है श्रद्धा और ज्ञान में प्रधान है त्याग और वैराग्य।

(1217) अपने संकल्प को शिथिल मत बनाओ। दृढ़ संकल्प से ही सब कुछ होता है।

(1218) **प्रश्नः**—भक्ति में विघ्न क्या है ?

उत्तरः—विघ्न तो अनेकों हैं, तथापि श्रीभगवत् चिन्तन छोड़कर अन्य चिन्तन और चर्चा करना ही प्रधान बिध्न है। अन्य क्रियाओं का तो कहना ही क्या है ?

(1219) उत्तम भजन की प्रणाली तो यही है कि, किसी की निन्दा स्तुति न करे।

(1220) परमार्थ पथ में परम सहायक है, श्रीभगवन्नाम। बड़ा बाधक है, यह शरीर। अर्थात् शरीर के सुख की इच्छा।

(1221) संयम रहित जीवन व्यर्थ है।

(1222) बिषय—चिन्तन करना, मन को आहार देना है।

(1223) यदि संस्कार बस शरीर में रोगादिक हो जायँ, तो

इसको श्रीभगवत्–कृपा ही मानें।

(1224) जहाँ तक हो सके सहन करे, तितिक्षा करे, कोई कितना भी कष्ट दे, आनन्द पूर्वक सहले।

(1225) कितना भी चमत्कार हो, किन्तु अपने लक्ष्य से बिचलित नहीं होना चाहिए।

(1226) जब श्रीभगवान् में पूर्ण–प्रेम हो जायगा, तब संसार तुम्हारे आधीन हो जायगा।

(1227) अपने को सबसे छोटा समझना चाहिए।

(1228) किसी के बिषय में विचार करना उसका संग करना ही है। इसलिए सदैव सन्त और भगवन्त का विचार ही करे

(1229) सारा अभ्यास मन से सम्बन्ध रखता है। केवल शारीरिक श्रम से लाभ नहीं।

(1230) जिसकी वाणी में कटुता और मन में चंचलता तथा उद्वेग है, वह अभ्यासी नहीं माना जा सकता।

(1231) संसारी कोई भी कामना मन में न रखे। माया तो इस ताक में बैठी ही रहती है कि, ये साधक कुछ चाह करे और मैं उसको पूरी करूँ। चाह पूरी होने से साधन खर्च हो जाता है। इसलिए जब भी कामना बने, तब "केवल और केवल" श्रीभगवत्–प्रेम की ही बने।

(1232) अपनी ओर से कोई कमी न बनें। जहाँ तक है, हम ही चूकतें हैं। श्रीभगवान तो चूकना जानते ही नहीं हैं। हमारी चूक ही हमें रोक देती है।

(1233) लगन बढ़े, तो कोई रोक नहीं सकता लक्ष्य प्राप्ति

से। अवश्य ही प्राप्त होगा।

(1234) इनमें विश्वास न घटे। पूर्ण विश्वास रहे कि, श्रीभगवान् मुझे अवश्य ही मिलेंगे।

(1235) **प्रश्नः**—श्रीभगवत्—कृपा क्या वस्तु है और यह कैसें प्राप्त होती है ?

उत्तरः—कृपा में तुम्हें अभी भी कमी दीख रही है क्या ? पशु न बनाये, मनुष्य बनाये, यह कृपा नहीं तो और क्या है ? दूसरे देश में जन्म नहीं दिया, भारत में ही दिया। श्रीरामायणजी, श्रीभागवत्जी, श्रीगीताजी, वेद, पुरान उपनिषदादि जैसे परम कल्याणकारी परमाद्भुत सदग्रन्थ प्रदान किये, श्री अवध और श्रीब्रज जैसे परम रसीले धाम भी प्रदान कर दिये। सन्त—महापुरुषों का निःशुल्क निर्विवाद सत्संग भी प्रदान कर दिया। कृपा में कमी कहाँ हैं ? कमी है, तो अब केवल हमारी ही। इतनी कृपा हुई है, इसको सँभाल लेंगे, तो और भी कृपा होगी ही। नहीं सँभालेंगे, तो ये भी वापस चली ज़ायेगी। उदाहरण के लिए—जैसे हम नित्य नये घर में प्रसाद पाने जाते हैं। वे लोग विचारे कितने परिश्रम से भोजन बनाते हैं, पत्तल पर परोसकर, बड़ी विनम्रता से अपने हाथ जोड़कर, हम से प्रार्थना करते हैं कि, पाओ जी। और फिर भी हम उसे न पायें, तो क्या होगा ? दुबारा नहीं बुलायेंगे। और जिस जिस वस्तु को हम पाते चले जायेंगे, उसी उसी को वे बिना माँगे ही स्वयं परोसते जायेंगे। यही बात यहाँ कृपा की है। जितनी कृपा आज है, इसका

सदुपयोग करते चले जायेंगे, तो और भी कृपा होती चली जायेगी। यदि सदुपयोग नहीं करेंगे, तो और कृपा नहीं होगी। ये भी वापस चली जायेगी।

यह एक अपराध बना, कृपा आई और हमने उसे ठुकरा दिया, यह अपराध हो गया। अब, बनो पशु और घूमो लख चौरासी में। इसलिए सावधानी से कृपा की पूरी सँभाल करते चलें और साथ ही ईश्वर को धन्यवाद भी देते चलें कि, मेरे प्रभु आपने मेरे ऊपर इतनी कृपा कर डाली। बलिहारी प्यारे! भरी हुई पत्तल हमारे सम्मुख रखी है, खाने की बात न करके हम कहें कि और लाओ जी। तो वे क्यों देंगे। कहेंगे कि--पहले इसे तो खा लो। यदि हम खा लेंगे, तो वे बिना माँगे ही स्वयं ही इतना परोस देंगे कि, नाक तक भर देंगे। सोचो! कृपा को कैसे संभालें। एक करोड़पति किसी निर्धन को सहसा एक लाख रुपया दे दे, तो वह यही सोचेगा कि, मैं इस राशि को अब कहाँ धरूँ ? यदि जहाँ तहाँ पटक दे, तो उसकी सँभाल कैसे होगी ? जैसे संसार प्रधान है, वैसे ही भजन भी प्रधान बन जाय, तब काम बने। भूल यह बनती है कि, हम भजन भी संसार के लिए ही करते हैं। इसी का परिणाम है कि, न शान्ति है, न सन्तोष है और न श्रद्धा है, न भाव है।

(1236) **प्रश्नः**—प्रभु की ओर जाने का उपाय क्या है ?

उत्तरः—संसार को कुछ ढ़ीला करना पड़ेगा। यदि संसार ही मुख्य रहा तो फिर भजन को चाट जायेगा। जैसे जुखाम

खाँसी में पौष्टिक आहार दूध, दही, मेवा सब कफ ही बढ़ाते हैं, वैसे ही यदि मन में संसार की प्रधानता है, तो सारी साधना संसार बढ़ाने में ही खर्च होती रहेगी। जितने श्रीभगवान की ओर झुकते चले जायेंगे, उतनी ही शान्ति, सन्तोष, प्रसन्नता और आनन्द आता जायेगा। भार के पास बैठकर देख लें और श्रीगंगातट पर बैठकर देख लें, कि शीतलता कहाँ है ? संसार भार के समान है और श्रीभगवान में डूबना, श्रीगंगातट के समान है। श्रीप्रभु की ओर जाने का उपाय यही है कि, अपने समय, वाणी और विचारों को अधिक से अधिक श्रीजीवनधन में लगाने का ही प्रयास करता रहे।

(1237) **प्रश्नः**—दास भाव में बृद्धि कैसे हो ?

उत्तरः—नौकरी करें तो यह ध्यान रखना पड़ता है कि, स्वामी जो काम बताये उसको ज्यों की त्यों मान लें। जिसके करने से अपना स्वामी प्रसन्न हो, वही करना। इसी भाव को इधर में लगादें। जिसके करने से अपने श्रीप्राणनाथ प्रसन्न होते हों, वही करना, वही कहना, वही विचारना। येन केन प्रकारेण अपने श्रीप्रभु को प्रसन्न करने का प्रयास करते रहने से ही दासभाव की बृद्धि होती है।

(1238) ईर्ष्या, असूया, घृणा, द्वेष, आसक्ति, उपेक्षा, निन्दा, स्वार्थ और अंहकार आदिक सभी अपराध के ही कारण हैं। ये कलियुग के ही स्वरूप हैं। मैंनें इस युग का नाम अपराध युग रख दिया है। इस समय बड़े से बड़े साधक भी

अपराध से नहीं बच पा रहे हैं। प्रत्येक काम करने से पूर्व यह देख ले कि, इसमें कुछ भगवत्–सम्बन्ध है या नहीं। यदि प्रत्येक काम श्री भगवत् सम्बन्ध से होने लगे तो प्रपंच छूट जाता है। साधक का एक भी काम स्वतंत्र नहीं होना चाहिए, सभी श्री सद्गुरु की आज्ञानुसार ही होने चाहिए।

(1239) **शान्त रहने की युक्ति**– कामना ही अशान्ति का कारण है। कामना की पूर्ति के लिए ही जीव रात दिन उल्टे सीधे काम करता फिरता है। जब उसकी पूर्ति नहीं हो पाती है तब चित्त में अशान्ति देवी का पदार्पण हो जाता है। यदि सदैव के लिए शान्ति पाने की इच्छा हो तो संसारी कामों को प्रारब्ध पर छोड़कर अपने कर्तव्य का पूरी सत्यता से पालन करने में ही लगा रहे। जो सुख–दुःखादिक आयें उनको भोगता चले। अपना भजन–साधन नित्य–नियम से करता चले। दूसरों की ओर से दृष्टि को सदैव के लिए हटाकर पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो जाय।

सुनै न काहू की कही, कहे न अपनी बात।
नारायण वा रूप में, मगन रहे दिन रात।।

(1240) कभी भी किसी का तिरस्कार न करे।

(1241) आवश्यकतानुसार बोलने के अतिरिक्त निरन्तर नाम जप का अभ्यास करता रहे। नाम जप में मन न लगे, तो कुछ समय विनय और प्रेम, के पद–गायन करले।

(1242) प्राण जाने पर भी असत्य न बोले। यदि सत्य बोलने पर किसी की हानि होती दीखे, तो चुप हो जाय।

(1243) कभी भी क्रोध न करे। यदि किसी के प्रति क्रोध आ जाय, तो शान्त होने पर विनम्र होकर क्षमा माँग ले। भलेही वह कोई छोटे से छोटा ही व्यक्ति क्यों न हो ?

(1244) **सभी भक्ति–शास्त्रों का सार तीन बातों में–** निरन्तर श्रीभगवत्–नामजप (नाम–निष्ठा)। श्रीभगवत् जनों में ममता (सन्त और श्रीसद्गुरु में)। श्रीभगवद्धाम में निष्ठा।

(1245) यदि जीवन में गुरुजनों की निष्काम भाव से सेवा बन जाय, तो श्रीभगवत्–चिन्तन तो स्वतः होगा ही।

(1246) श्रीभगवत् जन, श्रीभगवत् नाम एवं श्रीभगवत् धाम में से हम सर्व–प्रथम श्रीभगवत्–जन में श्रद्धा को ही महत्व अधिक देते हैं। यदि श्रीभगवत्–जन में पूरी श्रद्धा होगी, तो उनकी कृपा से श्रीभगवत्–नाम और धाम में निष्ठा तो हो ही जायेगी। क्योंकि श्रद्धा के द्वारा सब कुछ स्वतः ही ऐसा सुलभ बन जाता है कि सर्वथा अकल्पनीय।

(1247) एक सिद्धान्त है–जब दुःख आवे, तब चुपके से अपने प्रारब्ध का भोग जानकर सहले, किसी को सुनावे नहीं। और जब सुख आवे, तो प्रभु की दी हुई प्रसादी वस्तु जानकर सबको वाँटकर ही भोगे, अकेला नहीं।

(1248) जब साधक श्रीभगवत्–मार्ग की ओर बढ़ेगा, भजन साधन करेगा, तो भोग्य तो आयेंगे ही। भोग्य को भोग ले, परन्तु रुके नहीं। अर्थात् कभी–कभी बढ़िया भोजन अनायास ही प्राप्त हो जाता है। प्रसंसा बढ़ जाती है। लोग दर्शन करने आते हैं। भरपेट मान प्रतिष्ठा भी मिलने लगती है।

भाँति–भाँति से सेवा के बहाने द्रव्य–संचय की स्थिति भी उपस्थित हो जाती है। इनके मिलने पर इनमें अटके नहीं। इनकी प्राप्ति की तनिक भी चाह न करे। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ पतंगा तो आते ही हैं। जब पुष्प सुगन्धि सें महकने लगता है, तब भौंरा तो आ ही जाते हैं। श्रीभागवत्‌जी का सिद्धान्त है–"भुंजान एवात्म कृतं विपाकम्" अर्थात् किये हुए सुकृत–दुष्कृतों का फल भोगते हुए आगे बढ़ते चलो। श्रुति है– चरैबेति, चरैबेति, चरैबेति। आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। "उदयानं पुरुष ते नावयानम्" माडव पन्था– सदैव ऊपर ही उठते चलो, नीचे मत गिरो, रुको मत।

(1249) आज हमें ध्यान हुआ है कि, भाग्य क्या वस्तु है ? भाग्य है करणी का फल। और करणी है अपने हाथ में। जो सुकृत–दुष्कृत करेंगे, सबका फल तैयार है। बड़ी सावधानी से चलें। अनुचित कर्म न बनने पायें। आज जो है, ये भी किसी कर्म का फल ही है और आगे जो होगा, वह भी किसी कर्म का ही फल होगा। भोगना अवश्य ही पड़ेगा। इस सिद्धान्त से तो कर्म ही प्रधान है। जीव की तो बात ही छोडो, स्वयं श्रीसीताजी ने भी जब अपने पतिदेव श्रीरामजी को आज्ञा दी कि–"एहि मृग कर अति सुन्दर छाला" और "आनहु चर्म कहति बैदेही" तो परिणाम क्या हुआ ? 10 मास 20 दिन रावण के यहाँ रहना पड़ा। अर्थात् पतिदेव को, और आज्ञा ? जबकि, पातिव्रत धर्म के अनुसार पत्नी को पति की छाया के अनुसार ही चलने का अधिकार है। न

अपना स्वतंत्र कोई विचार, न क्रिया। और ये जगज्जननी क्या कर बैठीं ? उसी का फल सबके सामने है।

(1250)दूसरा उदाहरण है–जब स्वायंभुव मनु और श्रीसतरूपा जी ने आराधना की, तो मनुजी ने भगवान से भगवान के समान ही पुत्र पाने का वरदान माँगा। इन्होंने फिर श्रीसतरूपाजी से भी बरदान माँगनें की बात कही, तो उन्होंने भी बरदान माँगा। माँगा तो बहुत ही उत्तम, परन्तु माँगा पतिदेव से भिन्न ही।

"जे निज भगत नाथ तब अहहीं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।।"

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरण सनेहु।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु।।

मनुजी बने महाराज श्रीदशरथजी और श्रीसतरूपाजी बनी महारानी श्रीकौशल्याजी। साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तमनारायण की माँ और विधवा ? हमेशा बड़ा ही सोच विचारकर काम करे। सतत् जागरूकता ही जीवन है। कर्म करना अपने हाथ में है और फल देना इनके हाथ में। जैसे पत्नी शास्त्रानुसार एक क्षण भी स्वतन्त्र नहीं रह सकती है, ठीक वैसे ही साधक भी अपने परम श्रद्धेय श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा से एकक्षण भी विमुख नहीं रह सकता है। शिष्य का अनायास ही परम कल्याण श्रीसद्गुरु की छाया बनकर चलने में हो जाता है।

(1251) अपना स्वभाव सुधारे। इसका सुधारना ही कठिन

पड़ता है। घर का स्वभाव यदि यहाँ भी बना रहा, तो धाम वास से क्या लाभ?

(1252) किसी का अपमान, अनादर, उपहास, उपेक्षा, निन्दा, ईर्ष्या और द्वेष न करे। हमेशा सावधान ही रहे।

(1253) जाति, कुल, धन, बल, रूप, स्वस्थता, चतुरता और भजन साधन के अहंकार में अपराध न बन जाते हैं। इन से सावधान ही रहे।

(1254) सबके साथ प्रेम, आत्मीयता, सौहार्द, उदारता, करुणा, हितैषिता, सद्भावना, सेवा, विनम्रता, दया, कोमलता की वर्षा होती ही रहे। हृदय में सम्वेदनशीलता, परदुखकातरता की मीठी–मीठी टीस मारती ही रहे।

(1255) मुख पर सतत्–शान्ति, सौम्यता, प्रसन्नता के चिह्न अपनी अनोखी छटा बर्षाते ही रहें। जिससे सामने वालों को देखते ही शान्ति और सुख की अनुभूति होती रहे।

(1256) "सबहिं मानप्रद आपु अमानी"

और

"सबके प्रिय सबके हितकारी"।।

(1257) आजकल साधक साधन–भजन तो कर लेता है, परन्तु उत्तम–जीवन नहीं बना पाता है। उत्तम–जीवन की पहचान है, सतत् उत्तम–विचार ही उठते रहें। यदि संसार में मानव शरीर पाकर भी उत्तम–जीवन नहीं बन पाया, तो विषयाभिमुख बुद्धि पाप ही कराती रहेगी। परिणाम में नरक ही भोगना पड़ेगा।

(1258) कामना पूर्वक किया हुआ भजन उस कामना में ही खर्च हो जाता है। कामना बनती है स्त्री, धन, पुत्र, वैभव, मान–प्रतिष्ठा, शारीरिक सुख आदि की। बस इनमें ही अटकर रह जाता है। कामना भी न बने, तो अपने भजन साधन और सद्‌गुणों का नशा (अहंकार) हो जाता है, इससे वह अपने को कुछ मान बैठता है और दूसरों को उपेक्षा, घृणा, ह्येयता, न्यूनता की दृष्टि से देखने लग जाता है। दूसरों के दोष देखने में ही अपना अधिकाधिक समय खर्च कर डालता है। परदोष देखने की दृष्टि से फिर अपने दोष दीखते ही नहीं हैं। और इस प्रकार साधक पतन की गहरी खाई में ही जा गिरता है। हम इससे बचते ही रहें।

(1259) पौष शुक्ला नवमी, बुधवार ता0 14–1–1980 समय 11 बजे मध्यान, मंकर संक्रान्ति पर्व के दिन बुलाकर आज्ञा की कि–आज के दिन लाखों रुपयों का दान हो जायेगा भारत में। ऐसे ही अपने यहाँ भी अपने समस्त विकारों का दान संसार को दे दिया जाय। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, राग–द्वेष, हिंसा, अहंकार, छल, कपट आदि जितने भी विकार हैं, आज के पश्चात अपने तन–मन बचन को भी छू न जायँ। ये तो संसार में रहेंगे ही, परन्तु अपने लिए नहीं। जब–जब ये अपने तन–मन बचन में प्रवेश की चेष्टा करें, तब ही तब इनसे सावधान रहे. और अपने मन से कहदे कि, हम तो इन सबको संक्रान्ति में दान कर चुके हैं। दान की हुई वस्तु कभी वापिस तो ली नहीं जाती। इस

प्रकार अपने मन को समझाकर अपने आप को बचाले।

(1260) अवसर मिलने पर यदि सँभाल नहीं हुई, तो याद रखो—कोई न कोई बन्धन फट से आकर लग जायेगा। इसलिए चूके नहीं। जो अवसर आज मिला है, उसकी पूरी सँभाल हो जानी चाहिए।

(1261) चैत्र शुक्ला एकादशी, ता0 15—04—1981 सम्वत् 2038 प्रातः 8.30 बजे बुलाकर स्वयं श्रीमुख से आज्ञा की कि, कहीं लिखकर रख लेना— आज एक बात स्मरण हो आई है। ये जो ग्रहस्थ लोग हैं न ? ये तो अपना सीमित में ही काम चला लेते हैं। यदि वस्तु न भी हो, तो भी बिना उसके वैसे ही रह लेते हैं। परन्तु साधु तो किसी से भी आज्ञा कर दी कि, चाहे जितनी वस्तु तुरन्त आ जाती है। कलियुग ने भी प्रतिज्ञा कर ली है कि, साधु भलेही कितने भी बन जाओ, परन्तु साधुता नहीं रहने दूँगा। सर्वत्र से साधुता जा रही है। रहनी जा रही है। याद रखना ? अपनी रहनी ऐसी न बनने पावे। पूर्ण संयमित और संकोच के साथ ही कम से कम में ही अपना काम चलाते रहें। संसार की किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक संग्रह न होने पावे।

(1262) तुम जुड़ो सन्त से। वे तुम्हें जाड़ेंगे श्रीभगवान् से।

(1263) चाह है और प्रयत्न नहीं करते हो, तो वाँच्छित वस्तु की प्राप्ति नही हो सकती और यह ईमानदारी भी नहीं है।

(1264) उल्टी चाल—सुख देने की वस्तु है और दुःख सहने

की। मान देने की वस्तु है और अपमान सहने की। ये है परमपद का सीधा मार्ग।

(1256) वह भजन कैसा ? जिसके करने से भी श्री प्रभु से मिलने की लालसा ही पैदा न हुई तो।

(1266) घर में बन में पंथ में, कहूँ रहै यह देह।
तुलसी सीताराम सौं, लाग्यौ रहै सनेह।।

(1267) एक भी क्षण व्यर्थ न जाय। सदैव इनके पास ही रहे। इसका तात्पर्य है कि—नामजप, पाठ, चिन्तन, इनको ही बोलना, सुनना आदि।

(1268) याद रखो—जो हम कर रहे हैं, बिचार रहे हैं, सोच रहे हैं, कह रहे हैं, देख रहे हैं, सुन रहे हैं, प्रभु सब देख रहे हैं। यदि सब कुछ इनके सामने ही होगा तो इससे पाप तो हो ही नहीं सकता।

(1269) साधक का एक भी क्षण साधन के विमुख व्यर्थ जाना पाप है।

(सम्वत् 2034 सन्1981 वैशाख शु0 चौथ, श्री गुरुवार)

(1270) भूल से भी कोई ऐसा काम न बनने पाये कि, जिससे लोग ये कहें कि, देखो! ये उनके शिशु हैं। अर्थात् अपने श्रीसद्गुरु भगवान् को कलंकित होना पड़े, ऐसा कोई भी काम न होने पाये।

(1271) दो बातें बड़े ही मर्म की हैं— (1) अपनी निन्दा सुनकर मन में क्षोभ न हो। (2) जहाँ तक बने शहनशील ही बने। (बैशाख शु0 नवमी, 1981 प्रातः 7 बजे)

(1272) अपने को सतत् देखता ही रहे कि, श्रद्धा, सेवा, साधन, त्याग, वैराग, प्रेम आदि श्रीभगवत्–कार्यों के बहाने से भी हम किसी प्रपंच की शिकार तो नहीं बन रहे।

(1273) जब चतुर्थी शनिवार की हो, तो सिद्ध योग बन जाता है। आज से प्रतिज्ञा बन जाय कि–वही देखेंगे। वही सुनेंगे। वही बोलेंगे। वही खायेंगे। वही विचारेंगे। वही करेंगे। वही छूयेंगे, जो इनके लिए होगा और इनसे मिलायेगा। छल–कपट दंभ छू न जाय। जो हो पूरी सत्यता से हो। बाहर कुछ और भीतर कुछ, यह न हो। तब तो जो करोड़ों कल्पों में होने वाले काम हैं, वे सब एक क्षण में ही हो जायेंगे। (जे0कृ04,ता023–5–1981 शनि,प्रातः7.45से 8के बीच)

(1274) जितने सद्गुण हैं, सबके सब भक्त में होने चाहिए। जितने दोष, दुर्गुण, विकार, कामना हैं, समूल नष्ट हो जाने चाहिए। (जे0 कृ0 7वीं, ता0 26–5–1981 मंगलवार)

(1275) जीवन केवल जीवनधन के लिए, अपने लिए कुछ न बचा रखे। इसमें पूरी सत्यता और तत्परता होनी चाहिए। साधक जितने अशं में अपने आपको बचाकर रखता है, उसके जीवन के उतने ही अंश माया को मिलि जाते हैं। अपने को बचाना क्या है ? बचाना यही है कि, हमारी यों ख्याति हो जाय, यों प्रतिष्ठा हो जाय, अर्थात् इनकी जगह संसार की चाह और चिन्तन करना ही अपने को बचाना हैं।

(1276) पूर्ण–श्रद्धा, पूर्ण तत्परता, पूर्ण–कामना नाश, पूर्ण पवित्रतम जीवन, पूर्ण–वैराग्य, पूर्ण–त्याग, अपने सब काम

पूर्ण हों। ऐसे ही एकदिन पूर्ण करते–करते पूर्ण में मिल जायेंगे। इनका ही चिन्तन, इनका ही ग्रंथ पाठ, इनको ही कहना, इनको ही देखना, इनको ही सुनना, अपना सब कुछ इनको ही रहे। अपने लिए कुछ न रहे। यही है जीवन केवल श्रीजीवनधन के लिए। आज से यह नियम बन जाय कि, जो कुछ करेंगे केवल इनके लिए ही करेंगे, बस।

(आषाढ़ कृ0 1, 18–06–1981 श्री गु0 समय 3.30)

(1277) बड़े मर्म की बात है एक–ईश्वर यह देखता है कि, तुम मुझसे मिलने के लिए कितने प्रयत्नशील हो ? कितने आतुर हो? यह सबसे ऊँची बात है। अब हमें चाहिए कि, हम निरन्तर इनके लिए ही जुटे रहें, लगे रहें। अपना भजन, साधन, विचार, चिन्तन, सब कुछ इनके लिए ही हो। अपने लिए कुछ भी बचाकर न रखे।

(आषाढ़ कृ012, ता0 29–06–1981 सोम, प्रातः 7 बजे)

(1278) प्रत्येक वाक्य को प्रतिज्ञा कर–करके पालन करे। क्यौंकि प्रतिज्ञा एकबार करने के बाद अन्तिम स्वाँस तक तोड़ी नहीं जा सकती। (आषाढ़ सुदी दौज रथयात्रा)

(1279) अब दिन व दिन बुद्धि का सुझाव यही है कि, मरने से पहले कृपा की पूरी सँभाल करलें। सब सद्‌गुण अपने में भरकर अपनी रहनी बनालें। श्रीभागवत्‌जी के दशमस्कन्ध के 7 वें अध्याय में इन छःहों का निषेध किया है–

"येऽसूयानृत दंभेर्ष्या हिंसा मान विवर्जिताः"।

जैसे रहीसों के घर में संसार की ऊँची से ऊँची सभी वस्तुएँ

विद्यमान रहती हैं, वेही रहीस माने जाते हैं। ऐसे ही हम प्रेमपथ के रहीस हैं, तो इस पथ के समस्त सद्‌गुण हमारे में होने ही चाहिए, तभी हम प्रेम पथ के रहीस माने जायेंगे। सम्पूर्ण विकारों में से एक भी हमारे लिए सृष्टि में है ही नहीं। जैसे सभी मादक और नशीले पदार्थ संसार में तो हैं हीं, परन्तु हमारे लिए एक नहीं।

(1280) पाठ सुन लिया, सत्संग सुन लिया, इससे ही काम नहीं बन जायेगा, वैसा ही अपने को बनाना भी पड़ेगा। सन्त मैकेलियस ने अपने शिष्य को शिक्षा दी कि, जैसे कब्र पर कोई माला फूल चढ़ावे अथवा पत्थर फैंके। गाली दे अथवा प्रसंसा करे। अपवित्र करे या इत्रादिक सुगंधित पदार्थ डाले। यह प्रति–उत्तर में कुछ भी नहीं बोलती। ठीक बैसा ही जीते जी हमें भी अपने आपको बनाना पड़ेगा। तभी इस पथ का सच्चा स्वाद मिले पायेगा अन्यथा तो नहीं।

(आषाढ़ कृ014 मं0, 30–6–81 समय 3.30 पर)

(1281) पोखर में नहीं, तालाब में नहीं। स्नान करे–दया, क्षमा, उदारता की त्रिवेणी में। तन–मन से इनसे सराबोर होकर, फिर बैठ जाय भजन में। वह भजन भी हो केवल श्री जीवनधन के लिए ही। तो फिर क्या कहना ? जैसे मन्दिर के पट खुलते ही द्विजातिमात्र निस्संकोच चले जाते हैं, दर्शन करने में मन को किंचित भी झिझक नहीं होती और जो सूद्र हैं वेचारे, वे नहीं जा पाते। ऐसे ही अपने मन को पवित्रतम बनावे, क्यौंकि, पवित्र मन प्रभु की ओर चलने में

रुकता भी नहीं और झिझकता भी नहीं है। और पापी, दुराचारी, नीच मन प्रभु की ओर चलने में संकोच करता है, झिझकता है। इसलिए समस्त सद्‌गुण अपने में धारण करे।

(1282) श्रीरामचरितमानस में जब ये श्रीवाल्मीकजी के यहाँ पहुँचे हैं, तो उन्होंने 14 स्थान इनके रहने के लिए गिनाये हैं। सदैव अपने को देखता ही रहे कि, हम इन चौदहों के भीतर ही चल रहे हैं या नहीं। क्योंकि ये चौदहो जहाँ होंगे वहीं प्रियतम का निरन्तर निवास होगा।

(1283) **दयाः**—इसके दुःख को मुझे दे दो और मेरे पुण्य इसे। ये बड़ा ही दुःखी है। जैसे दल–दल में फँसे हुए एक सूअर को लिंकन ने निकाला। पूछने पर उसने बताया कि, मैने दया नहीं की है, अपने मन को शान्ति दी है। ये है दया। हम वैसे ही काम करें, जिनसे मन को शान्ति मिले। सब सद्‌गुणों को अपने में देखें। दुर्गुण एक न रहने पावे, जैसे हमारे यहाँ लहसन, प्याज, शराव आदिक है ही नहीं। वैसे ही दोष–दुर्गुण विकार भी रहने ही न पावें। वास्तव में यही है कृपा की सँभाल।

उदारताः—भक्तराज श्रीअम्बरीषजी की श्रीदुर्वासाजी से भेंट के पश्चात् उन्होंने क्रोधित श्रीचक्र–सुदर्शनजी से प्रार्थना की कि–यदि मेरे कुछ सुकृत जमा हों, तो आप शान्त हो जाओ, परन्तु शान्त नहीं हुए। पुनः बोले कि यदि मुझ पर मेरे श्रीप्राणनाथ प्रसन्न हों, तो आप शान्त हो जाओ। तुरन्त शान्त हो गये। ये है उदारता।

(1284) अब हमारे पर और कोई काम तो है ही नहीं। बस अपने को तत्वज्ञ बनाना हैं। वस्तु है एक ? किसी के इष्ट में हेय भाव नहीं। इसीको निरन्तर पीसते रहना है।

(सं0 2038 ता0 6–7–1981 सोमवार समय प्रातः 7 बजे)

(1285) हम से ये क्या चाहते। किससे प्रसन्न और किससे अप्रसन्न रहते। हम से जो ये चाहते, जीवन–पर्यन्त वही करते रहना, यही वास्तव में गुरुपूर्णिमा है। यही है हमारा समर्पण और यही है हमारी गुरु दक्षिणा।

(1286) जितने उदाहरण वेद शास्त्रों में दिये गये हैं, उनमें है क्या ? बस अपने व्यवहार और स्वभाव को सुधारना ही तो है। जैसे श्रीप्रह्लादजी और श्रीअम्बरीषजी रहते, वैसे ही हमको भी रहना चाहिए। परमार्थ का क्या सुधारना, ये तो सुधरा हुआ है ही। सुधारना है अपना स्वभाव और व्यवहार।

(ता0 5, 6–7–1981 सोमवार)

(1287) इनके दर्शन के लिए नेत्रों को पवित्र बनाना है, तो इनसे परदोष–दर्शन, स्त्री–दर्शन और क्रोध भरी दृष्टि से संसार में किसी को भी न देखें। इन सब बातों से नेत्र अशुद्ध हो जाते हैं। इससे बहुत ही सावधान रहे। पराये दोषों पर दृष्टि ही न जाय। नेत्रों से सन्तों के और श्री भगवान् के दर्शन ही करे। उत्तम सदाचार, भक्ति–परख ग्रथों का स्वाध्याय करे। दूसरों की ओर देखे ही नहीं कि, कौन क्या कर रहा है? क्या नहीं कर रहा है? सदैव अपने को ही देखे। "करहु जाय जा कहँ जोइ भावा"।

(1288) अपने शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि सभी को वहाँ के योग्य बनाना है, जहाँ हमको जाना है। अपना लक्ष्य है श्रीभगवत्–प्रेम। प्रेम का भी फल है सेवा में पहुँच जाना। अतः सेवा के योग्य पवित्र बनाना है सबको।

(आषाढ़ शु0 2, ता0 3–6–1981)

(1289) उत्तम काम वह है, जिसमें किसी का तनिक भी अहित न हो। यह नहीं कि, अपने स्वार्थ से दूसरे का काम बिगाड़ दे। अध्यात्म पथ में संसार से उल्टे ही चलना होता है। अपना स्वार्थ छू न जाय, इतना सुन्दर पथ है यह।

(1290) संसार में दो बड़े अनर्थ हैं–स्वार्थ, अहंकार। इस पथ में दोनों हीं नहीं हैं। यहाँ तो सतत्–सुख, शान्ति, और आनन्द ही रहता है।

(1291) सत् पुरुष वह है, जो पराये काम के लिए अपने स्वार्थ का बलिदान करदे।

(1292) इस पथ में सच्चरित्रता की बहुत ही आवश्यकता है। आज लाभ नहीं, इसका कारण यही है कि, जीवन पवित्रतम नहीं है।

(1293) श्रीभगवत्प्राप्ति अति सरल अति ही–सरल वस्तु है, यदि सत्यता से चलते बने तो।

(1294) एक बड़े ही मर्म की बात है–बस्तु जितनी ऊँची होगी, प्रयास उतना ही अधिक ऊँचा करना होगा, और प्रयास से जीव कतराता है।

(आषाढ़ शु0 11,ता0 12–7–1981 रविवार प्रातः 7 बजे)

(1295) आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी, मंगलवार, ता0 14–7–1981, प्रात 7 बजे, अपने नित्य सेव्य श्रीठाकुरजी की सेवा करने के समय पर बुलाकर बड़ी गम्भीरता से अपने दोनों कर–कमल जोड़कर बोले कि, कंलकित मत करना। आज के साधु समाज की जैसी रहनी है, वैसी अपनी न बनने पाये। रहनी में सादा–आहार, सादा–वस्त्र, हर किसी से न हँसी–न मजाक, न बोलना, न बात करनीं। कलियुग का सबसे बड़ा आघात है, इस अध्यात्म–पथ पर। सबसे शिक्षा लेते हुए अपनी रहनी को ही सुधारना। प्राचीन मर्यादा रही कि, साधु के यहाँ कंचन, कामिनी, का सर्वथा–त्याग रहता था। परन्तु आज तो ये सब साधुओं के यहाँ पूरी शक्ति से प्रवेश कर गये हैं। हमें इनसे सर्वथा बचना हैं। बड़ा वीर है वह, जो इस घोर कलिकाल में रहते हुए भी अपने आपको सतत् सतयुग में ही रखता है। अपनी वृत्ति न गिरने पावे। यही हमारी श्रीगुरुपूर्णिमा है।

(1296) "कृषी निरावहिं चतुर किसाना" ये किसान अपने खेत की निराई न करें तो फसल की सारी खुराक को घास ही खा जाती है। ऐसे, ही हमको भी सतत् सावधान रहना चाहिए। कोई लौकिक कामना न बनने पाये। यदि कामना लेकर साधना करते रहे तो सारे भजन को ये ही खाती रहेगी। कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

(1297) मन निरन्तर अपने काम में ही लगा रहे। प्रेमपथ बड़ा ही कठिन है। श्रीनामजप अधिक रहे। अपना लक्ष्य है

इनमें प्रेम। प्रेम के लिए ही अपना समस्त जीवन। इसकी प्राप्ति के लिए ही पूरा प्रयत्न होना चाहिए।

(1298) नया युग, नया काम। हम सावधान रहें, जितना ऊँचा है यह पथ, उतनी ही ऊँची विघ्न—बाधा आती हैं इसमें। किसी को धोखा देकर जाना ठीक नहीं। इसलिए इस पथ की एक—एक बात सबके सामने खोलकर कहे जाता हूँ। सुनकर, मनन करके, जीवन में आचरण करना।

(आषाढ़ शु014,ता016—7—1981श्रीगुरुवार 3 बजे मध्यानोत्तर)

(1299) सोई सेवक प्रियतम मम सोई।
मम अनुसाशन मानैं जोई।।

अपने को देखो—क्या सीखा ? क्या इनकी आज्ञा—पालन कर रहे हो ? क्या शास्त्राज्ञा—पालन कर रहे हो ? भगवान कहते हैं कि, प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानें जोई।

(श्रीगुरुपूर्णमा, ता0 17—7—1981 शुक्रवार)

(1300) आहार शरीर के लिए हो जिह्वा के लिए नहीं। जो रजोगुणी (सुस्वाद),तमोगुणी (चटपटे, नशीले, तले—हुए) पदार्थ अधिक सेवन करते हैं, वे उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) का संयम कदापि नहीं कर सकते। संयमी जीवन हो। प्रत्येक इन्द्रिय का संयम। कोई भी इन्द्रिय कुमार्ग में न जाने पावे। संसारी पदार्थों के स्वाद में न फँसे। स्वयं हमारा तो यही मत है और उद्देश्य भी यही है कि, जिसके खाने से शरीर का पोषण होता हो और साधना में कोई बाधा नहीं आती, वही खाते हैं। (श्रावण वदी 3,ता0 20—6—1981, मंगलवार,प्रातः 7

बजे)

(1301) साधन हो। उसमें सत्यता हो। किसी सन्त के द्वारा बताया गया हो और इनके लिए ही हो, अपने लिए नहीं। ये चारों बातें हों तो, एक ही जन्म में बेड़ा पार।

(श्रावण कृष्णा 11, ता0 26–6–1981 सोमवार)

(1302) दूसरे की वस्तु काम में नहीं लेनी।

(1303) हम जिस दरबार के हैं, वहाँ तो सतत् ऊँची बातें ही हैं। सतत् ऊँचें बिचार ही हैं।

(1304) लक्ष्य केवल श्रीभगवत्–प्रेम प्राप्ति। स्त्री, द्रव्य, प्रतिष्ठा, माता हैं, पिता हैं, भाई हैं–जो कुछ हैं, सो ये ही हैं। वस ये ही हैं। एक बात दृढ़ बन जाय, तो सब ठीक हो जायेगा, वह है लक्ष्य केवल श्रीभगवत् प्रेम। जीवन "केवल और केवल" इनके लिए । दूसरी बात कामना कोई हो न बस। (हरियाली तीज,ता03–8–1981सोमवार 3 से 3.30)

(1305) यह बात जीवन भर याद रहे– हम में जो सद्‌गुण हैं, उनको ही अपने में पूरी तरह धारण करें। हमारे दोष–दुर्गुण नहीं। एक–एक बात को अपने जीवन में उतारते जायँ। निरन्तर यही प्रयास रहे कि, अपना जीवन इनकी आज्ञा के अनरूप ही बन जाय। सबको झुककर ही प्रणाम करें। कोई कुछ कहे, प्रारब्ध का भोग मानकर सहर्ष सहलें। मर्यादा न टूटने पावे। लोगों को अखड़ने न पावे। जीवन–भर मर्यादा का पूर्ण–पालन करते रहें।

(भाद्र शु011,ता010–9–1981 श्रीगु0 सु0 10 बजे से 10.30)

(1306) ध्यान रहे बहुत सँभलकर चलना हैं ?

(भाद्रशुक्ला 13, ता012—9—1981, शनि,प्रातः 7.30 बजे)

(1307) जिसके माता, पिता, गुरु, जीवित हों, उसको पितृ—पक्ष (श्राद्ध पक्ष) में क्षौर (हजामत) नहीं कराना चाहिए।

(1308) रहें गृहस्थ, बनें सन्यासी। किसी से कुछ लेना नहीं। अपनी गाढ़ी कमाई से करके ही खाय। ऊपर से पहने धोती कुर्त्ता और भीतर से बने रहें पूरे सन्यासी। अपना उदाहरण दिया कि, एकबार कोई सीधा रख गया, तब हमने उस स्थान पर भी चौका लगवाया था। किसी की कोई भी वस्तु छूनी तक नहीं। "प्रभु जानत सब बिनहि जनाये" तथा "लोक मान्यता अनल सम, कर तप कानन दाहु"। किसी को खबर ही नहीं लगे कि, हम क्या करते हैं। इतना छिपावे अपने आप को। मानव—जीवन अति कठिन है। कोई विरला ही सँभाल पाता है। रहो ग्रहस्थ ही, परि याद रखो! जीवन हो सन्यासी जैसा। सन्यास का अर्थ है (सबसे एकदम छुट्टी)। केवल एक ही रह जाय, यह है सन्यास। जैसें माता जसोदा जी और श्री दशरथ जी।

(1309) इस पथ में संसार से उल्टा चलना पड़ता है। संसारीओं का एक ही लक्ष्य रहता है—सब कुछ अपने लिए और हमारा सब कुछ इनके लिए ही, अपने लिए कुछ नहीं। ये ही है बलिदान। बिना बलिदान किये, इस पथ में आगे बढ़ ही नहीं सकते। इस समय दो दुर्लभ बन गये। स्त्रीओं में पतिव्रता और साधु सन्तों में केवल श्रीभगवत्—प्रेमी।

(आश्विन कृष्णा 5वीं 18–9–1981 शुक्रवार प्रातः 7 बजे)
(1310) देखो–देखो बात हैं दो– वैराग्य और प्रेम। ये दोनों ही नहीं निभ पाती हैं। वैराग्य तो भोग में लग जाता है और प्रेम वटोरने में। इनके बहाने ये टिक नहीं पाते। यदि ये निभि जायँ तो मोक्ष। वैभव और विलासितामय जीवन नहीं होने पावे। जितना बने, उतना सादा–जीवन ही बने। हमारे जितने भी पूर्वज संसार छोड़कर गये, वे सब हमको सिखाकर गये हैं, इसलिए जितना हो सादा–जीवन ही हो। और ये निभता तभी है, जब सन्त की आज्ञा को ज्यों की त्यों जीवनभर प्राणपण से पालन करता रहेगा। श्रद्धा–पूर्ण हो, तभी बच पायेगा। भलेही प्राण चले जायँ, किन्तु आज्ञा की अवहेलना न होने पाये।(ता0 29–9–1981 मं0 प्रातः 8 बजे)
(1311) एक बात बड़े ही मर्म की है–यदि सदाचार का पालन पूरी–सत्यता के साथ निभि जाय तो, वह बच नहीं सकता, पकड़ा जायेगा। अर्थात् प्रभु उसको पकड़ लेंगे।
(1312) सदाचार क्या है ? जो नियम इस पथ के हैं, वे पूरी–सत्यता से निभि जायँ। यही है सदाचार।

(वैसाख कृ012, ता0 21–4–1983 बु0 प्रातः 7 बजे)
(1313) एक ही बात मिली कि–न किसी की कहै और न किसी की सोचे। (वै0 शु0 8 वीं, ता0 2–5–1982 शुक्रवार)
(1314) इतनी भक्ति करे कि, अपने सब पूर्वज श्रीभगवान् के बन जायँ। (ता0 12–9–1981 रविवार प्रातः 7.45 बजे)
(1315) यदि सन्त बनना चाहे तो–इन लक्षणों को अपने में

धारण करे। उत्थान के सूत्र हैं ये। श्रद्धा, सदाचार,निष्कामता। यदि सत्यता है, तो सफलता तो चारों ओर लगी ही रहेगी। अध्यात्म पथ की सत्यता है, श्रद्धा।

(1316) आज की बात ध्यान रहे। सतत्–सावधान रहे। माया अनेकों प्रलोभन दे–देकर तुम पर हाथ मारेगी–

छोरत ग्रन्थि जान खगराया।
विघ्न अनेक करइ तब माया।।

इसलिए पूरी सावधानी से अपना एक–एक क्षण अपने श्रीसद्‌गुरु प्रदत्तसाधन और चिन्तन में ही बिताते रहना चाहिए।

(1317) स्वभाव, वृत्ति, रहनी, आचरण, आहार, व्यवहार। ये सब ऊँचे बनें, तभी उत्थान सम्भव है।

(1318) आज याद आई कि–साधक का काल केवल स्त्री और द्रव्य है।

(1319) चाहे भूखा मर जाय, चाहे शरीर सड़ जाय, परन्तु, विरक्त को चाहिए कि,वह किसी भी बहाने से स्त्री से सम्पर्क न करे। ठीक इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी परस्त्री सम्पर्क तथा स्त्री जाति मात्र के लिए भी, हमारे समस्त–शास्त्र और सन्त, परपुरुष के सम्पर्क का निषेध करते हैं।

(1320) प्रत्येक कार्य पूर्ण–शान्ति से करना चाहिए।

(1321) सेवा, स्मरण और शिशुवत व्यवहार ही हो।

(1322) आज से ही ऐसा अभ्यास बनाओ कि, जिह्वा धीरे धीरे निरन्तर ऐसा नाम–जपती रहे कि, अपने कान सुनते

रहें, यह मन को एकाग्र करने का सर्वोत्तम उपाय है। भजन साधन से पूरा लाभ उठाना चाहिए।

(1323) तीन बातों से बहुत ही बचता रहे। स्त्री, द्रव्य, पूजा–प्रतिष्ठा। रहनी बने केवल इनके लिए।

(सम्वत् 2035 जेष्ठ वदी सोमवती अमावस्या, ता0 5–6–1978)

(1324) कोई काम करें, पहले मन से पूछले कि, जो तुम करने जा रहे हो ? क्या उसे करने की अपने श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा है ? यदि है, तो ठीक, यदि नहीं हैं, तो कदापि नहीं करें? इस क्रिया से भूल अपने जीवन की छाया का भी स्पर्श नहीं कर सकेगी,होना तो दूर। (ता0 9–10–1979)

(1325) अपना मन न रहे, अब रही बुद्धि–सो भी यही विचारे कि, जो श्रीसद्गुरु भगवान् की आज्ञा है, वही करना है। बस एक ही जन्म में बेड़ा पार।

(सं0 2036 ता0 22–11–1979 श्री गुरुवार समय 5 बजे)

(1326) ये तीन बातें– सेवा, तप और भजन। किसी विरले की ही बन पाती हैं– जिसकी बन गई उसका तो बेड़ा पार ही हो गया।

(1327) किसी भी काम को करने से पहले उसकी परिणाम शीलता पर एक दृष्टि अवश्य ही डाल ले। तभी उसे करे। सहसा कोई काम न कर बैठे।

(1328) श्रद्धा, सेवा, धर्म, भाव, इष्ट, किसी के बहाने सें भी विरोध न करे। इनके बहाने से भी विरोध करना सात्विक विघ्न है। इससे अच्छे अच्छे साधक मारे जा रहे हैं।

(1329) देखो,...भजन तो बन जाता है, परन्तु सेवा और रहनी नहीं बन पाती। यदि भजन के साथ ये और हों, तो एक ही जन्म में बेड़ा पार।

(सं0 2036 शिवरात्रि, ता0 15–2–1980 शु0 सु0 9.15 बजे)

(1330) स्त्री से ही तो बचना है। हम नहीं कहते कि, तुम साधु बनो। भलेही रहो गृहस्थ, पर आचरण पालन करो सन्यासी के। हमारे देखते, देखते, सुनते सुनते, जितनों का पतन हुआ तथा प्राचीन इतिहास भी कहते हैं, वह है, एक स्त्री और दूसरी बात सेठ। इनसे कोई भी कैसा भी सम्पर्क नहीं। बहुत थोड़ा सा करना है, तीन–चार बातें हैं, जो पालन करनीं है। ठेकेदार हम हैं। कोई रोक नहीं सकता। एक ही जन्म में बेड़ा पार। (1) शुद्ध गाढ़ी कमाई से जीवन निर्वाह। (2) कभी भी क्रोध नहीं करना, चाहे कैसी भी बात हो। (3) किसी से लड़ना नहीं, चाहे भलेही वह तुम्हारा खेत चराले, चाहे कैसी भी हानि करदे। (4) इसके साथ साथ नाम–जप करते रहें तथा स्त्री से और सेठों से बचते रहें। इतना करलो, ठेकेदार हम हैं। कोई रोक नहीं सकता। एक ही जन्म में बेड़ापार। हाँ गृहस्थ हों, तो एक पत्नीव्रत का पूर्णपालन भी अवश्य ही करें।

(12 वर्ष के मौंनी एक साधु की घटना याद रहे)

(स02036 फा0 शु0 14, 29–2–1980 शु0 8 से 9बजे)

(1331) यह न मान बैठे कि, हम में अवगुण हैं हीं नहीं। तो विकारों से त्रिकाल में भी पीछा नहीं छूट सकता।

पंडित जी के कृपापात्र संकलन कर्त्ता बाबा श्री कृष्णदास जी
महाराज प्रसन्न मुद्रा में

(1332) यदि अपने से कोई भूल हो जाय, तो उसे शीघ्र ही स्वीकार ले, तो उलझन से शीघ्र पार हो जायेगा।

(स0 2036 चैत्र कृ0 8, ता0 9–3–1980 प्रातः 7 बजे से पूर्व)

(1333) सभी साधकों के लिए यह बात अन्तिम है तथा परम आवश्यक भी है। यह जीवन केवल इनके लिए बने, यह सूत्र है और सब तो इसकी व्याख्या है। हाँ, यह तभी सम्भव है, जब जीवन–पवित्रतम होगा। राग–द्वेष, छल–कपट, ईर्ष्या, क्रोध आदि एक न रहने पाये। मरे पीछे जो मिलना है, उसको इसी जीवन में पालें।

(1334) जीवन में सबसे बड़ी बाधा है–कामना। मन में उत्तम से भी उत्तम कोई चाह न हो। यदि हो भी तो केवल एक श्रीप्रभु से मिलने की। यह सब हो सकता है। केवल कथन मात्र ही नहीं हैं।

(1335) यह हमारी अनुभूति है कि, जो शरीर को ही अधिक कसते हैं, उनको आगे चलकर दंभ करना पड़ता है। शरीर को अधिक कसने से भोग्य ही बढ़ता है। संयम करना है मन का। इस पर कभी भी विश्वास न कर बैठे। उदाहरणः– श्रीव्यासजी का स्त्रीरूप अपने शिष्य के अहंकार चूर करने के लिए। (चैत्र शु 3 ता0 19–3–80 बुधवार शांय 4 बजे)

(1336) समय बहुत दुस्तर है–बुलाकर कही कि–स्वांग भलेही भरलो, परन्तु स्त्री, द्रव्य, सेठ, अहंकार, क्रोध,विरोध, दंभ से बच पाना–बहुत ही कठिन है। जीवन भर याद रहे, भलेही भूखा मर जाय, पानी पीकर रह ज़ाय, किन्तु इनसे

बहुत ही बचे। सेठों के हाथ में अपनी उँगली न पकड़ावे। अपने परम–श्रद्धेय पूज्य श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज और परमपूज्य पण्डित बाबा श्रीरामकृष्णदासजी भी यही कहते कि, स्त्री और सेठों से बच गया तो विरक्त साधक का बेड़ा पार हो गया। नहीं तो ये साधक को कच्चा ही चबा जाते हैं, भूनते भी नहीं हैं।

(1337) किसी भी बहाने से क्रोध, विरोध नहीं। और कुछ नहीं तो अपने त्याग वैराग्ञ का ही अहंकार हो जाता है। भजन भलेही कम हो तो कोई बात नहीं, किन्तु इनसे बहुत ही बचे। हाँ, स्त्री–द्रव्य से तो बच भी जाते हैं, किन्तु विरोध से नहीं बच पाते। किसी भी बहाने से क्रोध विरोध नहीं करे। (सं0 2036जे0 कृ0 30,ता0 14–5–1980 बुधवार)

(1338) सब्रके बस की बात नहीं–एक ही बात, प्रपंच न बढ़ावे, सादा जीवन। माया विवश करेगी। साधुओं पर लोग बड़े बड़े काम करा लेते हैं, सावधान ! ठगिया संसार से। (श्री गुरुपूर्णिमा, ता0 26–7–1980 रवि,9 बजकर 5 मिनट)

(1339) देखने में यह काम अति उत्तम ही जान पड़ते हैं, तथापि हैं, सब प्रपंच ही। जैसे–वहाँ रविवार में कीर्तन हो जाय, सत्संग हो जाय, लीला हो जाय। अन्न क्षेत्र खुल जाय, धर्मशाला बन जाय। इनमें से भलेही कितना ही ऊँचे से ऊँचा कोई धार्मिक कार्य ही क्यों न हो, यदि उसमें संसारी लोगों का सम्पर्क और सहयोग लेना पड़ता है, तो विरक्त साधक के लिए वह प्रपंच ही है। परिणाम में यह

होता है कि–राग–द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, क्रोध, विरोध।

(1340) सर्वोत्तम बात है और सबसे प्रधान भी है– "चिन्तन"। इसको भीतर ही भीतर बढ़ावे। हम जिनके हैं–उनके साथ ही लड़ना, झगड़ना, खेलना, कूदना, रोना, हँसना। जितना बढ़ावे आन्तरिक ही बढ़ावे। ऊपरी कोई काम नहीं। सेवा,नामजप, चिन्तन के अतिरिक्त और सब साधक के लिए प्रपंच ही है। (श्रावण कृष्णा 5, ता0 1–8–1980 शुक्र0)

(1341) सेवा, साधन, तप, इतना बन जाय कि, सीधे नित्य सेवा में ही पहुँच जायँ।

(1342) जो नियम बने, वह जीवनभर पूरा पालन हो।

(1343) प्रधान यह है–श्रद्धा, कामनानाश, पवित्रतमजीवन। साथ ही इन दो बातों से बचता रहे– स्त्री और धनी लोग। ये साधक के काल हैं। (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी 1980)

(1344) आज एकादशी है। (बुलाकर आज्ञा की) कहलो, सुनलो यह तो ठीक है, किन्तु ये तीन बात हों– श्रद्धा हो और पूरी। कामना कोई रहे न, (कितना भी त्याग, वैराग, भजन साधन करलो, कामना सबको खा जाती है), पवित्रतम जीवन अर्थात् विकार कोई रहे ही नहीं। जब ये पूरी सत्यता से बन जाते हैं, तब चौथी वस्तु है, प्रेम–देवता, जिसके दर्शन होते हैं। ये तीनों पूरी–सत्यता से निभि जायँ, तो एक ही जन्म में बेड़ापार। इनमें सदैव अपने को देखता रहे। (पौ0कृ01 सं0 2037, ता0 5–2–1981 श्रीगुरु0 साय 5 बजे)

(1345) प्रातः शौच से जब लौटे, तब बोले कि, एक पुरानी

बात स्मरण हो आई। बहुत पुरानी..। अपने बूढ़े बाबा (पूज्य श्री उड़ियाबाबाजी महाराज) के श्रीमुख के शब्द हैं कि, जीव श्रीभगवत् प्राप्ति के लिए चले और हाथ कुछ नहीं पड़े, तब संसार की ओर ही लौट पड़ता है। प्रायः लौट पड़ता है।

(सं0 2036, मा0 कृ0 4, ता0 8–2–1981 रवि011 बजे)

(1346) जब संसार ने हमें निकाल ही दिया, तब फिर हम अपने आपको संसार के ही धर्मों में क्यों फँसायें। यदि अब भी फँसाते हैं, तो यह तो बहुत ही बड़ी बंचना है।

(1347) लोग तो कहते हैं कि, बड़े साधु हैं, वैरागी हैं, तपस्वी हैं, प्रेमी हैं और हमारे यहाँ जो संसार में प्रधान हैं–स्त्री, द्रव्य, प्रतिष्ठा, अच्छे अच्छे महल आदिक, सभी वैभव भरे पड़े हैं, फिर हम काहे के वैरागी हैं ? यह तो पूरी बंचना ही है। लोग कहें वैरागी, तो हमें अपने में देखते रहना चाहिए कि, हम वास्तव में हैं अथवा प्रतिष्ठा रूपी विष्ठा के ही कीड़ा बने फिर रहे हैं। जो संसार के लिए प्रधान हैं, वे ही हमारे यहाँ वैराग्न है। (होली,ता0 20–3–1981)

(1348)सन्त तो जहाँ स्वयं चल रहे हैं, वहीं चलने की बात कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त संसारी वस्तु कैसे दे सकतें हैं। (ता0 1–3–1979)

(1349) जो स्वयं अपनी चाह नहीं मिटा सका, वह दूसरे की चाह कैसे मिटा सकता है। अर्थात् दूसरे को निष्कामी वही बना सकता है, जो पहले स्वयं अपने आप में पूर्ण निष्कामी होगा। (ता01–3–1979)

(1350) मन्दिर या धर्मादा की संस्था में कहीं भी कोई भार या पद अपने ऊपर न ले। इनसे पार तो कुछ गिने चुने लोग ही हो पाये होंगे, परन्तु गिरे सैकड़ों हजारों हैं। लोभ से अपने को बचा नहीं पाते हैं, इसी से वृत्ति गिरि जाती है। और अपराध बन जाते हैं,प्रेत बनना पड़ता है (ता026/5/80)

(1351) जो आज कल अमावस्या, पूर्णिमा, एकादशी, संक्रान्ति, आदि पर्वों पर कामना से दान दे देकर अपने पाप नष्ट करना चाहते हैं, वे बड़ी भारी भूल में है। पाप–बिना भोगे निवृत्त नहीं होते। हाँ, साधु–सन्तों को पाप की कमाई का दान देकर, उनकी साधना में बाधक बनने का अपराध और कमा लिया। (ता0 12–6–1980)

(1352) प्रारब्ध बस जो मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहे, भले ही कुछ कष्ट हो तो सहले, परन्तु शारीरिक सुख सुवधा की इच्छा न करे। संसारी वस्तु पाकर प्रसन्न न हो। श्रीप्रभु जो दे दें, उसी में सन्तोष करे।

(1353) जैसे संसारी लोग पूरी सत्यता से तथा पूरी–लगन से अपने कामों में लगते हैं, वैसे ही हमको भी लगना चाहिए, यही हमारी सचाई है।

(1354) भलेही धाम–वास हो रहा हो, भजन हो रहा हो, सत्संग मिल रहा हो, परन्तु जब तक उसको जीवन में नहीं उतारेंगे, तब तक कोई लाभ नहीं।

(1355) सत्संग की बड़ी महिमा हैं। आज तक जितने भी उठे हैं, सत्संग से ही उठे हैं। जिस किसी नें सत्संग को

अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया है, वही उठ पाया है। ऊपरी बातों से काम नहीं चलेगा। इसमें पूरी सत्यता होगी तभी उठाव होगा। (ता0 7–8–1980)

(1356) कोई भूल होने पर यदि मन में प्रसन्नता होती हो, तो जान लो कि कोई बड़ी विपत्ति आने वाली है। यदि खेद हो, पश्चाताप हो, तो वह भूल कब तक टिकेगी। धीरे–धीरे किनारा कर ही जायेगी। विकारों को रोकने में यह खेद और पश्चाताप बड़ा ही सहायक सिद्ध होता है। निराश न हों, विकारों से बचने का प्रयत्न जीवन–पर्यन्त करता ही रहै। (ता0 21–8–1980)

(1357) सरलता, समस्त सद्‌गुणों की जननीं है। इस पथ में इसके बिना कुछ भी हाथ नहीं लगता।

(1358) मन अपने आप विषयों में और संसार में दोड़े, तो वह क्षम्य है, परन्तु यदि हम उस समय उसको रोकने की अपेक्षा उसका साथ दे रहे हैं, तो अपराधी हैं।

(ता0 8–10–1980)

(1359) उपासना का एक यह क्रम है कि, पहलें हम भगवान् श्रीशंकरजी की उपासना करें, तो विकार मिट जाते हैं। तब श्रीरामजी की उपासना करें, तो जीवन में सदाचार और मर्यादा का पालन होगा। उसके फल स्वरूप तब भगवान् श्रीकृष्ण का प्रेम–स्वरूप समझ में आयेगा। तभी श्रीब्रज की लीला समझ में आयेंगी। तभी श्रीनन्दलाल में प्रेम होगा।

(ता0 28–3–1985)

(1360) सन्त की (श्रीसद्गुरु की) आज्ञा–पालन करने से, ही जीवन निष्पाप बनेगा। (ता0 19–5–1980)

(1361) जैसे सन्निपात ग्रस्त रोगी के लिए प्रतिक्षण औषधि ा का प्रयोग तथा उपचार होता रहता है, एवं सब प्रकार की सावधानता रखनी पड़ती है। वैसे ही मन के शान्त करने में भी ऐसा ही प्रयत्न कम से कम तो होना ही चाहिए। साधारण रोगी, का जैसा उपचार यदि किया जाय, तो सन्निपाताक्रान्त रोगी निरोग हो ही नहीं सकता। वैसे ही मन के विषय में समझना चाहिए। सम्प्रति प्रायः नीची अवस्था का ही पालन साधक जगत में होता है। मन के ऊपर शनैः शनैः बहुत दबाब पड़ना चाहिए। तब कहीं इसके शान्त होने की आशा की जा सकती है।

(1362) इन्द्रियों को मन माना छोड़कर, फिर मन को शान्त करना चाहे, तो यह मूर्खता है।

(1363) जिस समय साधक वास्तविक रूप में आ जायेगा, उस समय की अवस्था श्रीप्रियतम के अत्यन्त सान्निध्य की होगी।

(1364) सम्प्रति साधक जगत में नवीन विचार उत्पन्न हो गये हैं, तथा हो रहे हैं। अब शास्त्र की आज्ञानुसार साधन करना कठिन हो रहा है। अतएव साधक सरल मार्ग खोजने लग जाता है।

(1365) सर्वतोभाव से विकारों का नाश तो तभी होता है, जब श्रीप्राणनाथ के प्रेम सागर में साधक डूब जाता है।

(1366) यदि साधक को साधना के नियमों की चिन्ता और भगवत् चिन्तन होने लगे, तो अन्य चिन्तायें स्वतः ही भाग जायेंगी। यह लाभ सुलभ है।

(1367) प्रारम्भ में आश्रय, आगे चलकर अनुयायित्व, यह क्रम उचित जान पड़ता है। या यों समझ लें कि, आश्रयत्व ही अनुयायित्व में परिणित हो जायेगा।

(1368) **सबका फलः**—एकान्त प्रियता, उपरति, निरन्तर भजन तथा श्रीजीवनसर्वस्व श्रीहरि में पूर्ण आत्मीयता।

(1369) दास और कान्त, ये दोनों भाव प्रभु की किशोरावस्था में ही ठीक बैठते हैं। सख्य तथा वात्सल्य, बालमूर्ति में।

(1370) जो दीर्घकाल ठीक—ठीक भजन करने की इच्छा हो, तो शरीर को सँभालते हुए भजन करने का ही विचार रखे। हाँ, देहाध्यास न बढ़ा बैठे। यह ध्यान रखे—"तन बिनु वेद भजन नहिं बरना"। (सम्वत् 2011,श्रावण शु010 वीं, सोमवार)

(1371) पापों के क्षीण होने के बाद अन्तःकरण में सत्व का विकास होता है, तब विवेक उपजता है। तदनन्तर जितेन्द्रियता एवं अन्तर्मुखता की बृद्धि होने लगती है। यही आत्मोत्थान का सोपान है। अतएव पापों के क्षीण करने के लिए साधक को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न है—श्रद्धा आदिक।

(1372) सर्वतोभावेन साधक तो श्रद्धा, संयम, तप, त्याग, वैराग्य एवं ईश्वर स्मृति ही बढ़ाता रहे। इनसे सदैव अतृप्त ही रहे। इनके लिए पूर्ण व्रत हो। इनका पालन करके इनकी ही याचना हो। इत्यादि।

(1373) सफलता तो श्रीप्राणनाथ के हाथ है। हाँ साधक स्वप्न में भी अपने संयम में शिथिलता न आने दे तथा यह न मान बैठे कि—मैं अब पूर्ण संयमी बन गया।

(1374) यदि करते बन जाय, तो भजन के समान अन्य कोई शुभ काम है ही नहीं।

(1375) जो कार्य बिधि पूर्वक किया जाता है, उसी का फल उत्तम होता है। विपरीत ढंग से किये हुए का फल भी विपरीत ही होता है।

(1376) भजन का फल वास्तव में भजन में अतृप्ति है। उत्तरोत्तर सम्बर्द्धन की आकांक्षा उपजती रहे। किन्तु जब ठीक ढंग से नहीं किया जाय, तब भोगों की उपलब्धि करा बैठता है। जिससे पतन सुनिश्चित है। ऐसे ढ़ंग से भजन करना चाहिए, जिससे हृदय में आह्लाद् उत्पन्न हो एवं रस की उपज होने लगे।

(1377) श्रीनाम—जप की अनेकों बिधियाँ हैं। कोई गाजे बाजे के साथ संकीर्त्तन का महत्व वर्णन करते हैं। कोई जोर—जोर से गाने में रुचि रखते हैं। कोई—कोई होठ ही होठ में श्रीनाम का उच्चारण अच्छा समझते हैं। बहुत से साधकों का मत है, कि मानसिक जप ही सर्वोत्तम है। वस्तुतः साधक के अधिकार भेद से समस्त विधियाँ उत्तम ही हैं। अपनी रुचि तो एकान्त में सस्वर (मन्द मन्द स्वर से) ताल के साथ यदा कदा खड़े होकर, अंग संचालन करते हुए ही है। श्रीपरिक्रमा में भी ताल ध्वनि के साथ श्रीनामोच्चारण

तदनुसार पैरों की गति भी होती रहे।

(1378) मृत्यु की पहले से ही पूरी तैयारी करले,जो जीवनभर किया जाता है, वही अन्तकाल में स्मरण होता है। ऐसा नहीं कि, जीवनभर संसार में डूबे रहे और अन्तकाल में श्रीठाकुरजी का चित्रपट सामने रखकर कीर्तन करने से ही मान लिया कि, बस पार हो गये।

(1379) वासना अति सूक्ष्म वस्तु है। वह हृदय में सदैव चिपकी ही रहती है,जो अन्तकालमें विराटरूप लेकर सम्मुख खड़ी हो जाती है। वासना के अनुसार ही दूसरा जन्म होता है। इस कारण वाल्यकाल से ही उपासना का विधान है। अर्थात् अपना सम्पूर्ण जीवन प्रभु के काम में ही आवे। अन्तकाल में जो चिन्तन मन में रहेगा, वही जन्म होगा।

(ता0 23—10—1985)

(1380) भोजन, शयन, शौच, स्नान आदिक सब शरीर की रक्षा के लिए ही हों और शरीर हो साधना के लिए और साधना हो श्रीभगवत् प्राप्ति के लिए। तभी जीवन की सफलता है। (ता0 27—2—1986)

(1381) प्रत्येक कार्य करने से पूर्व बड़ी गहराई से यह विचारकर देख ले कि, यह कार्य संसार के लिए है या अपने लिए या श्रीजीवनधन के लिए। यदि अपने और संसार के लिए है, तो कदापि न करे। यदि प्रभु के रिझाने के लिए है, तो तुरन्त कर डाले। यही युक्ति है, प्रपंच से बचने की। और यही परम—कर्तव्य भी है साधक का। (ता0 27—2—1986)

(1382) कामना–वासना तनिक भी रह गई, तो फिर संसार में लौटकर आना ही पड़ेगा। भलेही श्रीतुलसीदासजी की भाँति श्रीरामचरितमानस जैसा ग्रन्थ ही लिखकर लाखों लोगों का उद्धार ही क्यों न कर दिया हो। परन्तु कामना लेकर मरे, तो आकर पूरी करनी ही पड़ेगी। भलेही काम बहुत ऊँचा हो, किन्तु वासना रहेगी, तो उसके लिए संसार में जन्म तो लेना ही पड़ेगा। (ता0 30–3–1986)

(1383) वैराग्य का अर्थ कपड़ा रँगना नहीं हैं। वैराग्य माने अन्तःकरण खाली। इनके (भगवान) अतिरिक्त कोई इच्छा ही नहीं उठे।

(1384) केवल टाट लपेटकर,दिगम्बर (निर्वस्त्र) होकर, वृक्षों के नीचे रहने का नाम भी त्याग नहीं है अपितु इनके और अपने बीच बाधक वस्तु के त्याग का नाम ही वास्तविक त्याग है।

(1385) मन तो एक है, चाहे इसको संसार के रिझाने में लगा लो, चाहे प्रभु के रिझाने में। जब संसार का रिझानां बन्द हो जायेगा, तभी इनको रिझा पाओगे। (ता0 8–5–1986)

(1386) हम अपने जीवन की कहें। कहानी नहीं है। चाहे इसके कहने से सुकृत नष्ट होते हों, तो भलेही हो जायँ, परन्तु हम कहेंगे अवश्य। सम्भव है, कोई इसको सुनकर चलने लग जाय। हाथरस में हमारा सब समय जैसे इनकी चर्चा और भजन में बीत ही रहा था, इनके अतिरिक्त दूसरी कोई चर्चा ही नहीं थी। धन नहीं बटोरा। जबकि, दूसरे

पण्डित हमारी मूर्खता पर उपहास भी करते थे। यह सब हो ही रहा था कि, तभी श्रीरासबिहारी बनकर पहुँच गये और पकड़ लाये इधर। उस समय हमारी जो दशा हुई उसको हम ही जानें। कोई भुक्त भोगी ही अनुमान लगा सकता है। हम रासबिहारी बालक को श्रीरासबिहारी ही मान बैठे। न कुछ देखना, न कुछ सुनना, यहाँ तक कि, देहाध्यास भी नहीं रह गया था। उस स्थिति के लिए तो हम आज भी तरसते रहते हैं। अब तो हमारा जगने से सोने तक एक भी क्षण व्यर्थ ही नहीं जा पाता है। शौच के समय नाम बन्द हो जाता है, वह समय भी बिना नाम के हमें अखड़ जाता है। हम कभी बोलते हैं, तो बिवशता में ही बोलते हैं। इच्छा यही रहती है कि, बोलना ही न पड़े। इस प्रकार पूरा समय श्रीनामजप में ही लगाना है, तब कहीं जाकर प्रेम देवता की प्राप्ति होगी, जो इनसे भी बढ़कर है। प्रेम देवता आये न कि, प्रभु तो उनके पीछे–पीछे स्वयं ही चले आयेंगे।

(1387) **प्रश्नः**–पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा से कैसे बचा जाय ? हम गृहस्थों को प्रवृत्ति में ही निवृत्ति का लाभ कैसे मिले ?

उत्तरः–आध्यात्म में ठीक–ठीक प्रवेश तो निवृत्ति–मार्ग में ही होता है। निज इष्ट–चिन्तन तभी सम्भव है, जब चित्त में कोई बासना न हो तथा चित्त कहीं अन्यत्र आसक्त न हो। आचार्यों ने प्रवृत्ति–मार्ग बालों के लिए युक्ति निकाली है कि, वे जो कुछ भी करें, इष्ट के निमित्त ही करें तो कहीं

आसक्ति नहीं रह सकती। भलेही अपना ही पुत्र है, किन्तु पिता का परम कर्तव्य है कि, बाल्यकाल से ही उसको श्रीभगवत् की ओर झुकाता चले। पूर्ण–सदाचारी बनाकर, श्रीप्राणनाथ के अर्पण कर दे। अब इसको श्रीभगवद्–वस्तु मानकर पालन, पोषण और पूर्ण–संरक्षण करे एवं सब प्रकार से सत्पात्र बनावे, जिससे यह श्रीप्रियतम का कृपा–पात्र बन सके। हाँ, इससे अपना कोई स्वार्थ–साधने की नहीं सोचे। इस प्रकार से सँभाले, तो पुत्र का उद्धार तो हो ही जायेगा, साथ ही इसको श्रीप्राणनाथ का जन बनाने के कारण इस सत्कर्म से अपना भी उद्धार हो जायेगा। अब यह वस्तु श्रीभगवान् की बन गई। ऐसा करने से अब पुत्रमें आसक्ति नहीं रह सकती, यह विचारणीय बात है कि, आसक्ति श्रीभगवद् विमुख वस्तु में ही होती है, उसमें मोह रहता है और श्री भगवद् वस्तु में कर्तव्य–पालन। श्रीप्रियतम की वस्तु है, यह मानकर, संरक्षण मात्र रहता है, उपेक्षा नहीं, अनासक्त योग से पूरा सँभाले। अब कहाँ रही पुत्रेषणा ?

इसी प्रकार गाढ़ी कमाई के द्वारा उपार्जित किया हुआ धन ही वास्तव में धन है। अन्याय तथा पाप की एक कौड़ी भी इसमें न मिलने पाये। इस पवित्रतम धन को सर्व प्रथम अपने इष्ट की सेवा में अर्पण करे। करे अपनी सामर्थ के अनुसार ही। फिर साधु सन्तों की सेवा में तथा दीन–दुखीयों की सहायता में लगावे, अब यह द्रव्य अत्यन्त शुद्ध बन

गया। इस श्रीभगवत्–प्रसाद को अपने कुटुम्ब के पालन पोषण में लगावे। इसमें यदि कुछ कष्ट सहना पड़े तो इसको तप ही माने। इस तप से श्रीजीवनधन की प्रसन्नता प्राप्त होती है। व्यर्थ–खर्च न बढ़ावे, सात्विकी जीवन ही बनावे। ऐसे द्रव्य में आसक्ति नहीं हो सकती। अशुद्ध पाप के द्रव्य में स्वतः आसक्ति बढ़ जाती है। इस आसक्ति का रोकना कठिन पड़ जाता है। यही बन जाती है–बासना, यही बनती है–नरक का कारण। अनेकों जन्म पर्यन्त–पाप यौंनियों में भयंकर–कष्ट भोगना पड़ता है। अतएव शुद्ध कमाई, पवित्र स्थान में व्यय, यह हुआ सत्कर्म। अब वित्तेषणा रह ही नहीं सकती। यदि ऐसा वानिक बन जाय अर्थात् संतति और द्रव्य दोनों ही श्रीप्रियतम की वस्तु बना सके तो इसके परिणाम में संसार से वैराग्य हो जायेगा तथा श्रीजीवन धन का कृपा–भाजन बन जायेगा और जीवन–सफल हो जायेगा।

माँ अपने शिशु को नहलाती है, वस्त्र पहनाती है, काजल लगाती है, आभूषण धारण कराती है और खूब सँभालती है। फिर अपनी गोद में लेकर उसको चूमती है, देख देखकर अति प्रसन्न होती है। अबोध शिशु को कुछ खबर नहीं, वह तो चाहता है केवल माँ की गोद तथा माँ का प्यार। ठीक इसी प्रकार श्रीभगवान् अपने भक्त को सँभालते हैं, उसकी प्रसंसा कराते हैं, यहाँ तक कि, मान प्रतिष्ठा भी करा बैठते हैं। किन्तु भक्त यह कुछ नहीं मानता और न यह

सब कुछ चाहता ही है। वह तो केवल अपने श्रीप्राणवल्लभ के प्रेम का ही भूखा रहता है। हाँ, श्रीप्रियतम के इन खेलों को देखकर यही कह बैठता है कि, हे मेरे जीवनधन! आप कुछ भी करें, किन्तु करें अपनी प्रसन्नता के लिए ही। जिसमें आपकी प्रसन्नता हो, आप जानें। मैं तो वही पामर अधम जीव हूँ, मैं यह कभी भी नहीं मान सकता कि, मैं प्रंससा के योग्य भी हूँ। हाँ आपको इसमें प्रसन्नता होती हो, तो आप जानें। जैसे माँ शिशु को देखकर प्रसन्न होती है, वैसे ही आपकी प्रसन्नता आप ही जानें।

हाँ, यहाँ अत्यन्त सावधान रहे, कहीं यह न मान बैठे कि, मैं भी कुछ हूँ। इसकी बड़ी सावधानी चाहिए। यहाँ प्रायः जीव चूक जाता है। अपने को दीन हीन पामर ही मानता रहे। यह तो श्रीप्रियतम की ही उदारता है जो कुछ आज हो रहा है। बस, लोकेषणा ठहर ही नहीं सकती। ऐसा वानिक यदि बन जाय, तो प्रवृत्ति में ही परम निवृति बन जाती है।

(1388) "सम्पति सब रघुपति कै आही" यही विचार दृढ़ रहे, जीव धर्म है उद्योग करने का। अकर्मण्यता नहीं ग्रहण करनी। इस सम्पति में से अपनी आवश्यकता के लिए ग्रहण कर लेना। यथा नौकरी कर ली जाय। यथा शक्ति इसमे से शुभ काम में लगाते रहना। उचित तो यही है कि, आय का दशामांश शुभ कामों के लिए निकालकर रख दें। खूब परिश्रम तथा पूर्ण–प्रयत्न के साथ अपने काम में लगे

रहना। जहाँ तक हो सके पाप कर्मों से भय खाते रहें।
(1389) हरिश्चन्द्र या युधिष्ठिर नहीं बन सकें, तो कोई हानि नहीं, किन्तु दुष्कर्मों को कभी भी न अपनावे। परस्पर में मेल भाव रखे। जो काम करे, सबकी सम्मति से ही करे। काम करते हुए श्रीनाम–जप होता रहे। यही प्रयास करना।
(1390) जीव के पवित्र बनने में समय लगेगा, ऐसा मानना, या कृपा जब करा लेगी, तब हो जायेगा, ऐसा मानना, हम तो इसको बहानेबाजी ही मानते हैं। जब हम को श्रीसद्‌गुरु प्राप्त हैं, तो उनमें दृढ़–श्रद्धा करे, उनका अवलम्बन लेकर प्रयत्न करे, तो कुछ असाध्य नहीं है। (ता0 22–6–1978)
(1391) **प्रश्नः**–ब्रह्म, परंब्रह्म और परात्पर परंब्रह्म किस को कहते हैं ?
उत्तरः–किसी विद्वान के और किसी शास्त्र के मत से नहीं, अपने ही विचार से ऐसा समझ में आता है कि, ब्रह्म शब्द की रचना इन चार संयुक्ताक्षरों से हुई है। ब+र+ह+म=ब्रह्म। इन चारों का आशय है–ब=का अर्थ है बनाने वाला अर्थात् सृष्टि का निर्माणकर्त्ता=श्रीब्रह्माजी। र=का अर्थ है रक्षा करने बाला अर्थात् सृष्टि का रक्षण, पालन–पोषण, करने वाला=रमापति श्रीबिष्णुजी। ह=का अर्थ है हरण करने वाला (हर्ता) अर्थात् सृष्टि का संहारकर्त्ता (श्रीहर)= श्रीशंकरजी। म=का अर्थ है मृत्यु के पीछे मोक्ष प्रदान करने वाला अर्थात् मोक्षदाता श्रीभगवान्–मुकुन्द। इन चारों कार्यों के एक साथ करने की सामर्थ्य जिसमें है, वही है ब्रह्म।

प्रत्येक प्राणी की जन्म से लेकर मुक्ति तक चार अवस्थायें होती हैं। जन्म,जीवन, मृत्यु, और तदुपरान्त मोक्ष। इन चारों को जो अबाधगति से सदैव से करता चला आ रहा है, वही है ब्रह्म।

अब बात आई परंब्रह्म की....तो ब्रह्मात् परः इति परंब्रह्मः। अर्थात् ब्रह्म से परे है जो, वही है परंब्रह्म। पर शब्द का सामान्य अर्थ है–ऊपर या ऊँचा, अथवा बड़ा। अर्थात् ब्रह्म से भी जो बड़ा है, ऊँचा है अथवा ऊपर है, वही है परंब्रह्म। या इस प्रकार कहलें कि, जो ब्रह्म पर भी शासन करने की सामर्थ्य रखता हो। अजन्मा, अगोचर, ब्रह्म को भी जो इन आँखों के सम्मुख विविधि रूपों में साक्षात् प्रगट होने के लिए विवश कर देता हो, वही है परंब्रह्म। अर्थात् कौन ? सन्त। इस विवेचना से अब यह स्पष्ट हो गया कि, सन्त अर्थात् गुरु ही परंब्रह्म है। दूसरे अर्थ में यों कहलें कि, वह ब्रह्म ही अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए सन्त का रूप रखकर, हम पाँवर जीवों के बीच में अपना ऐश्वर्य त्यागकर, प्रगट हो गया है। और स्वयं आचरण कर करके अपनी प्राप्ति का मार्ग हम अबोधों को दिखा रहा है। भक्त का आचरण अलग और श्रीभगवान् का आचरण अलग। तब वही ब्रह्म, सन्त के रूप में परंब्रह्म कहलाता है। और वही सन्त हम को गुरुदेव के रूप में मिलकर हमारे कल्याण का ठेकेदार बन जाता है। प्रत्येक शिष्य के लिएं उसके अपने श्रीगुरुदेव पूर्णरूपेण परंब्रह्म ही होते हैं।

यथा– गुरुर् ब्रह्मा गुरुर् बिष्णुर् गुरुर् देवो महेश्वरः।
गुरुः सांक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

अब प्रश्न उठता है कि, सन्त कौन ?..चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे विरक्त। चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष। चाहे पढ़ा लिखा हो, चाहे बिना पढ़ा लिखा। चाहे जिस देश का वासी हो। चाहे जिस धर्म का मानने वाला हो। चाहे धनवान हो, चाहे निर्धन। चाहे रंग का गोरा हो, चाहे काला और चाहे जिस जाति का हो। जिसके स्मरण और दर्शन मात्र से ही अपने आपको श्रीभगवत्–स्मरण होने लग जाता हो। अपने व्यर्थ बीतते हुए जीवन पर ग्लानि पैदा हो जाती हो। मन बुद्धि अपने आपको धिक्कारने लग जाते हों। मैं कौन हूँ ? किस लिए संसार में आया हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? आदि–आदि अपने स्वरूप का बोध होने लग जाता हो। मन में से विकार, वासना स्वतः भाग़ने लग जाते हों और पवित्रता का संचार होने लग जाता हो तथा जिह्वा श्रीभगवत् नामजप करने लग जाती हो। मन में एक अद्भुत–शान्ति का श्रोत फूट पड़ता हो। एक बिशेष प्रकार का स्वाद जैसा आने लग जाता हो। और अन्तिम बात है कि, जिसे पाकर और कुछ भी पाना शेष न रह जाता हो अर्थात् जिसे पाकर अपने सारे अभाव मिट जाते हों वही है सन्त। वही है परंब्रह्म। अर्थात् विकारी से विकारी जीव को भी जिसके स्मरणमात्र से ही माया राज्य से परे की बात स्फुरण होने लग जाती हो, ब्रह्म के राज्य की बात सूझने लग जाती हो, वही है सन्त।

ऐसे सन्त को श्रीगुरु रूपमें पाकर, जीव जन्म–जन्म की वासनाओं से मुक्त होकर, माया के बन्धन से सदा–सदा को छुटकारा पा जाता है। इसलिए श्रीगुरु ही परंब्रह्म हैं, क्योंकि ब्रह्मा, बिष्णु, महेश, तीनों जैसे सृष्टि की रचना, पालन, पोषण और संहार करते हैं। ठीक वैसे ही श्रीगुरुदेव भी साधक के लिए साधन मार्ग की समस्त सामग्री की रचना करते हैं, इस कारण गुरु ब्रह्मा हैं और साधनकाल में बीच बीच में आने बाली समस्त बाधाओं से रक्षा भी करते हैं तथा बाहरी भीतरी (आत्मा और शरीर दोनों का) पालन पोषण भी करते हैं इस कारण बिष्णु भी हैं तथा साधक के मन के विकार वासनाओं को समूल उखाड़ फैंकते हैं, संहार कर डालते हैं। और माया से उवारकर, जीतेजी मुक्त करके, श्रीप्रियतम का प्यारा बना देते हैं, इस कारण श्रीशिव और श्रीभगवान् मुकुन्द भी हैं। इस विवेचना से श्रीगुरुदेव में ब्रह्मा, बिष्णु, महेश और श्रीमुकुन्द भगवान् आदि सभी का समावेश है। अर्थात् श्रीगुरुदेव इन चारों की पुंजीभूत प्रतिमा हैं। इस कारण गुरु–परंब्रह्म हैं।

एक सन्त के बिचार से–गुरु इस कारण भी परंब्रह्म हैं क्योंकि, एक ओर जहाँ ईश्वर ने हमें विकारों के गारे में सानकर यह मानव शरीर देकर माया की कीचड़ में फँसा दिया है। वहीं दूसरी ओर श्रीगुरुदेव ने हमें प्रभु से मिलने का मार्ग बताकर माया के बन्धन से मुक्त करके, उससे बाहर खड़ा कर दिया है। इस कारण श्रीगुरुदेव उस ब्रह्म

से भी बहुत ही परे की वस्तु हैं। अर्थात् परंब्रह्म हैं।

अब परात्पर परंब्रह्म कौन ? एक सन्त के बिचार से जैसे गुरु परंब्रह्म होते हैं, वैसे ही श्रीसद्गुरु परात्पर परंब्रह्म होते हैं। जैसे ब्रह्म से आगे परंब्रह्म होता है। वैसे ही गुरु से आगे श्रीसद्गुरु होते हैं। श्रीरामचरितमानस में श्रीसद्गुरु शब्द केवल चार बार ही प्रयुक्त हुआ है। जबकि गुरु शब्द की अनेक बार आवृत्ति हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि, गुरु से श्रीसद्गुरु शब्द अपने आप में कुछ विशेष अर्थ रखता है। गहराई से बिचारकर देखें, तो यह स्पष्ट होता है कि, गुरु और श्रीसद्गुरु में बहुत ही अन्तर है। गुरु में बसने वाले समस्त सद्गुण, शक्ति, सामर्थ्य, तो श्रीसद्गुरु में होते ही हैं। साथ ही इनसे आगे की बिशेषता यह होती है कि, जो जीव श्रीसद्गुरु की शरण में आ जाता है, उसको अपने से भी पहले प्रियतम की गोद में बैठाल देते हैं। साथ ही शरणागत से अपना कुछ स्वार्थ भी नहीं साधते। और स्वयं एक–एक बात आचरण कर–करके सिखाते हैं। मात्र आदेश करके ही छुट्टी नहीं पा जाते। साधन काल में साधक यदि किसी कारण वस गिर भी जाता है, तो उसको जननी की भाँति उठाकर बार–बार उत्साहित कर करके चलाते हैं। जबकि, गुरु केवल साधन–मार्ग का निर्देश दे कर ही छुट्टी पा जाते हैं। फिर शिष्य कुछ करो अथवा मत करो, अपनी कोई जिम्मेदरी नहीं निभाते। दूसरी ओर श्री सद्गुरु कटिबद्ध होकर, येन–केन प्रकारेण, अपने संरक्षण

में रखकर ही शरणागत को तन–मन–बचन से पूर्ण रूपेण सँभालते हैं। जिस हृदय से अपने जीवन–सर्वस्व श्रीप्रभु का चिन्तन करते हैं, उसी अन्तःकरण से अपने शरणागत के विषय में सोचते रहते हैं कि, जब यह जीव मेरी शरण में आया है, तो इसका उद्धार इसी जन्म में, आज ही, अभी, हो जाना चाहिए। और कभी–कभी श्रीप्राणनाथ से भी यह कह बैठते हैं कि, हे मेरे जीवनधन! मैं अपने विषय में आपसे पीछे बतरा लुंगा, मेरा उद्धार आप भलेही पीछे कर देना, परन्तु इस शरणागत का हाथ तो अभी अपने कर कमलों में थाम लो, मैं आपको सौंपता हूँ। शरणागत के लोक परलोक के अतिरिक्त शरीर के स्वास्थ्य का भी पूरा–पूरा ध्यान रखते हैं। इसके आहार, विहार, व्यवहार, विचार, आचरण, वृत्ति, रहनी, स्वभाव आदि एक–एक बात की क्षण–क्षण जननी की भाँति रखवाली भी करते हैं तथा भरपेट लाड़ भी लड़ाते हैं। प्रतिक्षण यह भी देखते रहते हैं कि, कहीं यह साधक मार्ग से गिर न पड़े। श्री सद्‌गुरुदेव तो वह वात्सल्यमयी माता है कि, जिसकी तुलना में कोई न भूतो न भविष्यति। जैसे जननी अपने गोद खिलोना को स्नान कराके, श्रृंगार करके, पिता की गोद में बैठाकर, बड़ी भारी प्रसन्न होती है। मन ही मन अति आनन्दित होती है। ठीक वैसे ही श्रीसद्‌गुरु अपने शिष्य को विकार वासनाओं से मुक्त करके, सद्‌गुणों से अलंकृत करके, अपने प्रियतम प्रभु की गोद में बैठाकर, बड़े बड़े आनन्दित होते हैं तथा समाज में बैठकर

उसकी भूरि–भूरि प्रसंसा भी करते हैं। मेरे विचार से तो श्रीसद्गुरु जैसी लाड़–दुलार करने वाली माँ इस जगत की तो क्या चले सम्पूर्ण–सृष्टि में भी सम्भव नहीं। मैं इस बात को भुजा उठाकर, पैर रोपकर, ढ़ोल बजाकर निसन्देह कह सकता हूँ कि, श्रीसद्गुरु जैसा श्रीभगवान्, गुरु, माता, पिता, सखा, इष्ट, धन, भवन और परिवार, त्रिलोकी में भी दूसरा कोई है ही नहीं। इतना सब कुछ करते हुए भी स्वार्थ की गन्ध तक भी नहीं रखते हैं कि, मेरा इससे यह स्वार्थ सधेगा, वह सधेगा। इस काम आयेगा, उस काम आयेगा।

'ऐसो को उदार जग माही।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पै राम सरिस कोउ नाहीं"।

इसलिए श्रीसद्गुरु ही परात्पर परंब्रह्म है। त्रिलोकी में सबसे ऊँची वस्तु यदि कोई है, तो वह है, श्रीसद्गुरुदेव। निस्सन्देह ये ही परात्पर परंब्रह्म हैं।

(1392) **साधक और विकार संसार**– (एक साधक के विचार से) जैसे कोई माली आम के दो पौधे लगाये। एक को तो विधिवत् भूमि तैयार करके, खाद तथा नाना प्रकार के उर्वरक डालकर, तब लगाये और दूसरे को जल्दबाजी में लापरवाही से प्रमाद वस वैसे ही लगा देता है। जब तीन चार वर्ष पश्चात् देखता हैं, तो दोनों पौधे एक दूसरे से भिन्न आकार में ही दिखाई देते हैं। जिसको बिधिवत् लगाया गया था, वह तो आज फल दे रहा है और जिसको वैसे ही रोप दिया था, वह ज्यौं की त्यौं अवस्था में ही कुछ

टूटा सा, कुछ मुरझाया सा, ही खड़ा है। इस बात पर माली बैठकर बिचार करने लगा कि, ऐसा क्यों हुआ ? तो पता चल गया कि, उसको तो बिधिवत् भूमि तैयार करके लगाया था, जो आज फलीभूत है और इसको ऐसे ही लगा दिया था जो आज मुरझाया सा दीख रहा है। इस कारण ऐसा हुआ है। दूसरी बात उसके आस–पास तो चारों ओर झाड़ झाँकरों का बाड़ा भी सुरक्षा के लिए लगाया था और सहारे को एक बाँस भी लगाया था। परन्तु इस वेचारे को जो यथावत् ही खड़ा है, कोई सुरक्षा भी प्रदान नहीं की थी, यों ही छोड़ दिया था। जब आँधी आई, तब बाँस के सहारे बाला तो सुरक्षित बच गया और दूसरा आँधी में ऊपर से टूट गया तथा पल्लवों को भी भैंस–बकरी खाती रहीं। इसलिए दोनों में अन्तर दिखाई दे रहा है।

ऐसे ही साधक, साधन करने से पहले अपने अन्तःकरण को साधन के योग्य बनावे तथा श्रद्धा–सदाचार रूपी उर्वरक लगावे, तब साधन प्रारम्भ करे। कामना, वासना रूपी भैंस बकरीयों से बचाने के लिए अव्यर्थत्व और निष्कामता रूपी बाड़ा लगावे। मोह और अहंकार रूपी आँधी से बचाने के लिए दृढ़तम्–महदाश्रय रूपी बाँस गाढ़ दे। काम, क्रोध रूपी अग्नि से बचने के लिए आस–पास पड़े हुए स्त्री, धन, प्रतिष्ठा रूपी कूड़े कचड़े को वैराग्र रूपी सौहनी से झाड़के दूर फैंक दे। निरन्तर नियम से भाव आत्मीयता रूपी स्वच्छ जल से सिंचन करे। तब कहीं साधनरूपी पौधा बढ़ पाता

है। फिर कालान्तर में जाकर प्रेम–रूपी सुन्दर मधुराति मधुर सुपक्व फल आता है, जिसको खाकर, जिसका रस पीकर, साधक तथा उसके स्वजन एवं उसका संसार, प्रेम रस में सरावोर हो जाता है, मस्त हो जाता है। यदि साधन करते करते ऐसा नहीं हो, अर्थात् साधक अपने साधन रूपी पौधे की ऐसी सुरक्षा नहीं करे,तो अहंकार, मोह रूपी आँधी तूफान, साधन रूपी पौधे को उखाड़ फैंकते हैं। और स्त्री, पुत्र, धन, भाई, सगे सम्बन्धी, घर–परिवार की आसक्ति रूपी काँटों में फँसाकर, उसके स्वरूप को वैसे ही विकृत कर देते हैं, जैसे पौधा। इस प्रकार साधक का सारा श्रम व्यर्थ ही चला जाता है। व्यर्थ सब संसार में ही खर्च हो जाता है। साधक का जीवन ऐसे व्यर्थ हो जाता है, जैसे माली का उपेक्षित पौधा तथा किसान का बिना निराया हुआ खेत। खूब उर्वरक खाद, पानी, दिया, पर घास ही बढ़ी। पैदावार कुछ भी हाथ नहीं लगी, यहाँ तक बात है कि, गाँठ का बीज भी व्यर्थ ही गया। अन्त में सार की बात है यह कि, साधन स्वतंत्र न हो, दृढ़तम–महदाश्रय हो, दृढ़तम–श्रद्धा हो, कामना शून्य अन्तःकरण हो। सरलता, विनम्रता, शहनशीलता की त्रिवेणी हृदय में निरन्तर बहती ही रहे, भजन भलेही कम हो,परन्तु रहनी हो श्रीअम्बरीष और श्री प्रह्लादजी जैसी। कटुता,रूक्षता, अहंकार, छल, कपट, राग द्वेष छू न जाय। प्रधान है रहनी, तभी पूरा लाभ होता है।

(1393) **प्रश्नः**–लक्ष्य क्या वस्तु है ? लक्ष्य तक कैंसें पहुँचा

जाय ? (एक साधक के विचार)

उत्तरः–लौकिक और पारलौकिक जितना भी हम देख रहे हैं, सुन रहे हैं, बिचार रहे हैं, वह सब लक्ष्य का ही ताण्डव नृत्य तो है। प्रत्येक मनुष्य क्रियाशील है। सबके भीतर कोई न कोई लक्ष्य शासक बना बैठा है, जो उसके द्वारा क्रिया करा रहा है। अपने–अपने लक्ष्य की प्राप्ति को ही सारा जगत नाँच रहा है। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि, लक्ष्य ही सब कुछ है। सफलता असफलता भी लक्ष्य की ही अनुगामिनि हैं। जो अपने लक्ष्य में दृढ़ है, उसको सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी और जिसके लक्ष्य में शिथिलता है, वही असफलता को प्राप्त होता है। इससे निश्चय हो गया कि, किसी भी कार्य के करने से पूर्व उसका लक्ष्य अवश्य ही निर्धारित करना होगा। उदाहरण के लिए जैसे कोई फौजी सैनिक को निशानेबाजी की परीक्षा के लिय पर्याप्त दूरी पर, एक पर्दे पर लाल चिन्ह लगाकर, जब लक्ष्य भेदन का आदेश दिया जाता है, तब वह अपने लक्ष्य भेदन को जैसी स्थिति में, जैसी लगन से, जैसी लालसा से, जैसी एकाग्रता से, जैसी सत्यता से निशाना लगाने को खड़ा होता है, ठीक यही लालसा, एकाग्रता, सत्यता, लगन, आदर्श है साधक जगत के लिए। सैनिक जब तक अपने लक्ष्य बिन्दु पर ठीक ठीक निशाना नहीं लगा लेता, तब तक बाण नहीं छोड़ता। जैसे ही लक्ष्य पर ठीक–ठीक निशाना लगा कि, फट् से बाण छोड़ देता है और लक्ष्य का भेदन करके अति

प्रसन्नता के सागर में डूब जाता है। लक्ष्य–भेदन के समय सैनिक को न तन का, न धन का, न भवन का, न परिवार का और न शरीर के सुख–दुख, भूख–प्यास, आदिक द्वन्द्वों का किंचित भी ध्यान रहता है, बल्कि उस समय तो समस्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि, शरीर पूर्ण–रूपेण लक्ष्य पर ही केन्द्रित रहती हैं। तभी लक्ष्य का भेदन कर पाता है। यदि ये सब उस समय बहिर्मुख हों, तो त्रिकाल में भी लक्ष्य का भेदन नहीं कर सकता। ठीक यही स्थिति साधक–जगत के लिए आदर्श है।

यदि श्रीभगवत्–प्राप्ति की या श्रीभगवत्–प्रेम प्राप्ति क़ी लालसा हो तो, अपने लक्ष्य–प्राप्ति के लिए इस सैनिक की स्थिति को आदर्श बनाना ही पड़ेगा। ठीक वही लगन, वही सत्यता, वही लालसा, वही एकाग्रता अपनानी होगी। अपने समस्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वाणी, विचार, समय, शरीर, एकजुट अपने लक्ष्य पर केन्द्रित करने ही होंगे। तभी लक्ष्य की प्राप्ति होगी। लक्ष्य की प्राप्ति तो हुई हायी है ही, कमी है अपनी एकाग्रता, लगन, सत्यता, लालसा की। कमी है अपने श्रीसद्गुरु प्रदत्त साधन के माध्यम से उद्यम करने की। यदि अपने मन, बुद्धि, वाणी, विचार, समय, और शरीर, में से एक भी वस्तु अपने लिए बचा–ली तो, लक्ष्य से कोसों दूर जा गिरेंगे। लक्ष्य–प्रांप्ति में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं है। यदि विलम्ब है, तो अपने लगने का।

मेरे बिचार से जितना समय सैनिक के वाण को लक्ष्य

बिन्दु तक पहुँचने में लगता है, उतने ही समय में साधक को भी अपना लक्ष्य–प्राप्त हो जाता है। यदि वह पूर्ण रूपेण सत्यता से लग जाय तो। श्रीभगवत्–प्राप्ति सरल, अति सरल, यदि सत्यता से चलते बने तो।

(1394) श्रीजी की हरिणी–(रंगिणी)। श्रीजी की चकोरी–(चारु चन्द्रिका)। श्रीजी की बृद्धा मरकटी– (कक्खटी)। श्रीजी की सारिका–(सूक्ष्मधी तथा शुभा)। श्रीजी की मयूरी– (तुण्डिका)।

(1395)सबसे बड़ा ज्ञान है–श्रीभगवान् में मोह का हो जाना।

(1396) पूरी ममता केवल श्रीप्राणवल्लभ में ही होनी चाहिए, अन्यत्र व्यवहार मात्र।

(1397) विश्वामित्र पराशर प्रभृतयो वाताम्बु पर्णाशनास्।
तेऽपि स्त्री मुख पंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।।

अर्थात् सैकड़ों हजारों साल तक जल, वायु और सुखे पत्ते खा खाकर तपस्या में लीन रहने वाले विस्वामित्र और पराशर जैसे अनेकों बड़े बड़े तपस्वी भी स्त्री के सुन्दर मुख कमल को देखकर अपने आपको मोह की शिकार होने से नहीं बचा सके। तब फिर हमारे जैसे कीट पतंगे किस गिनती में हैं। इसलिए इससे सतत् सावधान ही रहना चाहिए। कहीं ये अहंकार कर बैठे कि, हम तो इन्द्रियजित हैं, तो एक न एक दिन तमासा बनकर ही रहेगा।

(1398) शल्यन्नं सघृतं पयोदधि युतं
भुंजन्ति ये मानवास्।
तेषामिन्द्रिय निग्रहो यदि भवेद्

विन्ध्यस् तरेत् सागरम्।।

जो मनुष्य घी, दूध, दही युक्त सात्विक वस्तुओं का आहार करते हैं। यदि इसके साथ साथ कोई इन्द्रिय निग्रह और करले तो वह सहज ही में भव सागर से तर जाता है। क्योंकि सात्विक आहार और संयम के द्वारा साधना में बड़ी मदद् मिलती है। (भर्तृहरि शतक से)

(1399) भौंह कमान सँधान सुठान,

जे नारि विलोकनि बान तें बाँचे।

कोप कृसानु गुमान अवाँ घट

ज्यों जिनके मन आँच न आँचे।

लोभ सबे नट के बस ह्वै

कपि ज्यौं जग में बहु नाँच न नाँचे।

नीके हैं साधु सबै तुलसी

पै तेई रघुवीर के सेवक साँचे।।

अर्थात् गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी महाराज कहते हैं कि ऐसे तो संसार में सभी साधु अच्छे ही हैं, सब प्रकार से वन्दनीय ही हैं, परन्तु स्त्री के भृकुटीरूपी कमान पर सन्धान किये हुए चितवन रूपी पैने वाणों से जो घायल नहीं हुआ हो और अहंकार रूपी अवाँ (कुम्हार के वर्तन पकाने की सचल भट्टी) की धधकती हुई क्रोधरूपी आग में जलने से जिसने अपने मन को बचा लिया हो तथा लोभ रूपी नट के वस होकर संसार में वन्दर की तरह नाँच नाँचने से जो ब्रच गया हो, मेरे विचार से तो वही साधु मेरे प्राणधार श्री

राघवेन्द्र सरकार का सच्चा सेवक है। (कवितावली से)

(1400) नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निशि जो जागा।।
लोभ पास जेहिं गर न बँधाया।
सो नर तुम समान रघुराया।।

अर्थात् श्रीरामचरितमानस में श्रीसुग्रीवजी अपने महाप्रभु श्रीराम जी से कहते हैं कि, हे प्रभु! स्त्री के नैनों के वाण से जो घायल नहीं हुआ हो अर्थात् काम के आवेश से जो बचता रहा हो और भयंकर क्रोध की घोर अँधेरी रात्रि में भी जो जागता ही रहा हो, अर्थात् किसी भी परिस्थिति में जिसने क्रोध नहीं किया हो तथा लोभ जिसे कभी भी बाँध नहीं सका हो, हे दशरथ नन्दन श्रीराम! वह मनुष्य तो आपके समान ही है।

(1401) राम चरन पंकज प्रिय जिनहीं।
विषय भोग वस करहिं कि तिनहीं।।

अपने प्राण प्रियतम प्रभु श्रीरामजी के श्रीचरण कमलों में जिसका सच्चा प्रेम हो जाता है, उसे स्वप्न में भी विषय भोग वस में नहीं कर सकते हैं।

(1402) तुम अपनायो तब जानिहों, जब मन फिरि परि है।।
गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी महाराज कहते हैं कि, हे ठाकुर! यद्यपि सारा संसार मुझे आपका दास कहकर ही पुकारता है परन्तु मेरे विस्वास के लिए यह संसारी प्रमाणपत्र पर्याप्त नहीं है। आपने मुझे अपना लिया है, यह तो मैं तभी मानुँगा

परन्तु मेरे विस्वास के लिए यह संसारी प्रमाणपत्र पर्याप्त नहीं है। आपने मुझे अपना लिया है, यह तो मैं तभी मानुँगा जब मेरा जन्म जन्म का विषयी मन स्वभाविक रूप से संसार को छोड़कर आपकी ओर मुड़ जायेगा।

(1403) भव सरिता कहँ नाव सन्त,यह कहि औरन्ह समुझावत।
हौं तिन्ह सौं हरि परम बैरु करि, तुम्हं सन भलौ मनावत।।

"संसार रूपी नदी से पार जाने के लिए सन्त जन नाव के समान हैं," ऐसा कह कहकर मैं दूसरे लोगों को तो समझाता फिरता हूँ,परन्तु स्वयं उनसे रात दिन बैर, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष ही करता रहता हूँ। ऐसा कुटिल होकर भी आपसे अपना परम हित चाहता हूँ। भला अब आप ही बताईए कि, मेरे जैसे अधम का कैसे कल्याण होगा मेरे प्रभु?

(1404) जिन्हँ कर मन इन्ह सन नहिं राता।
ते जन वंचित किये बिधाता।।

अर्थात् जिनका मन मेरे ठाकुर की अनुपम रूप माधुरी को देखकर भी इनसे नहीं लगा, तो वे तो बिधाता ने व्यर्थ ही पैदा किये, जो मानव तन पाकर भी इस परम सुख से वंचित ही रह गये। अर्थात् बिधाता ने मानव तन की परमोच्च उपलब्धि से वंचित ही कर दिये।

(1405) जिस जीवन में लक्ष्य श्रीभगवत्–प्रेम है, वास्तव में वही जीवन "जीवन" है।

(1406) सर्व लक्षण हीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनुसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।।

भलेही उसके बाहरी जीवन जीने का एक भी लक्षण दिखाई नहीं देता, न पवित्रता ही दिखाई देती है, न व्यावहारिकता की ही कोई ज्ञान दिखाई देता है, ऊपर से एकदम सर्व गुणहीन ही दिखाई देता है। परन्तु यदि वह पूर्ण सदाचारी है तथा अपने गुरुजनों के प्रति पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण आदर भाव से सम्पन्न है, तो वह सैकड़ों वर्षों तक जीता है। अर्थात् दीर्घायु होता है। (मनुस्मृति, 4 / 158)

(1407) दो0ः—वेष विषद बोलनि मधुर, मन कटु कर्म मलीन।
तुलसी राम न पाइये, भये विषय जलमीन।।

श्रीगोस्वामीजी कह रहे हैं कि, जब तक तेरे मन में कटुता है तथा तेरे कर्म खोटे हैं और ऊपर से खूब सुन्दर वेष बनाकर, मीठी मीठी—वाणी बोलता फिरता है। और जब तक तेरा मन विषय रूपी जल की मछली बना हुआ है। तथा जब तक तेरा यह कपट दूर होकर, सीधा मन, सीधा बचन, सीधी सब करतूत नहीं हो जाते, तब तक तुझे मेरे जीवनधन प्रभु श्रीराम नहीं मिल सकते।

(1408) दो0ः—— तीन गाँठ कोपीन में, भाजी हू बिन नौंन।
तुलसी मन सन्तोष जो, इन्द्र बापुरौ कौन।।

जिसके तन पर केवल एक लँगोटी है अर्थात् किसी भी वस्तु का परिग्रह नहीं है और साग में नमक पड़ा है या नहीं यह भी पता नहीं है अर्थात् रसना के स्वाद से भी ऊपर उठ चुकी है जिसकी वृत्ति तथा मन में पूर्ण सन्तोष की गंगा बहती रहती है, उसके सामने तो इन्द्र भी क्या चीज है ?

(1409) को जिय की रघुवर बिनु बूझा। अर्थात् इस संसार में अपने प्रियतम के अतिरिक्त अपना और कोई है ही नहीं जो अपनी सुन सके और पूछ सके। सभी स्वार्थी हैं। बिना स्वार्थ के तो कोई एक दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। फिर भला ऐसे संसार से क्या प्यार करना ?

(1410) कहहु कवन सिधि लोक रिझाये। संसार को रिझाने से भला आज तक किसको सिद्धि प्राप्त हुई है।

(1411) सोचनीय सबही बिधि सोई।
जो न छाँडि छलु हरिजन होई।।

संसार में सब प्रकार से साचने के योग्य यदि कोई है तो वही है, जो सब प्रकार से छल कपट छोड़कर अपने प्रभु का नहीं हो जाता। यदि आप अभी तक मेरे दुलारे कन्हैया के नहीं हो सके हो तो आज ही अभी तुरन्त ही हो जाओ न।

(1412) श्रीप्राणनाथ ने तुम्हें सुख का अवसर दिया है, तो सबको बाँटते रहो। अपने काम में कम लो।

(1413) साधू ऐसा चाहिए, जो दुखै दुखावै नाँहिं।
फूल पात तोरै नहीं, रहै बगीचा माँहि।।

साधु तो वही है जो अपने प्रभु के इस संसार रूपी बगीचे में रहते हुए इसके एक भी फूल पत्ते तक को तोड़ता नहीं हो अर्थात् किसी से भी राग द्वेष नहीं करता हो, किसी की आत्मा को दुख नहीं देता हो। सभी के साथ सरलता और मृदुता का ही व्यवहार करता हो। जिस वस्तु की हम सँभाल नहीं कर सकते उसको बिगाड़ने का भी हमें कोई अधिकार

नहीं बनता। प्रभु ने तो इस संसार को परम पवित्र और खूब साफ स्वच्छ ही बनाया था। हमने ही अपने विकारों की कीचड़ से इसे दूषित बना दिया है। अर्थात् "फूल पात तोड़े नहीं" का यहाँ यही अर्थ है कि, सम्पूर्ण संसार में किसी के साथ भी विकार से प्रभावित होकर व्यवहार न करे।

(1414) जो तुम तोरो मैं नहीं तोरों।
तुम सन तोरि कवन सन जोरों।।

हे मेरे प्राणेश! यदि आप अपनी ओर से भी मुझसे सम्बन्ध तोड़ दोगे तो भी मैं अपनी ओर से नहीं तोड़ुँगा। क्योंकि आपके अतिरिक्त इस संसार में और दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं कि, जिसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सके।

(1415) समुझहु छाँड़ि प्रकृति अभिमानी। ऊँची समझ तभी आती है, जब छाँड़ि प्रकृति अभिमानी। अर्थात् अभिमानी प्रकृति को छोड़ेंगे तभी वस्तु को समझने की वृत्ति आयेगी।

(1416) ब्रह्म के निकट होना ही उपनिषद् है।

(1417) शोभा सिन्धु न अन्त लहौरी।
नन्द भवन भरि पूरि उमँगि रह,
ब्रज की वीथिन फिरत बहौरी।।

ऐरी सखी! ऐसी दिव्य शोभा, ऐसी आकर्षक रूप माधुरी, ऐसी मनोहारिनी दिव्य छटा का सागर अन्यत्र और कहाँ मिल सकता है ? अर्थात् कहीं नहीं। अब तो मन में यही बात घर कर गई है कि, नन्द भवन में ही पूरी उमंग के साथ निरन्तर वास किया जाय और ब्रज की गलियों में ही

पूरी मस्ती से विहार करती रहूँ।

(1418) त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशन मात्मनः।
काम: क्रोधस् तथा लोभस् तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेत्।।

तीनों वेदों ने, तीनों कालों में, (भूत, भविष्य और वर्तमान में) तीनों (ज्ञानी, योगी और भक्तात्माओं के लिए) तीनों प्रकार से (लोक, परलोक और शारीरिक दृष्टि से) पतन कारक ये तीनों ही (काम, क्रोध और लोभ) नरक के द्वार बताये हैं, इसलिए इन तीनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

(श्रीगीताजी)

(1419) एत्तैर् विमुक्तः कौन्तेय तमो द्वारैस् त्रिभिर् नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस् ततो याति परांगतिम्।।

गीताजी में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि, हे कौन्तेय! ज्ञान के द्वारा (नरक के द्वार) इन तीनों विकारों (काम, क्रोध और लोभ) से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण के लिए आचरण करता है और इससे परम गति को प्राप्त कर लेता है। मुझे प्राप्त कर लेता है। (श्रीगीताजी)

(1420) मां चयो ऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्येतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते।।

अर्थात् जो पुरुष अनन्य भक्ति योग के द्वारा निरन्तर मेरा भजन करता है, वह इन तीनों गुणों (सत्व, रस तम) को पार करके मुझ ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति में समर्थ होता है।

(गीता. 14/26)

(1421) **भगवान श्री शंकर जी की स्तुति**

शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।
ईश्वरः शर्व ईशानः शंकरश् चन्द्रशेखरः।। 1।।
भूतेशः खण्डपरशुर् गिरीशो गिरीशो मृडः।
मृत्युंजयः कृतिवासाः पिनाकी प्रथमाधिपः।। 2।।
उग्रः कपर्दो श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालमृत्।
वाम देवो महादेवो विरूपाक्षस् त्रिलोचनः।। 3।।
कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर् जटिर् नीललोहितः।
हरः स्मर् हरौ भर्गस् त्र्यम्बकस् त्रिपुरान्तकः।। 4।।
गंगाधरौ ऽन्धकरिपुः क्रतुध्वंसी वृषभध्वजः।
व्योम केशौ भवो भीमः स्थाण् रुद्र उमापतिः।। 5।।

(1422) इस रंग रँगीली दुनिया में सब देख देख सुध भूल गये।

(1423) विज्ञान सारथिर् यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोध्वनः पार माप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्।।

अर्थात् विज्ञान (इन्द्रियों से परे का ज्ञान) ही जिसका सारथी है और मन को सदैव वस में रखने वाला सब प्रकार से सुधा हुआ पवित्रात्मा मनुष्य ही संसार सागर से पार होकर भगवान श्री बिष्णु जी के परम पद को प्राप्त करता है।

(1424) उत् स्वेन क्रतुना संवदत्।

उत्तम कर्म करके तब ऊँची बात बोलो। (ऋग्वेद)

(1425) निष्ठा दृढ़ होनी चाहिए। सन्देह न रहे। पूरा विश्वास हो जाय। अपना हृदय बजाकर कहदे–

(शब्द हो टन–टन, फट्फट् नही)।

(1426) कैसी भी परिस्थिति बने, किन्तु अपने मन में द्वेष किसी के प्रति न उपजने पाये।

(1427) मुझ नगण्य को नहीं भूलते, पलभर एक सच्चिदानन्द।
मैं प्रियतम का प्रियतम मेरे, यही नित्य निर्मल सम्बन्ध।।

(1428) श्रीप्राणनाथ जिसको अपना लेते हैं, फिर उसका त्याग नहीं करते।

(1429) इनका चिन्तन बढ़ाने की पूरी चेष्टा करे।

(1430) भूलो प्रपंच। फिर तो सब बना बनाया है ही।

(1431) आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु।
उत्तम संकल्प ही हमारे भीतर आने चाहिए।।

(1432) जिसकी आवश्यकता जितनी कम होंगी, वह उतना ही ईश्वर के निकट होगा।

(1433) मुख्य तस्तु महत् कृपयैव, भगवत् कृपा लेशाद् वा।।
इस पथ की समस्त उपलब्धियाँ सन्त कृपा साध्य ही हैं, भगवत्कृपा तो लेश मात्र ही कार्य करती है।

(1434) महत् संगस्तु दुर्लभो ऽगम्यो ऽमोघश्च।
लभ्यतेऽपि तत् कृपयैव।।
अर्थात् इस जगत में महत् संग दुर्लभ है, अगम्य है, अमोध है, जो कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

(1435) तमेवैकं जानथ–केवल एक को ही जानो।
अन्या वाचो विमुंचथ–अन्य को मत बोलो।

(1436) यह वही मन है, जिसने चौरासी लाख यौनियों में भटकाया है। क्या यह माया से पार कर देगा ? जिसने मार्ग

चौरासी का ही देखा है, परमार्थ का नहीं।

(1437) यदि मन में लौकिक कामना है, तो श्रीसद्‌गुरु प्राप्त होने पर भी कुछ लाभ नहीं मिल सकता।

(1438) अनेकों अपकार करने पर भी जो दया ही करे, वह है सन्त।

(1439) जब पाप का अवसर आता है, तब कोई नहीं चूकता और जब अध्यात्म का नम्बर आता है, तब सब चूकते हैं। कोई लाखों में एकाध ही सँभल पाता है।

(1440) जब तक शरीर स्वस्थ है, तब तक ही कुछ कर लो।

(1441) इस पथ में परमावश्यक है, ऊँचा संग और सतोगुणी आहार। ये हैं तो उत्थान सुनिश्चित होगा ही।

(1442) आश्रय मिल तो जाता है, पर निभना कठिन है। निभाना कठिन क्या, निभता ही नहीं हैं।

(1443) बात बनाई जग ठग्यौ, मन परबोध्यौ नाँहिं।

कविरा यह मन लै गयौ, लख चौरासी माँहिं।।

अर्थात् ऊँची ऊँची बातें बना बनाकर संसार को उपदेश दे देकर तो खूब ही ठगते रहे, परन्तु अपने मन को एकबार भी इन ऊँची बातों के आचरण की ओर नही लगाया। सन्त प्रवर श्री कबीरदासजी कह रहे हैं कि इसी कारण यह जन्म जन्म का विगड़ा हुआ मन बार बार चौरासी लाख योनियों में हमको लेजा लेजाकर घुमा रहा है।

(1444) संसार का उलझा हुआ तो पार हो सकता है। परन्तु शास्त्र का उलझा हुआ पार नहीं हो सकता।

(1445) जब आँख फूट जायँ, कान फूट जायँ और पावँ टूट जायँ, तब बनता है भजन।

(1446) जीव के बीच में दो हैं– माया और सन्त। एक अपना पाठ पढ़ाता है और ले जाता है नरक। दूसरा अपना पाठ पढ़ाता है और ले जाता है माया और नरक से पार।

(1447) जीव चाहे तो सब कुछ हो सकता है–स्त्री, तो लो। धन,तो लो। पुत्र,तो लो। प्रतिष्ठा, तो लो। वैभव, तो लो और उद्धार तो लो। होगा अवश्य,यदि सच्ची लालसा है तो।

(1448) संसार से उपरति होने लगे और उद्धार की लालसा हो जाय, तो उद्धार का कोई न कोई उपाय अवश्य ही बन जायेगा।

(1449) यदि संसार और शरीर प्रधान है, तो पाप अवश्य ही करने पड़ेंगे। यदि श्रीसद्‌गुरु की आज्ञा पर चलेंगे, तो आनन्द की बाढ़ आयेगी। जो चाहे करके देख ले। मिर्च खाके देख ले या मिश्री। परिणाम प्रत्यक्ष ही होगा।

(1450) दूध, दही, घी, मधु और श्रीगंगाजल जैसे ये पंचामृत हैं। वैसे ही अध्यात्म का पंचामृत है– शुद्ध सात्विक–आहार, पेट साफ, मन साफ, बुद्धि में सात्विक–विचार, दृढ़महदाश्रय।

(1451) कितना भी कुछ कर लो। चाहे प्रवचन कर लो। चाहे कथा कह लो। यज्ञ कर लो, दान कर लो, चाहे जो कर लो, रहोगे इनमें ही–दाम, काम, नाम, चाम।

(1452) यदि श्रीभगवान् की भक्ति कर रहे हो ? और कर रहे हो केवल श्रीभगवान् के लिए ही, तो समस्त सद्‌गुण

वेद, शास्त्रों में जो बताये हैं, स्वतः ही तुम्हारे में आ जायेंगे।

(1453) अद्यावधि जिस किसी ने कुछ पाया है, ऊँचे चढ़कर ही पाया है। जब तक वृत्ति ऊँची नहीं बनेगी, तब तक लाभ नहीं।

(1454) यदि संसार में फँसोगे, तो पाप अवश्य करने पड़ेंगे। और किसी भी सन्त के हाथ फँसोगे, तो अवश्य ही उठना पड़ेगा।

(1455) इस पथ में अपने मन और बुद्धि का बलिदान करना पड़ता है, तभी आगे बढ़ा जाता है। यदि मन के सुझाव मानकर ही कार्य कर रहे हो, तो श्रद्धा कहाँ रही।

(1456) एक हानि तो सहनी ही पड़ेगी। चाहे लोक की या परलोक की। एक की हानि सहोगे, तो दूसरा तो अपने आप ही बन जायेगा।

(1457) कबिरा मन निर्मल भया, जैसें गंगा नीर।

पाछैं लागे हरि फिरैं, कहत कबीर कबीर।।

सन्त प्रवर श्री कबीरदासजी महाराज कहते हैं कि, साधक का मन जिस क्षण विकारशून्य होकर एकदम निर्मल हो जाता है, उसी क्षण से भगवान उसकी सार सँभाल करते हुए उसके पीछे पीछे घूमते फिरते हैं। अर्थात् निर्मल चित्त में ही प्रभु निवास करते हैं। निर्मल चित्त ही भगवत्प्राप्ति का अधिकारी होता है।

(1458) यदि नाव में पानी भर गया, तो वह तो डूबेगी ही। ऐसे ही यदि मन में संसार भर गया तो वह तो डूबेगा ही।

(1459) जितने सन्त हुए हैं, उन सभी ने विकारों को कुचला है, तभी सन्त बन पाये। विकारों का दास कभी भी सन्त नहीं बन सकता है।

(1460) जब तक मन में विकार भरे पड़े हैं, तब तक फूटे घड़े के समान ही है। फूटे घड़े में कितना ही जल क्यों न भरो, उसमें एक बूँद भी नहीं ठहर पाता। ठीक यही दशा विकारी मन की होती है, उसमें भी कितनी ही अच्छी से अच्छी बात क्यों न भरो, ठहर ही नहीं सकती। वह मन आचरण की दिशा में अग्रसरित हो नहीं सकता।

(1461) इस शरीर को पाप की कमाई से पालोगे, तो इसी को तो भोगना पड़ेगा।

(1462) जहाँ कामना–वासना रूपी लाश (शव) सड़ती हैं, वहाँ राग–द्वेष रूपी चील कौआ अवश्य मड़राते हैं।

(1463) जब किसी के करोड़ों जन्मों के पाप उदय होते हैं, तब अहंकार और गुरु जनों में अश्रद्धा उपजती है। ऐसे ही जब करोड़ों जन्मों के सुकृत उदय होते हैं, तब दीनता, विनम्रता, सरलता, शहनशीलता, निरहंकारिता और श्रद्धा की उपज होती है।

(1464) जिसने कुछ किया है, उसी ने कुछ पाया है। यदि प्रियतम का प्रेम पाना चाहते हो, तो सब कुछ करना पड़ेगा।

(1465) यदि लालसा है, तो सब कुछ करा लेगी।

(1466) कमी है लक्ष्य की। यदि लक्ष्य दृढ़ है, तो न प्रमाद होगा न उपेक्षा।

(1467) शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिक सभी को श्रीभगवान् में लगाना है। ये संसार का चिन्तन करते–करते अशुद्ध हो गये हैं। अब प्रभु की सेवा, चिन्तन से इनको पवित्र बनाना है। जैसे द्विज ही मन्दिर में सेवा कर सकता है, सूद्र नहीं, वैसे ही शरीर, इन्द्रिय,मन, बुद्धि पवित्र बनेंगे, तभी श्रीभगवत् प्रेम तथा सेवा के अधिकारी बनेंगे।

(1468) गृहस्थ–शरीर की पवित्रता माता–पिता आदिक गुरुजनों की सेवा से होती है, और विरक्त साधक की की सन्त सेवा तथा श्रीभगवद्–भजन से होती है।

(1469) शरीर को साधना के योग्य बनाने के लिए इसका शुद्ध और सात्विक अन्न से ही पालन–पोषण करे।

(1470) सबसे मुख्य बात है कि, शरीर से पाप न बनने पाये। यह किसी जीवधारी को भी कष्टदायक न हो।

(1471) ह्रदय को श्रीभगवद् स्मरण से पवित्र करे। एकान्त में बैठकर इनकी (प्रभु की) याद करे तथा इनकी कृपा का चिन्तन करे। यह ह्रदय को पिघलाने का, कोमल बनाने का उपाय है। जैसे बने ह्रदय को पिघलाने का ही चिन्तन करे।

(1472) जब–जब संकल्प करे, तब ही तब जान बूझकर संसार में फँसने का संकल्प न करे। मान–प्रतिष्ठा आदि के संकल्प न करे। यह हो जाय, वह हो जाय, ऐसे संकल्प न करे। संकल्प करे केवल इनके लिए ही।

(1473) मनीराम को समझा दे कि, तुम्हारे लिए अब तक बहुत भटक लिये, अब बस करो। जैसे बालक को समझाते

हैं वैसे ही मन को भी समझावे। ऐसा अभ्यास करने से मन की चंचलता रुक जायेगी।

(1474) सावधान! अपनी ओर से कोई संसारी संकल्प न बनने पाये। श्रीसद्गुरु–भगवान् ने हमें कृपा करके सब बिधि अपना लिया है, तो हम भी पूर्णरूप से इनके निकट पहुँचने की पूरी तैयारी करें। कल्पना करे कि, मैं इनके पास पहुँचूँगा, श्रीचरणों में साष्टाँग गिरकर भरपेट रोऊँगा, ये मुझे उठाकर हृदय से लगा लेंगे, पूरी तैयारी इनके पास पहुँचने की। चिन्तन केवल इनका ही, व्यर्थ–चिन्तन न बने।

(1475) कामना, लालसा, बासना केवल श्रीभगवत्–प्रेम की, तथा वैसा ही जीवन बने, दृढ़–वासना बने केवल इनके लिए ही और कोई नहीं बस, यही है तैयारी।

(1476) किसी भी काम में अधूरा पन न रहे। जो करे वह पूरा पूरा ही करे। पूरे मन से, पूरी–सत्यता से तथा पूरी लगन से करे। छल, कपट, दंभ दिखाऊपन छू न जाय।

(1477) वास्तव में अपरस तो यही है कि, जब हम इनकी सेवा के लिए हैं,तो अन्तःकरण को कोई विकार छू न जाय।

(1478) जैसे शरीर के काम में कोई उपेक्षा–प्रमाद नहीं होता है,वैसे ही इनके (प्रभुके) काममें भी उपेक्षा प्रमाद छू न जाय।

(1479) ईश्वर ऊपरी बात नहीं देखता है, देखता है तो यह कि, ये जीव मेरे लिए कितना प्रयत्नशील है। इसके हृदय में मुझ से मिलने की कितनी आग है ? कितनी चटपटी है ? कितनी लालसा है ? कितनी विकलता है ?

(1480) इस पथ में आमूल परिवर्तन है। कन्या से बहू बनना होता है। यह प्रतिज्ञा करले कि, मेरे समस्त शरीर, हृदय, मन, बुद्धि, वाणी, विचार केवल इनके लिए ही हैं। सभी को समेटकर इनमें ही लगा दे और कहीं भी न लगने पायें। ये अपवित्र न बनने पायें।

(1481) जैसे एक परपुरुष के स्पर्श से पतिव्रता सती का हाथ नहीं जला। ऐसे ही अपनी कोई भी वस्तु ऐसी न बन जाय, जो इनके काम न आ सके।

(1482) शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, समय, विद्या, चतुरता जो कुछ भी अपने पास है, सबके सब पूरे के पूरे इनमें लगा दे। तनिक भी बचाकर न रखे। प्रमाद उपेक्षा आलस्य छू न जाय।

(1483) आज शरीर ठीक है, कल न जानें क्या हो ? इसलिए सब काम आज ही पूरे करलो। पूरी तैयारी मरने की। कल हमें मरना है, ऐसा दृढ़–भाव बने, तो संसार से उपरति होगी। फिर न प्रमाद होगा, न उपेक्षा ही। अभिप्राय यह है कि, जो कुछ हो इनके लिए ही हो। पूरी–सत्यता के साथ हो, दंभ न हो, तो इसी जन्म में जीते जी जीवन–मुक्त।

(1484) संसारी लोग अपने लिए सन्तोष नहीं करते हैं, और, और, और। ऐसे ही हमें भी इनसे शिक्षा लेनी है कि, हम भी सदैव प्यासे रहें श्रीभगवत्–प्रेम के लिए। सन्तोष रहे संसारी कामों में। यह हो गया तो क्या ? न हुआ तो क्या ?

(आषाढ़ शु0 2,ता0 3–7–1981 साय)

(1485) वास्तव में दोष–दुगुर्णों का पूरा नाश तो तभी होता है, जब मन प्रेम में डूब जाता है। उपाय यही है कि, सतत् इसी प्रयत्न में जुटे रहें। प्रेम–देव पधारें तब सब काम बन जाय। जब भी, जितने भी संकल्प उठें, तब केवल इनके लिए ही उठें। बार–बार संसारी वस्तुओं का संकल्प बनता रहा और वह मिलती रहीं। अब उल्टे चलें–बन्धन का संकल्प एक भी न उठने पाये।

(1486) देहाध्यास विकार तभी तक हैं, जब तक प्रेम नहीं।

(1487) तीन बातें हैं देहध्यास मिटाने की। आत्मज्ञान हो, ब्रह्मज्ञान हो, या प्रेम हो। ये सब किये नहीं जाते, होते हैं। बार–बार यही भाव उठे कि, मैं केवल इनका ही हूँ।

(1488) विकार मिटाना और संसार को भुलाना। बस इनमें ही लगे रहो।

(1489) प्रेम–देव के बुलाने के उपाय ये हैं–प्रेमी की चर्चा, बार–बार इनका ही चिन्तन। बस हृदय से एक ही पुकार उठे कि, मैं भी कभी ऐसा बनूँगा। इससे भी बढ़कर है प्रेमी का संग। जितने उपाय बनें, केवल इनके लिए ही बनें।

(1490) "प्रीतिर् न यावन् मयि वासुदेवे
न मुच्चयते देह योगेन तावत्"।

जब तक श्रीभगवान् से प्रेम नहीं होगा, तब तक शरीर के बन्धन ही बढ़गें। मुक्ति नहीं मिल सकती।

(1491) लौकिक, पारलौकिक, सब सुख, सुविधा, आराम, झौंक दे आग में। कोई इच्छा, लालसा, कामना, बासना न

रहे। बासना हो केवल एक प्रेम की।

(1492) अभ्यास, वैराग्य दीर्घ काल तक चलें। प्रेमी में श्रद्धा, उसी से प्रार्थना सतत्, यह हो गया अभ्यास। मन में और कुछ न आने पावे, यह हो गया वैराग्य। ये दोनों ही साधक के अंग रक्षक हैं।

(1493) कसना चाहिए मन को शरीर को नहीं। शरीर कसने से बुढ़ापे में सेवा छूट जाती है। प्रत्येक इन्द्रिय की वहाँ के लिए तैयारी करनी पड़ेगी।

(1494) काम क्रमशः होता है। शरीर, इन्द्रिय, समय, द्रव्य, आदि सब लगाते जायँ। संका, सन्देह न रहने पावे। न होना होता, तो ये वानिक ही नहीं बनता।

(आषाढ़ शु0 8वीं,9–7–1981)

(1495) किसी बात को दृढ़ करने के लिए बार–बार दुहराना, ही तो अभ्यास कहलाता है।

(1496) अब मैं कासौं बैर करूँ ?

इष्टाकार वृत्ति हो जाने के बाद सम्पूर्ण संसार भगवान का ही स्वरूप दिखाई देता है,तब वह किसी से भी बैर विरोध नहीं कर पाता, कारण कि उसे सर्वत्र अपने प्रियतम का ही दर्शन होता है। उस समय वह कहता है कि "अब मैं किससे बैर करूँ ?" सब ओर तो मेरा प्यारा ही प्यारा है। अर्थात् भगवदाकार वृत्ति होने के बाद ही जीव का जीवत्व छूट पाता है और तभी बैर विरोध से पिछाई छूट पाती है।

(1497) अनिर्वचनीयं प्रेम–स्वरूपम्।

गुणरहितं–कामना रहितं प्रतिक्षण बर्द्धमानः
मविच्छिन्नं सूक्ष्मतर मनुभवरूपम्।

प्रेम वह वस्तु है कि, जिसका स्वरूप वाणी से कहने में नहीं आता। तीनों गुणों से परे है। कामनाशून्य है। प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है, कभी भी गिरावट नहीं आती। कभी भी क्षीण नहीं होता। अतिसूक्ष्म से सूक्ष्म भी है और अनुभव ही किया जा सकता है वर्णन नहीं। (ना0 भ0 सू0 54)

(1498) उतते कोई न आवई, जासूँ पूछूँ धाय।
इतते सबही जात हैं, भार लदाय लदाय।।

यहाँ से तो सभी कर्मों का बोझा लाद लादकर जाते देखे जाते हैं। कहाँ जाते हैं ? यह जाने वालों में से कोई भी लौटकर नहीं बताता कि वे कहाँ जाकर रह रहे हैं। यदि कोई लौटकर आये तो उससे दौड़कर यह सब पूछ लूँ कि भईया यहाँ से जाने वाले आप सभी लोग कहाँ रहते हो।

(1499) पावक परत निसिद्ध लाकरी होत अनल सम जानौं।

जैसे बुरी से बुरी लकड़ी अग्नि में पड़ते ही अग्नि का ही रूप ले लेती है ठीक इसी प्रकार सन्त को पूर्ण रूपेण समर्पित हो जाने पर पतित से पतित जीव भी सन्त का स्वरूप ही बन जाता है।

(1500) बाँधै लोटा डोरि तू जब चालै द्वै कोश।
जा पथ सौं नहीं लौटनौं, तासौं क्यौं वेहोश।

जहाँ एक के बाद एक एक करके सारा संसार चला ही जा रहा है। आखिर एक दिन जहाँ तुझे भी अपना टाट

कमण्डल बाँधकर जाना ही होगा, फिर वहाँ की तू अभी से तैयारी क्यौं नहीं कर लेता ? जिस मार्ग पर भूल से भी दो पग आगे बढ़कर आज तक कोई वापस ही नहीं लौटा उससे तू वेहोश क्यौं बैठा है? अर्थात् उस घर को क्यौं भूल गया है, जहाँ तुझे जाना है ?

(1501) जीव दया, हरिनाम रुचि, सेवन सन्त सुजान।

अर्थात् जीवों पर दया, हरि नाम में रुचि और सन्तों की सेवा, से ही परमात्मा अति शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। ये तीनों ही परम पद की नसैनी है।

(1502) केवल एक के ही बनो, अवश्य होगा प्रेम।

(1503) अच्छा है वह, जिसने अपना सब कुछ श्रीभगवान् को सौंप दिया है और बुरा है वह, जिसने अपना सब कुछ माया को सौंप दिया है।

(1504) नाटक ठीक खेलो, व्यवहार ठीक बरतो, परन्तु रहो सावधान! मन कहीं भी संसार में चिपकने न पाये।

(1505) शत्रु मित्र दुख सुख जग माहीं।
माया कृत परमारथ नाहीं।।

अर्थात् संसार में जितने भी शत्रु मित्र दुख सुख आदिक द्वन्द्व दिखाई दे रहे हैं वे सभी माया के ही बनाये हुए हैं, इस लिए माया के ही स्वरूप हैं। परमार्थ के नहीं।

(1506) सँभल सँभलकर चलना है रे।
गिरि गिरि कर फिर उठना है रे।।

अर्थात् साधक को अपने साधना मार्ग में बहुत ही सँभल

सँभलकर चलना होता है। यदि किसी कारण वस साधना से गिर भी जाय, तो भी निरास नहीं होना चाहिए। जो बार बार गिरने के उपरान्त भी अपना साहस नहीं गिरने देता, बार बार उठने का प्रयास ही करता रहता है, वही सच्चा साधक होता है तथा उसी को सफलता प्राप्त होती है।

(1507) सुधारनी है अपनी भूल।

(1508) अपने में दुर्गुण बढ़ाना ही पशुता लाना है। एवमेव अपने में श्रीसद्गुण भरना, दिव्यता लाना है एवं अपना उत्थान करना है। दुर्गुण हटाने में और सद्गुण बढ़ाने में सतत् जागरूक ही रहना चाहिए।

(1508) अँसुअन कूँ अपने अँचरान सौं,
लालन पौंछि करैं बड़भागी।

साधक को निरन्तर इसी चिन्तन में ही डूवे रहना चाहिए कि, मेरा हृदय निरन्तर अपने प्रियतम की विरह ज्वाला में जब धधकता हुआ फफक फफकर रोता रहेगा, तब मेरे ठाकुर अपने पीताम्वर के छोर से मेरे विरह के आँसुओं को पोंछ पोंछकर मुझे बड़भागी बना देंगे।

(1509) श्रीकृष्ण की दोहनी का नाम है–अमृत दोहनी।

(1510) यह काम हम करेंगे तो, हमें पुण्य मिलेगा अथवा ख्याति मिलेगी। यह विचार लेकर कोई काम न करे।

(1511) प्रीति और ज्ञान मिलकर ही भक्ति बनी है। श्रीकृष्ण मेरे हैं यह है प्रीति। श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं,ईश्वर हैं, यह है ज्ञान।।

(1512) मानव की मानवता के अन्तर्गत जो पशुता घुस गई

है, वह उसे को उठने नहीं देती है। उल्टी भोग वासना की ओर ही घसीटती है। इष्ट के लिए इसी पशुता का बलिदान कर देना है।

(1513) प्रीति राम सौं नीति पथ, चलिय राग रस जीति।
तुलसी सन्तन के मते, यही भगति की रीति।।

संसार में राग, मोह और आसक्ति चार स्थानों में ही होते हैं (किसी व्यक्ति में, वस्तु में, स्थान में और शरीर में)। पूज्य श्री गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं कि, इनको जीतकर अपने प्रियतम से प्रीति करते हुए नीति के मार्ग पर चलना ही समस्त शास्त्र और सन्तों के विचार से भक्ति मार्ग की रीति है और यही हम सबका करणीय भी है।

(1514) सफलता का मूल मंत्र है—प्रबलतम इच्छा शक्ति।

(1515) अपने आपसे यह प्रश्न है कि—श्रीजीवनधन में आत्मीयता की पराकाष्ठा क्यों नही कर देता ?

(1516) तनिक सोचो तो सही कि, तुमने इस सुअवसर को शरीर के लालन—पालन में लगाया है अथवा श्रीप्रियतम की प्राप्ति में ? देखो अपने आपको और खोजो इसका उत्तर ?

(1517) अहम् तथा मम का परिर्वतन कर दो— मैं केवल इनका ही हूँ, यह अहम् का परिर्वतन हुआ। मेरे जीवन—सर्वस्व केवल एक ये ही हैं, यह मम का परिर्वतन हुआ।

(1518) जिसने वासना को पद दलित कर दिया है। वास्तव में वही मुक्त है।

(1519) अपने को बार—बार देखते रहना कि—हम उठ रहे

हैं, या माया के फन्दे में फँस रहे हैं।

(1520) सत्य प्रिय भाषण, ब्रह्मचर्य, मौन तथा रस त्याग, ये उत्थान में परम सहायक हैं।

(1521) यह सत् है, यह असत् है–यह ठीक–ठीक समझ लेना ही ज्ञान है। ज्ञान हुआ तब समझो, जब असत् से सर्वथा चित्त हट जाय। असत् से चित्त का सर्वथा हट जाना ही वैराग्य है। अब बचा सत् (श्री भगवान्)। इसको दृढ़ता से पकड़ लेना ही है भक्ति।

(1522) मानवता का रूप एक ही–ईश समर्पित हो जीवन।

(1523) घट--घट माहीं साँई रमता कटुक बचन मत बोलरे,
तोहि पिया मिलिंगे–
घुँघट के पट खोल रे तोहि पिया मिलेंगे।

अर्थात् सन्त श्रीकबीरदासजी कहते हैं कि, हे भाई! प्रत्येक जीवमात्र में तेरे अपने ही प्रभु विराजे हुए हैं, अपने अन्तर के कपाट खोलकर उनको पहचानने की कोशिश कर। इसलिए सभी के साथ प्रेम का ही व्यवहार कर, किसी से भी दुखदाई कटु वचन तम बोल, तभी तुझे प्रियतम मिल पायेंगे। यदि पियतम से मिलने की कामना है, तो कटुता कठोरता छोड़कर सभी के साथ प्रेम का ही व्यवहार करना होगा।

(1524) बुद्धि विशुद्ध, तपोमय जीवन।

अर्थात् जिसकी बुद्धि विकार शून्य विशुद्ध होगी, वही तपोमय जीवन जी सकता है। तपोमय जीवन में ही भगवान का अवतरण होता है और वही अपने लिए भी तथा दूसरों के

लिए भी सुखद होता है। क्योंकि अपने समस्त सुख दूसरों के लिए वलिदान करके और दूसरों के दुख अपने ऊपर ओढ़कर जीवन जीने का नाम ही तो तप है। न कि दूसरों के सुखों को छीनकर अपने उपभोग में लेने का नाम तप हो। इसीलिए तपोमय जीवन स्वयं के लिए भी तथा दूसरों के लिए भी परम शान्तिप्रद होता है। और यह बनता तब है जब संसार के किसी भी कोने में आसक्ति, राग, मोह और ममता न रह गये हों। यदि ये होंगे तो मनुष्य दूसरों के सुखों को अपने लिए छीनने की कोशिश ही करता रहेगा। फिर तपोमय जीवन कैसे बन पायेगा ?

(1525) नारायण जब अन्त में, यम पकरेंगे वाँहि।
उनसों हू कहि दीजियो, हमें सोपतो नाँहि।।

लोग कहते हैं कि हम क्या करें, हमें भजन के लिए समय ही नहीं मिलता है ? हम अपने घर संसार के कार्यों बड़े व्यस्त रहते हैं। तो उनकी इस बात पर मीठा मीठा व्यंग करते हुए श्रीनारायण स्वामी कहते हैं कि, भईया! जब संसार छोड़ने के अन्तिम क्षणों में यमराज आकर तुम्हें ले जाने के लिए तुम्हारी बाँह पकड़ें, तो उनसे भी यही कह देना कि, अभी आपके साथ चलने के लिए हमारे पास समय ही नहीं हैं। अरे भाई सहाब! ये वहाने बाजी छोड़कर मेरे ठाकुर की अभी तुरन्त ही, आज ही शरण ग्रहण करलो, नहीं तो सब होस ठिकाने आ जायेंगे, जब यमराज के सोटे पड़ेंगे तब। इसलिए राजी से ही भजन करने में लग जाओ।

(1526) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते।। (4/1/9 ब्र0सू0)
इतरे = संचित और क्रियमाण के अतिरिक्त दूसरे प्रारब्ध रूप शुभाशुभ कर्मों का। तु = तो। भोगेन = उपभोग के द्वारा। क्षपयित्वा = क्षीण करके, सम्पद्यते = परम पद को प्राप्त हो जाता है।।

अर्थात् जीव के द्वारा पूर्व संचित और वर्तमान में होने वाले कर्मो के अतिरिक्त अन्य शुभाशुभ कर्म रूप प्रारब्ध का उपभोग के द्वारा भोगकर ही नाश होता है। बिना भोगे प्रारब्ध मिटता नहीं और बिना इसके मिटे जीव परम पद को प्राप्त होता नही। अर्थात् अपने प्रारब्ध को भोगकर क्षीण करने के बाद ही जीव परम पद को प्राप्त होता है।

(1527) शमो दमस् तपः शौचं सन्तोषः क्षान्ति रार्जवम।
मद् भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्म प्रकृतयस् त्विमाः।।
अर्थात् शम (मन का संयम), दम (इन्द्रियों का संयम), तप (दैविक, दैहिक और भौतिक, तीनों प्रकार के तापों को सहन करना), शौच (बाहरी, भीतरी पवित्रता), सन्तोष, शान्ति, आर्जव (सरलता), दया, सत्य और सभी में भगवान का दर्शन करना आदि ये सभी मेरी भक्ति के लक्षण हैं। अर्थात् ये सभी लक्षण जिसमें हैं वही मेरा भक्त है। (श्रीमद्भागवत)

(1528) प्रेम पंथ की कुंजीः—हमारा वही है, जो हमारा चिन्तन करे और हम सा बने।(चैत्र कृ012, 2–4–81प्रातः10.15 मि0)

(1529) यह शरीर जब श्रीभगवान् की वस्तु है ? तो यह पाप नहीं कर सकता। किसी का अहित नहीं कर सकता।

नेत्र संसार को नहीं देख सकते। वाणी कटु, असत्य, और व्यर्थ नहीं बोल सकती। कान श्रीभगवत् गुणानुवाद ही सुनेंगे, संसार की कैसी भी चर्चा नहीं सुन सकते। अर्थात् समस्त इन्द्रिय, हाथ पैर, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, केवल श्री भगवान् के ही काम आयेंगे। ये ही है जीवन केवल इनके लिए की परिभाषा। वास्तव में ये ही है हमारी ईमानदारी।

(चैत्र कृ014, ता0 3–4–1981 शु0 रात्रि 8.30)

(1530) एक बात सदैव ख्याल रहे–हम साधु हुए हैं, केवल भजन साधन के लिए, प्रपंच के लिए नहीं।

(1531) कहीं भी आसक्ति न होने पाये।

(जड़ भरतजी की भाँति सावधान)।

(1532) कामिनी, कंचन दोनों के चक्र से सावधान्। नहीं तो याद रखो! लोक परलोक दोनों स्वहाः हो जायेंगे। इनसे कैसे भी सम्पर्क न होने पावे। (विरक्त के लिए)।

(आषाढ़ शु011, ता01–7–82 श्रीगुरुवार प्रातः6.30 बजे)

(1533) सनमुख स्वामि तो विमुख दुख दोषू।

अर्थात् यदि हम निरन्तर अपने प्रभु के सम्मुख ही रहेंगे तो सभी दुख दोष हम से दूर ही रहेंगे।

(1534) कुबिचारी रिपु पर जय पाता संयम का सेनानी। संयमी साधक ही बुरे विचारों पर विजय प्राप्त कर पाता है।

(1535) निरन्तर अपना ही लौकिक स्वार्थ सोचते रहना माया का बन्धन दृढ़ बनाना है।

(1536) कर्म की सफलता तीन बातों में है–

प्रेम, ज्ञान और कर्म।

(1537) जग के नश्वर सुख में रह जाये न कुछ राग।

(1538) ललित किशोरी बीते बरस अनेकह
देखे नाँहि प्राण प्यारे छार ऐसे जीवे पै।।

अर्थात् सन्त श्री ललित किशोरी जी कहते हैं कि प्रियतम को देखे बिना अनेकों जन्म यों ही बीत गये। क्या लाभ ऐसा जीवन जीने से ? ऐसे जीवन पर तो राख पड़े। अर्थात् ऐसा जीवन तो जीते जी मुर्दे के समान ही है जिसको पाकर भी अपने प्राण प्यारे श्री प्रभु को जी भरके नहीं देखा। अर्थात् यह जीवन प्यारे के विरह की आग में जलकर राख नहीं हो गया।

(1539) त्यक्त मद मन्यु कृत सुकृत रासि।

अर्थात् त्यक्त (त्यागकर), मद (नशा, पागलपन), मन्यु (मान, नाराजी, कोप, शोक, कष्ट), कृत (काटना, नष्ट करना, धज्जियाँ उड़ाना), सुकृत (सत्कर्म), राशि (ढ़ेर, भण्डार)। अर्थात् मनुष्य को सभी प्रकार का मद, मान, अहंकार और क्रोध विरोध सर्वथा त्याग देना चाहिए, क्योंकि ये समस्त सत्कर्मों के भण्डार के भण्डारों को नष्ट कर डालते हैं, धज्जियाँ उड़ा देते हैं।

(1540) किसी भी पुस्तक को केवल मनोरंजन मात्र के लिए न पढ़े, अपितु जीवन उन्नयन तथा परिष्कार के विचार से ही पढ़े।

(1541) तेरे बहुत से जन्म ऐसे ही व्यर्थ गये, जो कर्तव्य रहा,

वह नहीं किया। अब यह मानव जन्म उसी की पूर्ति के लिएं ही मिला है–(चिन्त्त्यते)।

(1542) उत्तम–विचारों में रहते हुए, उत्तम–आचरण करते हुए, सर्वोत्तम वस्तु प्रेम प्राप्त करें।

(1543) क्लेश से जुटाता संगियों का झमेला रे।

प्रिय के प्रदेश जाना पड़ता अकेला रे।।

साधक को कुसंग से सावधान ही रहना चाहिए। क्यौंकि प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव वृत्ति आचरण आहार व्यवहार और विचार भिन्न भिन्न होते हैं। साधक यदि उनका संग करेगा तो अशान्ति तो रहेगी ही। क्यौंकि उसका उनके विचारों से मेल खायेगा नहीं और परस्पर में विचारों का टकराव क्लेश पैदा करेगा ही। इसीलिए संगियों का झमेला शान्ति की अपेक्षा क्लेश से ही जोड़ने वाला सिद्ध होता है। और प्रियतम के देश को तो सभी को अकेला ही जाना पड़ता है। वहाँ तो कोई साथ जाता ही नहीं। सब यहीं के साथी हैं। साधक को इनसे दूर ही रहना चाहिए।

(1544) वाहरी त्याग तो ठीक ही है, तथापि मन में भी कोई संग्रह न करे तो अति उत्तम।

(1545) कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः संगास् त्यजति। यो महानुभावं सेवते। निर्ममो भवति।। (ना० भ० सू० 46) माया से कौन तरता है ? कौन तरता है ? जो असंग रहता है अर्थात जिसके मन में श्रीजीवनधन के अतिरिक्त और दूसरी कोई भी वस्तु क्षणिक भी स्पर्श न कर पाती और जो

महापुरुषों का संग करता है, तथा जो संसार से निर्मम होता है। अर्थात् संसार में जिसकी कहीं भी ममता नहीं होती है।

(1546) उपासना का मूल उद्देश्य है, देहात्मभाव को विलुप्त करना। मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर तो मेरा वाहन है। यह है देहात्म भाव को विलुप्त करना।

(1547) अंहिसा सत्य मस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अक्रोधो गुरु शुश्रूषा शौचं सन्तोषार्जवम्।।

अहिंसा (मन, वचन और कर्म से किसी को भी कष्ट नही पहुचाना), सत्य, अस्तेय (चोरी करके न खाना), ब्रह्मचर्य (शरीर, मन वाणी और समस्त इन्द्रियों का संयम), अपरिग्रह (अनावश्यक संग्रह न करना), अक्रोध (क्रोध न करना), गुरु सेवा, शौच (बाहरी भीतरी पवित्रता), सन्तोष और सरलता साधक के लिए परमावश्यक है। (शारीरकोपनिषद)

(1548) अत्यावश्यकता तो है नहीं तथापि यदि दूसरा जल मिलि जाय, तो शौच कर्म से निवृत्त होकर उससे साधारण स्नान करके, वस्त्र बदलकर, दूसरे वस्त्र पहनकर तब देव–प्रयाग आदिक तीर्थों में गोता लगाना। तीर्थस्नान की विधि उत्तम यही है। निभ सके तो।

(1549) विहंगम मार्ग हैः–ज्ञान–मार्ग।
पिपीलिका मार्ग हैः–कर्म–मार्ग।
मत्स्यमार्ग हैः–उपासना–मार्ग।
ईश्वर है जल, मत्स्य है प्रेमी।

(1550) सच्चरित्रता ही जीवन का आधार है।

(1551) जिससे कुछ काम करायें, उसको पारिश्रमिक अवश्य ही दे देना चाहिए।

(1552) परदोष–दर्शन, आलोचना,परनिन्दा, ये न होने पावें।

(1553) मन्दिर के पुजारी तथा पण्डा आदिकों का यथा–शक्ति सम्मान करें। इनमें दोष न देखें।

(1554) प्रभु अपने मुख ते कही, साधू मेरी देह।
इनके चरणन की मुझे, प्यारी लागै खेह।।

श्रीभगवान स्वयं अपने श्रीमुख से सन्तों की प्रसंसा करते हुए कहते हैं कि, साधु सन्त तो मेरी देह (शरीर) ही हैं। उनके श्रीचरणों की धूल मुझे अत्यन्त ही प्रिय लगती है।

(1555) साधन में युग बीतेंगे फिर भी आभास न होगा,
बस मेरे ब्रत संयम में कृत्रिमता का लेश न होगा,
इन्द्रिन पर संयम होगा, मन पर अनुशासन होगा,
विघ्नौं को सम्मुख पाकर पथभ्रष्ट हतास न होगा।।

(1556) भलेही बड़े महापुरुष का सेवक जानकर संसार हमारी पूजा करता हो तो करता रहे, मान–सम्मान देता हो तो देता रहे, परन्तु याद रखो! इससे अपना कुछ भी काम नहीं बनेगा। अपना काम तो बनेगा, "केवल और केवल," पूर्णरूपेण अन्तर्मुख होकर अपने श्रीसद्‌गुरुदेव की रुचि के अनुसार पवित्रतम जीवन बनाने से, रहनी बनाने से। संसार के अच्छे से अच्छे तथा बुरे से बुरे प्रमाणपत्र भी न हमारा कुछ बना पायेंगे और न हमारा कुछ विगाड़ ही पायेंगे। इसलिए इनकी किंचित भी परवाह किये बिना ही पूरे

उत्साह से आँख–कान बन्द करके लगा ही रहे अपने प्रियतम को रिझाने में और लाड़ लड़ाने में।

(1557) भलेही वह कितना भी ऊँचे से ऊँचा धार्मिक कार्य ही क्यों न हो, यदि उसमें संसारी लोगों का सहयोग और सम्पर्क लेना पड़ता है, तो वह भगवत्प्राप्ति के इच्छुक साधक के लिए प्रपंच ही है। इससे साधक को एक न एकदिन साधन से विमुख होना ही पड़ेगा।

(1558) यदि प्रेमी भक्त अपने प्रियतम के अतिरिक्त क्षणार्ध भी अन्य चिन्तन करता है, तो वह प्रेमी नहीं माना जा सकता। यह तो उसके द्वारा प्रियतम को धोखा और देश निकाला देने जैसा निन्दनीय कार्य ही माना जायेगा। क्योंकि प्रियतम का देश है प्रेमी का हृदय और उसमें घुसा बैठा संसार। तो हो गया न अपने प्रियतम का देश निकाला। इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहे कि, अपने हृदय में लव निमेष भी प्रियतम के अतिरिक्त अन्य वस्तु का प्रवेश न होने पावे। यही है हमारी ईमानदारी और यही है हमारी वीरता अन्यथा तो हम कायर ही हैं। तभी हैं हम सच्चे प्रेमी और तभी हैं हम इनके जन कहाने के अधिकारी।

(1559) सोई बड़ो सूर जाको नेह भरपूर रहे,
छूटत ही देह प्राण लागत–निशाने पै।

प्रेमी का निशाना है अपना प्रियतम और वाण है अपने प्राण तथा तरकस है अपना शरीर। अर्थात् प्राण निकलते ही सीधे अपने प्रियतम में समा जायँ। बीच में कहीं भी अटकें

नहीं। अर्थात् कहीं भी आसक्ति न होने पाये। आसक्ति ही बन्धन का कारण होती है।

(1560) हमारा वही है, जो हमारी जैसी रहनी रहे और हम जैसा बने। हमारी जैसी रहनी बनेगी राग–द्वेष से पूर्ण रूपेण बचकर हमारी एक–एक क्रिया का श्रद्धायुक्त चिन्तन करने से तथा उनका अनुसरण करने से।

(1561) दीवानों का यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते आता है जिनकी समझ तात वे मुख से कुछ कह नहीं पाते।

यह प्रेम पथ इतना अगम है कि, इसको प्रभु के सच्चे आसिक ही समझ पाते हैं। जिनकी मनोवृत्ति में विकार भरे पड़े हैं, उन संसारियों की समझ में ये आने वाली वस्तु नहीं है। जिनकी समझ में यह ठीक ठीक आ जाता है उनकी यही पहचान है कि, सबसे पहले उनकी वाणी इतनी संयमित हो जाती है कि, वे फिर किसी से भी बात करना पसन्द ही नहीं करते। अर्थात् जैसे गूँगा व्यक्ति गुड़ खाने के बाद उसका स्वाद नहीं बता पाता, ठीक यही दशा हो जाती है उनकी।

(1562) घातक वारः–

मेष राशि वालों के लिए रविवार घातक है।

वृष	"	"	शनिवार	"
मिथुन		"	" सोमवार	"
कर्क	"	"	शुक्रवार	"
सिंह	"	"	शनिवार	"

कन्या	"	"	शनिवार	"
तुला	"	"	वृहस्पतिवार	"
वृश्चिक	"	"	शुक्रवार	"
धन	"	"	शुक्रवार	"
मकर	"	"	मंगलवार	"
कुंभ	"	"	वृहस्पतिवार	"
मीन	"	"	शुक्रवार	"

(1563) रे! सन्त की सेवा में रहने वाले साधक सावधान!

हे भाई! तू यह मत भूल जाना कि, जिस महापुरुष की सेवा और सानिध्य में, जिसके भवभय-भंजक सुखद कर-कमलों की क्षत्रछाया में, संसार एवं शरीर के समस्त द्वन्द्वों की सुध बुध भुला देने वाले, श्री प्रिया-प्रियतम के प्रेमरस से परिपूर्ण,श्री चरण कमलों के मकरन्द रस में आज जो निरन्तर आनन्द पूर्वक अबोध शिशु की भाँति पूर्ण मस्ती में किलकारियाँ मार-मारकर डुवकी लगाा रहा है तथा जहाँ तीन लोक की सम्पदा और इन्द्र भवन का राज्यसुख भी आज तुझे तुच्छ जान पड़ रहा है, वहीं साथ ही साथ विशेष सावधानी से प्रतिक्षण अपने मन, बुद्धि, स्वभाव वृत्ति, रहनी, आचरण, आहार एवं व्यवहार को भी देखते चलना कि, कहीं ये श्रीप्राणनाथ के काम आने वाली वस्तुएँ, उनकी प्रदत्त साधना और सेवा करते समय परस्पर में एक दूसरे से रागद्वेष, ईर्ष्या, क्रोध विरोध एवं तेजोमय

द्वेष, छल कपट,तथा अहंकारादिक विकार रूपी कुत्ता, सूअरों का ग्रास तो नहीं बन रहीं हैं? यदि हाँ, तो प्यारे याद रखना! तेरा आत्मकल्याण नहीं हो सकता। तुझे स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिल सकती। क्यौंकि महापुरुष तो कल्पतरु एवं कामधेनु ही होते हैं। इनकी छत्रछाया में रहते समय मन में जिस वस्तु, का निवास या कामना या संकल्प होगा, उसकी ही उत्तरोत्तर बृद्धि होती चली जायेगी। जिसके परिणाम स्वरूप बन्धन ही बढ़ता हुआ दिखाई देगा। जीवनभर मुक्ति नहीं मिल सकती। अब सन्त का सेवक या अनुगामी समझकर संसार तेरी पूजा भलेही करता हो तो करता रहे, परन्तु ये कटु सत्य है कि, तू जब भी अपने आपको गहराई से देखेगा तो अपने आपको एक घोर संसारी जीव से भी कहीं अधिक गिरा हुआ और पतित ही पायेगा। इसलिए सावधान! प्रतिक्षण सावधान! बारबार सावधान! भलेही सेवा और भजन कम बने,तो कोई हानि नहीं, परन्तु अपने जीवन में इन विकारों की छाया का भी स्पर्श नहीं होने पाये। सावधान!

(1564) **अन्तिम समर्पण**

है पूर्ण समर्पित चरणों में जीवनधन वस्तु तुम्हारी ये।
स्वीकार करो हे कृपासिन्धु अति गुह्यतम वस्तु तुम्हारी ये।।
जो लिखा दिया सोई लिख दीया,है साधक जन कल्याणी ये
है राम वाण मुक्ति भक्ति की, अमोघ सदगुरु वाणी ये।।
"नेति–नेति यह अगम पंथ और नेति–नेति यह अगम सन्त"

!! श्री कृष्णाय नमः !!

"आरती श्रीबालकृष्णलाल की"

आरति बाल कृष्ण की कीजै।
अपनौ जनम सफल कर लीजै।।

श्री जसुदा को परम दुलारौ।
बाबा के अँखियन कौ तारौ।।
गोपिन के प्राणन सौं प्यारौ।
इनपै प्राण निछावर कीजै ।। आरती०

बलदाऊ कौ छोटौ भैया।
कनुवाँ कहि कहि बोलत मैया।।
परम मुदित मन लेति बलैंया।
यह छवि नैंनन में भरि लीजै ।। आरती०

श्री राधावर सुघर कन्हैया।
ब्रज जन कौ नवनीत खवैया।।
देखत ही मन नैंन चुरैया।
अपनौं सर्वस इनकूँ दीजै ।। आरती०

तोतरि बोलनि मधुर सुहावै।
सखन मध्य खेलत सुख पावै।।
सोइ सुकृती जो इनकूँ ध्यावै।
अब इनकूँ अपनौं करि लीजै।। आरती०

(रचयिता–परम श्रद्धेय पूज्यपाद श्रीपण्डितजी महाराज)

श्रीगिरिराज धरण की जय।
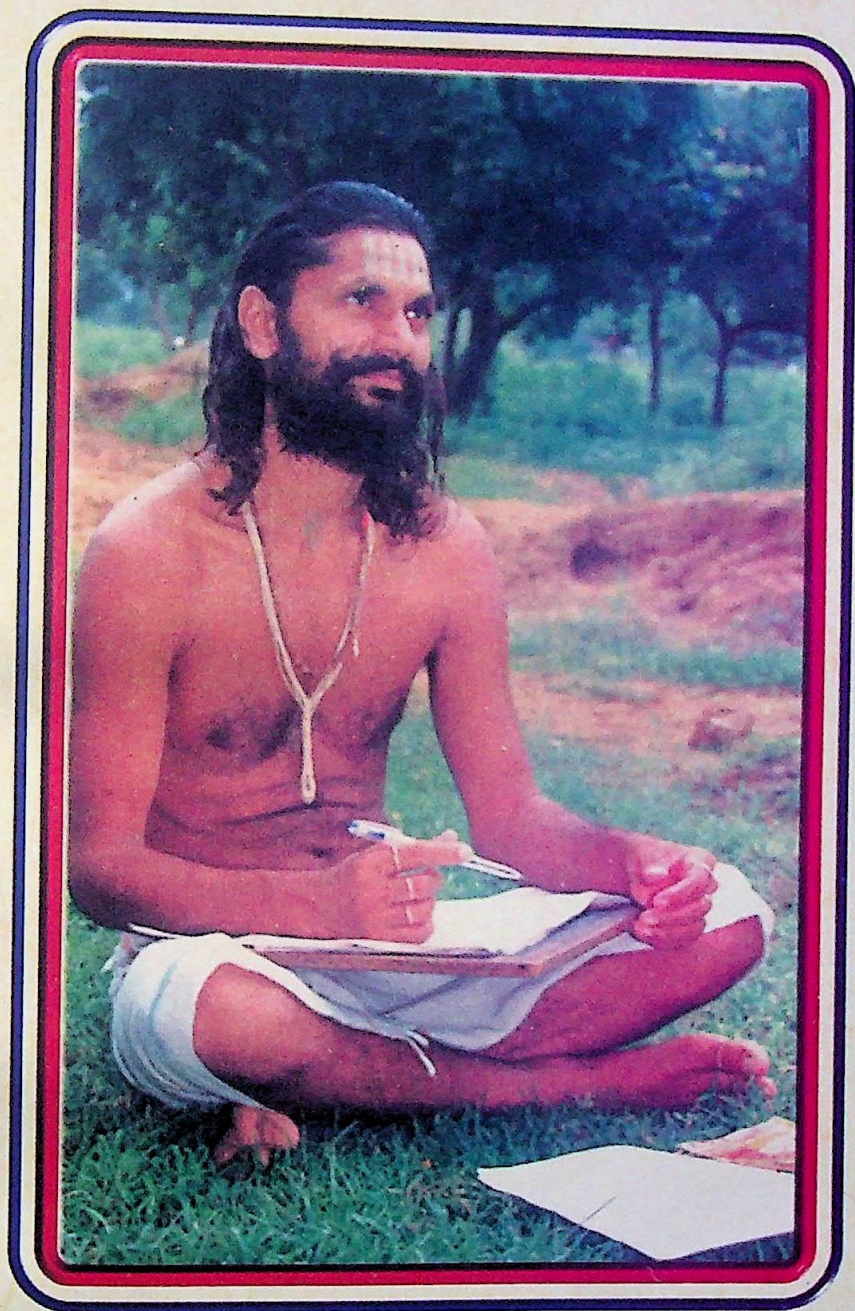
श्री कृष्ण दास जी महाराज ग्रन्थ की रचना में निमग्न

स्मरणीय समर्पित सन्देश

यद्यपि यह संस्मरण ग्रन्थ में देना कोई आवश्यक नहीं था, परन्तु कुछ भाईयों के द्वारा समस्त ब्रजवासी एवं भक्त समाज को भ्रमित करने जैसी बातों का परिमार्जन करने के लिए यह कटु सत्य लिखने को बिबस होना पड़ गया है। समाज में एक इस बात का बड़ा काल्पनिक पहाड़ जैसा खड़ा कर दिया गया है कि, पूज्यपाद श्री पण्डितजी महाराज अपनी समाधि निर्माण और जीवन चरित्र लिखने की मना कर गये थे। जबकि ऐसी कोई बात बनी ही नहीं थी कि, पूज्य चरण श्री ने इन दोनों बातों के विषय में कुछ बोला भी हो। जो आदेश उनके श्रीमुख से तथा उनके तात्कालिक सेवकों के श्री मुखों से मैंने सुना, वही शब्द आप सबका काल्पनिक भ्रम दूर करने की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ, आप ध्यान पूर्वक सुनें जी।

अन्तर्ध्यान होने के लगभग 40 वर्ष पूर्व की बात है। एक दिन आप श्री गिरिराज तरहटी में सौंहनी (बुहारी) सेवा कर रहे थे कि, उसी समय आपके पूर्वाश्रम के लघु भ्राता "पण्डित श्री शिवनन्दन प्रसाद जी मिश्र"जो कि ज्योतिष के एक ऐसे उद्भट विद्वान रहे कि, जीवन में उनकी एक भी भविष्य वाणी असत्य नहीं गई। जिस किसी के विषय में जो कुछ फलादेश कर दिया, वह पूर्णतया ज्यौं की त्यौं ही घटित होता पाया गया, वे ही पूज्य श्री उस समय यहाँ आये थे। बन्धु को आया देखकर आप सौंहनी सेवा विरमित

करके उनके समीप ही उत्तराभिमुख विराज गये। सहसा ज्योतिषी महाराज के श्रीमुख से श्री गिरिराजजी की ही वाणी गूँजी कि, मेरी ज्योतिष गणना के आधार पर पूज्य भैयाजी (पूज्य श्री पण्डितजी) की उम्र 90 वर्ष की है, परन्तु यह सत्यता से भजन में लगे हैं, इसलिए 10 प्रतिशत की बृद्धि हो सकती है। अर्थात् 100 वर्ष से एक आध ऊपर नीचे की आयु होगी। दूसरी बात पूज्य श्री भईयाजी के नाम पर इनके जीतेजी ही एक बहुत बड़ी इमारत बनने का योग है। इस बात को सुनते ही पूज्य चरण श्री एकदम श्री गिरिराजजी की ओर उन्मुख होकर दोनों कर कमल जोड़कर सजल नेत्र बड़ी कातर वाणी से बोले कि, "हे प्राणनाथ! आप सुन ही रहे हो,ये क्या कह रहे हैं? ये बहुत बड़े ज्योतिषी हैं। जीवन में इनकी एक भी भविष्य वाणी असत्य होती नहीं देखी गई है। अतः मेरी आपसे बार बार प्रार्थना है कि, मरे पीछे की तो कौन जाने, परन्तु जीतेजी मेरे नाम पर कोई इमारत न बनने पाये, इस बात से आप मेरी रक्षा करना ? "यह प्रार्थना आप अपने श्री गिरिराजजी से कर ही रहे थे कि, तब तक ही निकटस्थ जन जो उस समय सेवा में रहते थे, समीप आ पहुँचे। उनको देखकर बड़ी दृढ़ता से आदेश दिया कि, तुम लोग तो रहोगे ही, इस बात की पूरी–पूरी सावधानी वर्तना, कि, मेरे नाम पर मेरे जीतेजी कोई इमारत न बनने पाये।

अब हम सन्त विद्वानों के स्तर से बहुत ही नीचे उतरकर एकदम घोर सांसारिक जीवों के स्तर से ही विचार

कर देखें तो इन पूज्य श्री ज्योतिषी जी की एवं अपने परम पूज्य श्रीचरितनायकजी की बातों का ठीक ठीक अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। कोई भी घोर संसारी से संसारी भाई भी अपने बड़े भाई के बिषय में उसके सम्मुख ऐसी अशुभ वाणी नहीं बोल सकता कि, भईयाजी! तुम्हारे नाम पर जीतेजी बहुत ही अच्छी समाधि बनेगी। सम्मुख की तो क्या चले, पींठ पीछे भी कदापि ऐसा अशुभ नहीं बोल सकता। जब घोर मायाबद्ध जीव भी अपने भाई के विषय में ऐसी अमंगल वाणी नहीं बोल सकता है, तो फिर भला ये उद्भट ज्योतिषाचार्य अपने परमोपासक भ्राता के विषय में उनके ही सम्मुख ऐसी निम्न कोटि की बात कैसे कह सकते हैं ? इनकी वाणी का संकेत समाधि जैसे स्मृति चिन्ह की ओर न होकर आजकल सन्तों के नाम पर निर्माण होने वाले आश्रम एवं मठादि की ओर ही था। और अपने पूज्य चरण श्री चरितसम्राट का भी संकेत अपने नाम पर जीते जी बनने वाली इमारत के रूप में आश्रम आदिकों की ओर ही था। वे भली–भाँति यह जानते थे कि, जैसे आज कल अधिकतर आश्रमों में सन्त महापुरुषों के परिकर में सम्पत्ति के नाम पर जो घोर मायिक क्रिया कलाप, रागद्वेष, झगड़े झंझट,मुकद्दमा, विवाद आदिक जैसे घ्रणित कर्म हो रहे हैं, जिस भौतिक वस्तु को साधक संसार में ही छोड़कर सन्तों की शरणागति में आया था, वही माया का प्रपंच कोटि कोटि गुना आश्रमों के नाम पर उसके पल्ले पड़कर यथार्थ परमार्थ

में प्रवेश होने से रोक रहा है। संसारी जीव से भी कोटि कोटि गुना पतन सन्तों के परिकर का देखने में आ रहा है। जिसको शमन करने में एक प्रकार से महापुरुष भी असमर्थ जैसे ही दिखाई पड़ते हैं। वही भूल कहीं हमारे नाम पर न हो जाय? जिसके बहाने से हमारे भी मुमुक्षु साधकों के पतन होने का मार्ग खुले? इस सूक्ष्मतम दिव्यदृष्टि से समीपस्थ सेवकों के भविष्य में होने वाले पतन को रोकने के विचार से ही अपने पूज्य चरण श्री ने श्री गिरिराजजी से यह प्रार्थना की थी कि, हे प्राणनाथ ! मेरी इस बात से रक्षा करना कि, मेरे नाम पर जीतेजी कोई इमारत न बनने पाये। न कि, यह कहा हो कि, मेरी समाधि न बनने पाये। जीतेजी ना तो आज तक किसी की समाधि बनी और ना ही बनेगी ही। यह बात तो घोर मायिक ज़ीव भी अच्छी तरह जानता है। वह भी अपने किसी बुजुर्ग के जीतेजी उसके नाम पर थान या समाधि जैसे स्मृति चिह्न खड़े नहीं करता, तब फिर पूर्ण उपासक प्रबुद्ध लोगों द्वारा ऐसी भूल कैसे हो सकती है ? यह आप ही बिचार करके तो देखो। इतनी सावधानी बर्तने पर भी ज्योतिषी जी की बात सत्य ही हो गई। आयु के विषय में जो भविष्यवाणी रही कि, सौ वर्ष के एकाध ऊपर नीचे रहेगी, वही हुआ। पूज्य श्री की सौ वर्ष साढ़े नौ माह के लगभग जीवनधारा चली। दूसरी बात जीतेजी इमारत बनने की रही सो भी सत्य ही हो गई। जीतेजी ही चन्द सरोवर पर "सूरश्याम गौशाला" के नाम से एक स्वजन के

द्वारा विशाल इमारत का निर्माण हो ही गया। अब इस निमार्ण का बनाने वाले स्वजन ने क्या अर्थ लगाया, ये तो वे ही जाने? परन्तु कटु सत्य यही है कि,ज्योतिष की वाणी अन्यथा नहीं हुई। मैं इस बात को किसी राग द्वेष अथवा निजी स्वार्थ से प्रभावित होकर नहीं कह रहा हूँ तथा ना ही इस इमारत से मेरा कोई सम्बन्ध और प्रयोजन ही है। अपितु ज्योतिष की वाणी जहाँ जहाँ सत्य हुई है, उसी कटु सत्य को प्रमाण सहित आपके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

अब स्मृति के विषय में दूसरी बात आती है जीवन चरित्र एवं साधनानुभूत साहित्य के लेखन एवं प्रकाशन जैसे परम मांगलिक कार्य की। तो मैं स्वयं अपने साथ घटी हुई एक घटना आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ। इसका अर्थ आप स्वयं ही लगा लेना कि, क्या हो सकता है जी। मेरे व्यक्तिगत अर्थ से सम्भव है बहुत से भाईयों का समाधान नहीं हो पाये, इस कारण आप स्वयं ही अर्थ लगा लेंगे तो अच्छा रहेगा। मेरी समझ में जो आया है, वह आपके सम्मुख प्रसाद स्वरूप प्रस्तुत करता हूँ, उसी का यह प्रकाशन प्रमाण है।

घटना है यह कि, अपने पूज्य चरण श्री अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को नित्य ही कापियों में लिख लिखकर रखते जाते थे। साथ ही लिखित सामिग्री को कुछ काल गहराई से चिन्तन मनन कर करके शुभ दिनों में उनके पालन की प्रतिज्ञा करके अपने जीवन में उतार–उतारके

समीपस्थ जनों द्वारा सौंहनी सेवा वाले चबूतरे में गहरा गड्ढा खुदवाकर गढ़वा देते थे। यही क्रम जीवन भर चलता रहा। जब उनके जन्म जन्म के अपने मुझ अबोध को निरन्तर समीप में रहने का पुनीत सुअवसर प्राप्त हुआ तो यही साहित्य विसर्जन सेवा मुझे मिलती रही। कई वर्ष तक तो मैं अबोध उनकी आज्ञानुसार साहित्य को यथावत गड्ढे में गाढ़ता रहा, परन्तु जब मेरे उर प्रेरक शरणागत वत्सल की वात्सल्य पूरित प्रेरणा से एकदिन मेरे हृदय में यह भाव जाग्रत हुआ कि, रे मूर्ख ! ये सब अलभ्य वस्तु तो तेरे बड़े ही काम की है। ये तुझसे कब कहेंगे कि, तू इसे गाढ़े मत, सुरक्षित करके अपने पास रखता चल ? रे गधा! ऐसी बहुत सी आज्ञायें होती हैं, जिनमें स्वामी और सेवक दोनों का ही परमहित छिपा हो और उसे वे नहीं चाहते हों, तो भी वह उनकी अनचाही आज्ञा पालनीय नहीं होती है। यदि सेवक उसे स्वामी की आज्ञा के अनुसार पालन न करके विपरीत ही कर देता है, तो भी वह उनके और जगत के मंगल हित में कदम उठाने के फलस्वरूप प्रसंसा का पात्र ही माना जाता है, न कि अपराधी। और तू अपनी अज्ञता बस इस जीवनमूर जैसी अलभ्य सामिग्री को अपने ही हाथों से बिना कुछ सोचे विचारे ही खोये जा रहा है। भलेही इनकी आज्ञा इसके गाढ़ने की है, परन्तु इस समय तेरा परम कर्त्तव्य और परम धर्म यही बनता है कि, आगामी प्रभु मिलन के लालची साधक जगत को मार्गदर्शन करने के लिए और इनकी

स्मृति को चिरस्मरणीय बनाने के लिए इस साहित्य सुधा सिन्धु को इनकी अवज्ञा करके भी सुरक्षित करले। एक ओर प्रियतम का आदेश और दूसरी ओर अन्तरात्मा से उठने वाली प्रबलतम ये आवाज, इन दोनों श्रद्धा और भाव की खैंचातानी में मेरी उस समय गड्ढे पर बैठे बैठे जो दशा बनी, शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती है। एक ओर श्रद्धा देवी का बार–बार सख्त आदेश कि, गाढ़ो! गाढ़ो! गाढ़ो! और दूसरी ओर अन्तः में विराजे हुए भाव भगवान की मधुर–मधुर कातर पुकार कि, मत गाढ़ो! मत गाढ़ो! मत गाढ़ो! सुरक्षित करो! सुरक्षित करो! सुरक्षित करो। इस अन्तर्द्वन्द की चक्की के पाटों में पिसने लगा मैं। इतने में ही मेरी आँखों के सम्मुख एक बड़ा वीभत्स और करुण दृश्य यह उपस्थित हुआ कि, अनेकों अव्यक्त साधक और सन्त महापुरुष साश्रु लोचन करबद्ध बड़े ही कातर स्वर में पुकार करने लगे कि, हे भईया! श्रद्धादेवी की शिकार होकर तुम हमारी इस प्राणाधार सम्पत्ति को इतनी निर्ममता से विसर्जन करने में क्यौं लगे हो? कुछ हमारी ओर भी तो देख लो। यह अमूल्य धरोहर हम सबकी प्राण संजीवनी है। इस उपस्थित दृश्य को मैं आश्चर्य चकित देख ही रहा था कि, इतने में ही श्री गिरिराज जी की ओर से एक मेघ गम्भीर स्वर गूँज उठा कि, हे भईया! इन सभी सन्तों की बात स्वीकार कर लो। यह सब मेरी ही इच्छा से हो रहा है। अब तुम इस सामिग्री को सुरक्षित करते चलो। यह मेरे बाबा के पीछे तुम्हारे और

संसार के बहुत ही काम आयेगी। साधक जगत को एक प्राण संजीवनी जैसी सिद्ध होगी। ऐसा करने से तुम्हें अवज्ञा दोष नहीं लगेगा, बल्कि परम सेवा करने का फल प्राप्त होगा। यह सब ऊधम मैं अकेला गड्ढे पर बैठा बैठा देख देखकर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया। जैसे तैसे इससे उभरकर, साहित्य को बचाकर टोकरी में उपस्थित माला फूल प्रसादी दोना एवं पत्रादिकों को गाढ़कर मन्दिर में चला आया। कई बार मन में आई कि, यह सब बात अपने शरण्यदेव को सुना दूँ, परन्तु साहस ही नहीं हो पाया और फिर कई वर्ष तक यही क्रम चलता रहा, साहित्य को बचा बचाकर सुरक्षित रखता चला गया।

एक दिन की बात रही मेरे कृपानाथ स्वयं गड्ढे पर जाकर ही बैठ गये और मुझसे बोले कि, टोकरी लाओ। मैं उसमें से पूरे साहित्य को पहले ही अपनी गोपनीय अलमारी में छिपाकर, माला फूल आदि से भरी टोकरी को सिर पर रखकर अपने कृपानाथ के सम्मुख गड्ढे पर उपस्थित हुआ और ऊपर से ही बड़े जोर से, नाटकीय ढंग से, टोकरी को गड्ढे में उड़ेल दिया। मेरे बाल चापल्य को देखकर मेरे कृपालु बड़ी जोर से हँसकर अपनी सांकेतिक मूक भाषा में ही मुझसे बोले कि, वे कापीयाँ कहाँ है, जो हमारी हस्त लिखित है ? उत्तर में हँसकर–मटकते हुए मैंने भी निवेदन कर दिया कि, जी! मैंने उठाकर रख ली हैं। तब आप बोले कि, उनका क्या करोगे ? मैंने रोते रोते विनम्र स्वर में दोनों

हाथ जोड़कर निवेदन किया कि, जी! यह तो आप भली प्रकार से जानते ही हो कि, उनमें से हम कर भी क्या सकते हैं ? परन्तु इतना तो हम जानते हैं कि, कभी समय आने पर उनको देख देखकर जी तो अवश्य ही लिया करेंगे। आहा हा! मेरी इस दशा को देखकर और बात सुनकर एकदम ऐसे सहम गये कि, फिर एक भी शब्द बोले बिना ही वहाँ से उठकर अपनी कुटिया में आकर विराज गये। मैं अपना कार्य सम्पन्न करके दैनिक सेवा में आ लगा। अगले दिन मध्यानोत्तर विश्राम के पीछे एकान्त में अवसर पाकर मैंने अपने साथ तलहटी में घटी हुई घटना श्री चरणों में निवेदन कर दी। सुनते ही मेरे कर्णधार प्रियतम की जो भाव–विह्वल दशा बनी, अकथनीय है। आज भी इस प्रसंग को लिखते समय वही अश्रुपूरित कमल नयन, रोमांचित एवं कम्पायमान श्रीतनु, रंग बदलता हुआ श्री मुखचन्द्र मेरी इन अभागी आँखों के सम्मुख साकार हो गया है। यही विचित्र दशा लगभग पन्द्रह मिनिट तक बनी रही। तत्पश्चात् एक दीर्घ स्वाँस लेकर अश्रु पौंछते हुए बोले कि, बड़ी भूल हुई! अब आगे तुम ध्यान रखना, हम जो कुछ तुम से कहैं, वह सब लिख लिखकर रखते जाना, पीछे तुम्हारे काम आयेंगी। जाओ अब प्यास लगी है, जल ले आओ। आज्ञा पाकर मैं जल लेने चला गया। फिर तो जब भी कभी प्रसंगवस कुछ बोलते तब ही पीछे से यह बात अवश्य कह देते कि, ये सब लिख लिखकर रखते चलना, पीछे तुम्हारे काम

आयेंगी। आज्ञानुसार मैं तिथि तारीख वार समय सहित वह सब आदेश वाक्य लिख लिखकर रखता चला जाता रहा। जो आज आप सबके सम्मुख "साधक प्राण संजीवनी" के रूप में उपस्थित हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम "साधक प्राण संजीवनी" रखा गया है।

यह मेरे और मेरे प्रियतम की एकान्त वार्ता न चाहते हुए भी मुझे बिबस होकर व्यक्त करनी पड़ गई है। इसका क्या अर्थ हो सकता है, अब आप सब स्वयं ही लगा लेना जी ? मेरी समझ में जो आया, वह प्रकाशन जैसे कार्य के रूप में प्रमाणित करके आप सबको प्रसाद स्वरूप समर्पित कर दिया है। मेरी अपनी व्यक्तिगत समझ, मैं किसी के ऊपर लादने के पक्ष में नहीं हूँ। जिसको जो अर्थ अच्छा लगे, लगाकर सुख ले लेना जी। अपने प्रियतम के श्रीचरणों की शपथ खाकर मैं अपने हृदय का सत्य भाव आप सबके सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ। उस समय एकान्त की घटना से लेकर अपने प्राणाधार को सुनाने और उनके द्वारा सुने गये खेदयुक्त शब्दों तक की सारी लीला का अर्थ संवरण काल के डेढ़ वर्ष पीछे तक भी मेरी समझ में यह नहीं आया था कि, मुझे इनके जीवन और साहित्य का प्रकाशन जैसा कार्य भी करना होगा? यह तो तब समझ में आई जब लीला संवरण के उपरान्त यत्र तत्र से प्रकाशित होने वाली कुछ मासिक पत्रिकाओं में वे घटनायें पढ़ने को मिलीं जो पूज्यश्री के ही श्रीमुख से अनेकों बार भली प्रकार से सुनी गई थीं।

जैसी उनके श्रीमुख से सुनी थीं उससे कुछ भिन्न प्रकार से ही मासिक पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलीं। जिसके फलस्वरूप आपके बाबा महाराज के स्वरूप को विगड़ने जैसी बात बनने लगी। इसी कारण मेरे चित्त में अपार कष्ट हुआ। तब व्यथित मन मैं अपने पूज्य श्री के लगभग सभी स्वजनों से मिला और सबसे निवेदन भी किया कि, आप सब लोग मिलकर अपने परम श्रद्धेय श्री के श्री मुख से सुनी हुई सभी घटनाओं को संकलित करके एक ग्रन्थ का स्वरूप प्रदान कर दें तो अति ही उत्तम रहेगा। जिससे उल्टी सीधी बातें छपना बन्द होकर अपने प्रियतम के स्वरूप की सुरक्षा हो सके । मेरी बात सुनकर कुछ ने तो भारी उपेक्षा वर्तते हुए उत्तर में कहा कि, हमारे लिए ऐसा कुछ करने के लिए उनकी आज्ञा ही नहीं है और कुछ ने कठोर विरोध करते हुए कहा कि, पण्डितजी के नाम पर ऐसा कुछ होना ही नहीं चाहिए तथा कुछ ने पूरे हर्ष और उल्लास के साथ मेरी बात स्वीकार के यथा सामर्थ्य मेरा सहयोग भी किया। तब सात जनवरी उन्नीस सौ छियानवे रवि पुष्य योग में मध्यानोत्तर सवा तीन बजे कागज और लेखनी अपने परम श्रद्धेय श्री के श्रीचरणों में साश्रुलोचन समर्पित करके स्वयं का जीवन और साहित्य संकलित कराने की प्रार्थना कर बैठा, जो मेरे हृदयधन ने सहर्ष स्वीकार की और मुझ अपने जन्म जन्म के अबोध गोदखिलोना के द्वारा सुमेरू जैसा भारी कार्य सहज ही में सम्पन्न करा लिया, जो आज आप

सबके सम्मुख ग्रन्थों के रूप में प्रमाणित है।

अब हम शास्त्रीय प्रमाण को आधार मानकर देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि, एक भी महापुरुष अपने स्वजनों से यह कहता हुआ नहीं पाया गया है कि, हमारे पीछे हमारा जीवन चरित्र लेखन अथवा समाधि निर्माण जैसा कोई स्मृति कार्य भी करना। इतना सब कुछ न होते हुए भी अधिकतर महापुरुषों के जीवन चरित्र एवं समाधि जैसे स्मृति चिह्न भी देखने में आ ही रहे हैं। इस विषय में श्रीमन्महाप्रभु बल्लभाचार्य जी महाराज के समस्त भक्तों की श्रद्धा और भावजन्य क्रिया तो मुझे अत्यन्त ही प्रिय लगती हैं। श्रीप्रभुजी के जीवन और साहित्य एवं समाधि जैसे स्मृति चिह्नों के सुरक्षित करने की तो बात ही क्या? वे जहाँ–जहाँ एक क्षण बैठकर अपने प्रभु की याद भी कर गये थे, वे वे स्थान भी अनुगामी भक्तों ने श्री महाप्रभु जी की बैठक के नाम से समस्त ब्रज मण्डल में सुरक्षित कर दिखाये हैं। जिन पर आज एक–एक मुखिया (पुजारी) सेवा में नियुक्त है। कैसी सुन्दर पद्धति है इन श्रद्धालु वैष्णवों की ? क्या यह सब करने के लिए श्रीमन् महाप्रभु जी इनसे कह गये थे कि, मेरी स्मृति में यह सब करना? नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो श्रद्धालुओं की अपनी श्रद्धा एवं कर्त्तव्य पालन का ही एक मात्र परिचय है। दूसरी बात भगवान श्री रामभद्र भी यह कह कर नही गये थे कि, मेरी जन्मभूमि के नाम पर तुम सब लोग मेरे पीछे लड़ाई झगड़ा करना। फिर भी आज श्रीराम

जन्मभूमि एक भयंकर विवाद का विषय बनी हुई है, क्यों ? यह भी इसी बात को प्रमाणित करता है कि, श्रीरामजी के भक्त अपने कर्तव्य पालन की दिशा में पूरी तरह जागरूक हैं। तीसरी बात नन्द नन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र भी यह कहकर नहीं गये थे कि, मेरे पीछे तुम लोग मेरे ब्रज में मेरी समस्त लीला स्थलीयों, कुन्डों का जीर्णोद्धार करना तथा मेरे श्री गिरिराज जी की एवं समस्त चौरासी कोश ब्रज मंडल की परिक्रमा करना। फिर यह सब कार्य उनके पौत्र बज्रनाभ ने परीक्षित के साथ आकर शाण्डिल्य ऋषि से पूछ पूछकर सम्पन्न किये, क्यों ? फिर भी कालान्तर में समस्त लीला स्थलीयों के लुप्त प्रायः हो जाने पर क्रमशः श्रीमन् महाप्रभु चैतन्यदेव एवं श्री मद्‌बल्लभाचार्य जी महाराज ने भी इन स्थलियों का पुनः प्राकट्य किया, क्यों? ये सारी बातें इस बात की प्रमाण हैं कि, कोई भी महापुरुष अपनी स्मृति सुरक्षित करने की न कहकर गये और न जायेंगे ही। यह तो उनके निकटस्थ स्वजनों का ही एकमात्र परम कर्तव्य एवं परम धर्म बनता है कि, वे अपने प्रियतम की स्मृति सुरक्षित करने के लिए कुछ न कुछ उनके विषय में लिखें और समाधि जैसे स्मृति चिह्नों का निर्माण भी करें।

कोई भी व्यक्तित्व संसार में तब तक ही जीवित माना जाता है, जब तक कि, उनका कोई स्मृति चिह्न संसार में सुरक्षित रहता है। क्या ध्रुव, प्रहलाद, अम्बरीष और मीरा जैसे भक्त संसार में और नहीं हुए होंगे ? अवश्य ही हुए

होंगे, परन्तु वे आज जीवित क्यों नहीं हैं ? उनका नाम तक सुनाई क्यों नहीं देता ? इसका भी एकमात्र यही कारण है कि, उनका आज संसार में कोई स्मृति चिह्न सुरक्षित नहीं है। उनकी ऊँची से ऊँची आध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी इसी कारण उनके साथ ही अन्तर्ध्यान हो गयी होंगी। और इसी कारण आज उनका संत जगत में नामोनिशान तक भी सुनने में नही आ रहा है। इन समस्त उदाहरणों से हमको यह प्रेरणा मिलती है कि, हमें भी अपने परम श्रद्धेय श्री की स्मृति में कुछ न कुछ ऐसा कार्य अवश्य ही करना चाहिए, जिससे अपने प्रियतम की स्मृति युगों युगों के लिए सुरक्षित हो जाय और आगामी साधक जगत के लिए मार्ग दर्शन मिलता रहे। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैंने यह प्रयास किया है तथा भविष्य में भी इस दिशा की ओर पूरा प्रयत्नशील रहूँगा भी, भलेही संसार मेरी कितनी ही तीखी आलोचना ही क्यों न करता रहे। जब तक मेरे प्राणाधार श्री की स्मृति पूर्णरूपेण सुरक्षित नहीं हो जाती, तब तक मुझे चैन कहाँ ? इसी प्रयत्न को सफल बनाने के लिए मैं अपने समस्त श्रद्धालु बन्धुओं को आमन्त्रित करता हूँ कि, जिस किसी के पास अपने प्राण प्यारे बाबा महाराज की जीवन और साहित्य सम्बन्धी कोई भी सामिग्री सुरक्षित रखी हो, तो यातो वे उसे मुझे प्रदान करदें अथवा स्वयं ही उसे प्रकाशित कराके अपने प्यारे बाबा की स्मृति सुरक्षित करके अपने बाबा के प्रति अपनी आत्मीयता युक्त श्रद्धा का परिचय दें।

यदि आपके मरणोपरान्त अपकी भावी पीढ़ीयों ने उसकी उपेक्षा करके उसे दीमक और चूहों का भोजन बनाकर सदैव के लिए नष्ट कर दिया तो आपके पल्ले ऐसा भयंकर महदपराध पड़ेगा कि, फिर कई कई कल्पों तक प्रभु आपको सन्तों की सेवा और सान्निध्य ही नहीं देंगे। बिना सन्त सान्निध्य के आपकी क्या गति बनेगी यह आप ही अनुमान लगा लेना।

मेरे प्राणाधार परम श्रद्धेय श्री के श्रीचरणानुरागी बड़भागी, आदरणीय भईयाओं! आप सभी के श्री चरणों में कोटि कोटि प्रणाम एवं वन्दनोपरान्त मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि, आपके प्राणप्यारे बाबा की विशेष अनुकम्पा से ही उनकी इस अमूल्य धरोहर को मैं आप सभी तक पहुँचाने में सफल हो पाया हूँ। इस परम सुखद जीवन और साहित्य में आपको जो त्रुटियाँ मिलें, उनका एकमात्र कारण है यह कि, जिन दिनों अपने परम श्रद्धेय श्री प्रसंगबस अपने पूर्वजों की तथा अपने जन्म से लेकर विरक्त वेष में आने तक की, साधक में प्राण संचार करने वाली अपनी परम सुखद जीवन गाथा हम अपने सब चरणाश्रितों को सुनाया करते थे, उन दिनों मैं अत्यल्प आयु का एक अबोध बालक ही था।

जदपि कही गुरु बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा।।
भाषा बद्ध करवि मैं सोई।
मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।।

यद्यपि अपने प्राणेश के श्री मुख से एक एक घटना कई कई बार सुनने का परम सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था, परन्तु अबोध होने के कारण सुसुप्त बुद्धि उस महतो महीयान् में से जितना अणोअणीयान् ग्रहण कर सकी और उसमें से भी जितना अब तक स्मरण रह पाया तथा उसमें से जितना अधिक से अधिक व्यक्त करने की पिपासा मन में थी, शब्दकोष की कमी होने के कारण उतना व्यक्त नहीं हो पाया है। कारण कि, सन्तों के चरित्र उस अगम अगोचर परमात्मा से भी इतने अनन्त गुने अगम अगोचर अपार एवं अकथनीय होते हैं कि, स्वयं परमात्मा भी इन्हें वर्णन करने में अपने आपको असमर्थ ही बताते हैं।

सुनु मुनि साधुन के गुन जेते।
कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।।

और

जानहिं रामु न सकहिं बखानी।

दूसरे मेरी अत्यल्पज्ञता। तीसरे जहाँ से जितना सहयोग प्राप्त होने की आशा रही, वहाँ से उतना प्राप्त नहीं हो सका। इस कारण त्रुटि रहना स्वाभाविक ही है। इतना होते हुए भी अब जो कुछ आपके सन्मुख प्रस्तुत है, यह सब "केवल और केवल" आपके प्राणप्यारे श्री बाबा महाराज का कृपा प्रसाद मात्र ही है। अब इसके पढ़ने में आपको जो त्रुटि दृष्टिगोचर हों, वह भलेही भाव जन्य हों अथवा भाषाजन्य, उनको भविष्य में परिष्कृत कर सकूँ, इसके लिए

सहयोग की भावना से मुझ अपने अबोध शिशु को अवश्य ही अवगत कराने की कृपा करते रहना जी। यदि भवष्यि में आपका सहयोग प्राप्त होता रहेगा तो अपने प्राणाधार श्री के इस अनुपम जीवन और साहित्य को अनेकों भाषाओं में रूपान्तरित करने का प्रयास भी करता ही रहूँगा। जिससे राष्ट्र के सभी प्रान्तवासियों तक आपके प्राण प्रियतम का सन्देश पहुँच सके और सभी अपना अपना मार्गदर्शन प्राप्त कर सकें।

मैं अत्यन्त आभारी हूँ अपने उन समस्त वन्दनीय भाईयों का जिन्होंने इस साहित्य में यथासामर्थ्य मेरा सहयोग करके इस सुमेरू जैसे भारी कार्य को सम्पन्न कराया है। साथ ही उन सभी सहयोगी बन्धुओं के श्री चरणों में बार बार वन्दन करके धन्यवाद देते हुए सभी के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ कि, आप सभी को आप सभी के प्राणप्यारे बाबा ऐसे ही सुकृतों में ही लगाय रखें, जिनसे संसार के भूले भटके जीवों को प्रभु से मिलने का मार्ग दर्शन मिलता रहे और इसी प्रकार आप सभी के जीवन का एक एक क्षण भी अपने प्रभु की स्मृति में ही बीतता रहे।

अन्त में समस्त व्यक्त अव्यक्त साधक सन्त महापुरुषों को बार बार वन्दन करते हुए सभी के श्री चरणों में विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि, प्रस्तुत साहित्य में अपने प्राणप्यारे बाबा महाराज का दर्शन करते हुए शाब्दिक भाषा शैली की ओर ध्यान न देकर, इसके भीतर से ध्वनित होने वाले भावों

को ही ग्रहण करके अपना मार्ग प्रसस्त करते हुए, अपने जीवन को प्रभु समर्पित करके अपनी जीवन यात्रा पूरी करते रहेंगें और साथ ही मेरे सभी अपराधों को क्षमा करते हुए यह आशीर्वाद भी प्रदान करते रहेंगे कि, मेरे जीवन की एक एक स्वाँस भी मेरे प्रियतम की स्मृति में ही व्यतीत होती रहे और उनकी याद में ही इस जीवन की शाम हो जाये। ऐसी मुझे पूरी आशा है।

विनीत

आपके अपने ही बाबा का एक अबोध बालक

श्रीकृष्ण दास

(किशन भईया)

!! श्री कृष्णाय नमः !!

परम कृपालवे श्री सद्‌गुरु भगवते नमो नमः

जो जगके ताने सह न सके वो प्रेम गली में आये क्यौं ?

वह प्रेम कैसा जो प्रियतम से न मिलादे ?
वह उपासना कैसी जो वासना को न मिटादे ?
वह लगन कैसी जो लक्ष्य तक न पहुँचादे ?
वह मस्ती कैसी जो मस्ताना न बनादे ?
वह चिन्तन कैसा जो चिन्ता न मिटादे ?
वह चिन्ता कैसी जो चिता न जलादे ?
वह ममता कैसी जो विषमता न करा दे ?
वह समता कैसी जो ममता को न मिटा दे ?
वह स्वाद कैसा जो वरवाद न करा दे ?
वह याद कैसी जो आवाद न करा दे ?
वह साधु कैसा जो सहनशील न हो ?

जो बैर बिरोध को भी प्रेम में परिवर्तित कर दे, सोई बैष्णव ।

साधन में युग बीतेंगे फिर भी आभास न होगा ।
पर मेरे व्रत संयम में कृत्रिमता का लेश न होगा ।
इन्द्रिन का संयम होगा मन पर अनुसाशन होगा ।
विघ्नों को सम्मुख पाकर पथ भ्रष्ट हतास न होगा ।

दीवानों का यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते ।
आता है जिनकी समझ तात वे बात न मुख से कह पाते ।

जीवन उसी का नाम है जो देखते ही सामने वाले
के चित्त में वैसा जीवन जीने की इच्छा पैदा करदे ।

नेति नेति यह अगम पंथ और नेति नेति यह अगम सन्त ।

संकलन कर्त्ता :- श्रीकृष्णदास